जवाहरलाल नेहरू संघर्ष के दिन

चुने हुए वक्तव्य

संकलन

अर्जुन देव

अनुवाद

देवेश चन्द्र

नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया

विषय सूची

प्रस्तावना

इस पुस्तक में कुछ चुने हुए विषयों पर जवाहरलाल नेहरू के 1927 से 1947 तक के महत्वपूर्ण वक्तव्य संकलित हैं, जो उन्होंने अपने लेखों और भाषणों के रूप में दिये थे। ये विषय हैं : जवाहरलाल नेहरू की खोज के कुछ पहलू, विश्व की समस्याओं और अपने व्यक्तित्व के बारे में उनके विचार तथा साम्राज्यवाद के खिलाफ हिंदुस्तान के संघर्ष का वह पक्ष जिसको एक खास दिशा देने में उन्होंने प्रमुख भूमिका अदा की।

यह सामग्री अनेक स्रोतों से ली गयी है, जैसे उनकी लिखी अनेकानेक पुस्तकें, उनके लेख और चिट्ठियां, उनके प्रेस वक्तव्य, उनके दिये गये इंटरव्यू, उनके संपादकीय लेख, उनकी जेल की डायरियां और उनके भाषण। इसे मोटे तौर पर छह खंडों में रखा गया है। हर खंड में सामग्री तारीख के अनुसार है। मूल शीर्षकों को आमतौर पर वैसा का वैसा ही रखा गया है। केवल उन उद्धरणों के शीर्षक बदले गये हैं जहां मूल शीर्षक संबंधित खंड की विषय वस्तु से मेल नहीं खाता था। यह सामग्री आमतौर पर मूल पाठ से उद्धृत कर संकलित की गयी है, सिर्फ एकाध जगह मूल पाठ पूरा का पूरा ज्यों का त्यों संकलित किया गया है। आशा है कि जो अंश यहां उद्धृत किये गये हैं, उन्हें पढ़कर पाठकों को मूल पाठों को पढ़ने की प्रेरणा मिलेगी। जिन स्रोतों से यह सामग्री संकलित की गयी है, उनका उल्लेख करने के साथ साथ जहां कहीं आवश्यक समझा गया है, भूमिका के तौर पर संक्षिप्त टिप्पणियां दे दी गयी हैं।

यह पुस्तक 'सेलेक्टेड वर्क्स आफ जवाहरलाल नेहरू' के प्रकाशित हो जाने पर ही संभव हो सकी है। जवाहरलाल नेहरू ने जो कुछ कहा और लिखा, उसमें से जो भी सामग्री महत्वपूर्ण थी उसे 'सेलेक्टेड वर्क्स आफ जवाहरलाल नेहरू' नामक पुस्तकमाला में पहली बार प्रकाशित किया गया है। इस पुस्तक में संकलित प्रत्येक उद्धरण के पहली बार प्रकाशित होने की जो सूचना दी गयी है, वह इसी पुस्तकमाला पर आधारित है।

इस पुस्तक में संकलित सामग्री निम्नलिखित प्रकाशनों से ली गयी है :

ग्लिम्पसेज आफ वर्ल्ड हिस्ट्री, एशिया पब्लिशिंग हाउस, दूसरा भारतीय संस्करण, 1962

एन आटोबायोग्राफी, दि वोडले हेड, लंदन, 1958 (पुनर्मुद्रण)

सेलेक्टेड वर्क्स आफ जवाहरलाल नेहरू, वाल्यूम 2 से 15, ओरिएंट लांगमैन 1972-82

सेलेक्टेड वर्क्स आफ जवाहरलाल नेहरू, सेकेंड सीरीज, वाल्यूम 1, जवाहरलाल नेहरू मेमोरियल फंड, 1984 (1989 पुनर्मुद्रण)

जवाहरलाल नेहरूज़ स्पीचेज 1946-1949, वाल्यूम 1, पब्लिकेशंस डिवीजन, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, सेकेंड एडीसन, 1958 (1963 पुनर्मुद्रण)

संदर्भ देते समय 'सेलेक्टेड वर्क्स आफ जवाहरलाल नेहरू' को संक्षेप में 'सेलेक्टेड वर्क्स' कहा गया है।

अर्जुन देव

भूमिका

यह पुस्तक प्रो. अर्जुन देव ने जवाहरलाल नेहरू की 100वीं वर्षगांठ के अवसर पर एक विद्वान के श्रद्धासुमन के रूप में तैयार की है और इस संकलन के विषय में कुछ शब्द लिखते हुए मुझे बेहद खुशी हो रही है।

जिस पृष्ठभूमि से यह सामग्री ली गयी है उसके बारे में आरंभ में थोड़ा बहुत कह देना शायद ज्यादा ठीक रहेगा। हम जानते हैं कि जवाहरलाल नेहरू राष्ट्रीय आंदोलन में महात्मा गांधी की प्रेरणा से शामिल हुए, जो लगभग ढाई दशक तक उनके पथ प्रदर्शक और गुरु रहे। महात्मा जी में अपने देश के करोड़ों लोगों को राष्ट्रीय आंदोलन में आकृष्ट कर लेने की क्षमता थी। 1920 के आसपास बुद्धिजीवियों पर इस बात का गहरा प्रभाव पड़ा। जो राष्ट्रवादी युवक इस राष्ट्रीय आंदोलन में कूद पड़े थे, उनमें जवाहरलाल नेहरू शायद ऐसे व्यक्ति थे जिन पर उनका सबसे ज्यादा प्रभाव पड़ा था। यह आंदोलन अवधि की दृष्टि से बीसवीं शताब्दी के आजादी के आंदोलनों में सबसे अधिक उल्लेखनीय आंदोलन रहा है।

महात्मा गांधी के प्रभाव में होते हुए भी जवाहरलाल नेहरू ने उदारतावाद और समाजवाद के क्लासिक ग्रंथों का उसी प्रकार गहरा अध्ययन किया, जिस प्रकार उन्होंने हिंदुस्तान के समाज की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का अध्ययन किया था, जिससे वह आजादी के आंदोलन के बारे में हिंदुस्तान को ध्यान में रखते हुए अपने लिए एक नये दृष्टिकोण का निर्माण कर सकें। नेहरू जी का विश्वास था कि इस आंदोलन का सामाजिक और आर्थिक पक्ष उतना ही महत्व रखता है जितना कि राजनैतिक । इसलिए उन्होंने भारत के लोगों को समझाया कि मुल्क पर से औपनिवेशिक हुकूमत को खत्म करने की कोशिश के साथ साथ यहां के समाज में गरीबी और शोषण को खत्म करने पर भी ध्यान दें। जवाहरलाल नेहरू ने 1929 में कहा था, "हिंदुस्तान के मानी हैं यहां के किसान और मजदूर और हम जिस हद तक इनको ऊपर उठाते हैं और इनकी जरूरतों को पूरा करते हैं, उसी हद तक हम अपने मकसद में कामयाब होंगे और हमारे राष्ट्रीय आंदोलन की ताकत तो इस बात में है कि इस आंदोलन में इन लोगों का कितना साथ रहता है—।"

किसानों, मजदूरों और बुद्धिजीवियों में नयी सामाजिक चेतना जागृत करने के लिए जवाहरलाल नेहरू कितने अधिक प्रयत्नशील रहे, इसकी अच्छी खासी झांकी इस पुस्तक में शामिल कुछेक उद्धरणों में मिलती है। समाज में सभी वर्ग के लोगों के साथ समान व्यवहार के बारे में तो नेहरू जी चिंतित रहते ही थे, लेकिन उन्होंने देश की जनता के सम्मुख एकता के वे सूत्र भी प्रस्तुत किये, जो हिंदुस्तान की सभ्यता को सदियों से समाहित किये हुए हैं। ये सूत्र विदेशी हुकूमत और आंतरिक शोषण के खिलाफ जनता की लड़ाई में और भी अधिक सुदृढ़ हो गये।

यह तो सभी लोग मानते हैं कि जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व का राष्ट्रीय आंदोलन किसी भी दृष्टि से अंध देशभक्ति से प्रेरित संकीर्ण आंदोलन नहीं था। हिंदुस्तान में अंतर्राष्ट्रीय चेतना जागृत करने में जवाहरलाल नेहरू ने जितना योगदान किया उतना किसी ने भी नहीं किया। उन्होंने अपने भाषणों और लेखों में हिंदुस्तान की जनता की आजादी की लड़ाई को उस व्यापक लड़ाई का अंग बताया, जो एशिया और अफ्रीका के औपनिवेशिक व अर्द्ध-औपनिवेशिक संगठनों द्वारा यूरोपीय प्रभुत्व के खिलाफ लड़ी जा रही थी। उन्होंने आजादी के इन आंदोलनों और समाजवादी आंदोलन के बीच, जो सोवियत यूनियन में 1917 में विजयी हुआ था, आपसी संबंधों को अत्यंत उपयोगी बताया और उन्होंने इस बात की भरसक कोशिश की कि सामाजिक और आर्थिक संगठन के उच्चादर्शों के आधार पर मानव समाज का पुनर्गठन किया जाये।

समाजवादी आधार पर भारतीय समाज के पुनर्निर्माण के संबंध में जवाहरलाल नेहरू ने जो कुछ कहा, कई अर्थों में वह राजनीति दर्शन के क्षेत्र में उनका सबसे स्थायी योगदान है। उनके ये विचार स्वतंत्रता और भारतीय समाज की परिस्थितियों में ही पुनर्निर्माण के कार्य के प्रति उनके दृष्टिकोण की आधारभूमि हैं। विश्व की समस्याओं के प्रति नेहरू जी के दृष्टिकोण की शक्ति इस बात में निहित है कि उनमें सबको अपने साथ लेकर चलने तथा समाजवाद की सीमा में 'कल्याणकारी समाज' की कल्पना प्रस्तुत करते समय उदारतावाद के शास्त्रीय सीमाओं से आगे बढ़ने की अद्‌भुत क्षमता है। जवाहरलाल नेहरू का यह गुण हमारे इस युग के लिए विशेष रूप से उपयोगी है। उनका यह गुण हमें इस संकलन में उनके अनेक उद्धरणों में दिखाई पड़ता है। जैसे जैसे इतिहास की नयी शताब्दी नजदीक आती जाती है, यह आम धारणा बनती जाती है कि मानवीय समस्याओं के अनेक प्रश्नों के उदारतावादी और अतिउग्रवादी उत्तर पूर्ण रूप से अपर्याप्त हैं। नेहरू जी ने विश्व की समस्याओं को सुलझाने के लिए उदारतावाद को समाजवाद की कसौटी पर परख कर अपना अभिमत प्रस्तुत किया था। उनके विचारों को यांत्रिक रीति के बजाय यदि सृजनात्मक रीति से कार्यान्वित किया जाये, तब हमें उन सभी प्रश्नों का उत्तर मिल जायेगा जिनसे

आज मानवता संत्रस्त है। इस कारण इस संकलन में जवाहरलाल नेहरू के भाषणों और लेखों का जो संग्रह किया गया है, वह भारत तथा विदेशों में पाठकों के लिए विशेष रूप से रुचिकर सिद्ध होगा।

रवीन्द्र कुमार

1

अपने बारे में

हिंदुस्तान के इतिहास पर एक नजर

ये दिन बड़ी हलचल के दिन थे। मैं इन दिनों में हुई घटनाओं के बार में सोचा करता, लेकिन मेरे दिमाग पर हमेशा हिंदुस्तान छाया रहता। मैं हिंदुस्तान को समझने और उसके बारे में अपने विचारों का विश्लेषण करने की कोशिश करता। मुझे अपने बचपन के दिन याद आते और मैं यह याद करता कि उन दिनों मैं क्या सोचता था, इस बारे में मेरे मन में कौन-सी धुंधली तस्वीर थी और ज्यों ज्यों मुझे नये नये अनुभव होते गये, त्यों त्यों इन अनुभवों के आधार पर यह तस्वीर किस तरह बदलती गयी। कभी कभी यह भावना पृष्ठभूमि में चली जाती, लेकिन यह हमेशा रही और धीरे धीरे पुराने किस्से-कहानियों और मौजूदा असलियत—दोनों बातों का मिलकर एक अजीब घोल तैयार हो गया। इससे मुझमें गर्व पैदा हुआ और साथ ही साथ शर्मिंदगी भी, जो इसलिए कि मैं अपने चारों ओर अंधविश्वास, दकियानूसी विचार और इस सबके अलावा लोगों को गुलाम और गरीब पाता।

ज्यों ज्यों मैं बड़ा होता गया और उन कामों में लगा जिनसे हिंदुस्तान की आजादी की उम्मीद की जाती थी, तब मैं हिंदुस्तान के बारे में खो गया। यह हिंदुस्तान क्या है जो मुझ पर छा गया है और मुझे बराबर अपनी ओर खींचता जा रहा है, मुझे कुछ काम करने के लिए उकसा रहा है, जिससे हम कुछ ऐसे लक्ष्य को पूरा कर सकें जो साफ साफ नजर नहीं आता था, लेकिन जिसे हम अपने दिल से पूरा करना चाहते हैं। मैं सोचता हूं कि जो प्रेरणा मुझमें पैदा हुई, वह शुरू शुरू में मेरे अपने निजी और राष्ट्रीय गर्व के कारण हुई और ऐसी ख्वाहिश के कारण, जैसी कि सभी लोगों में होती है कि दूसरों की हुकूमत का सामना किया जाये और ऐसी आजादी को हासिल किया जाये कि हम मनपसंद तरीके से अपनी जिंदगी बसर कर सकें। यह देख कर मुझे बेहद हैरत हुई कि हिंदुस्तान जैसा मुल्क, जिसका इतना समृद्ध और शानदार इतिहास रहा हो, बहुत दूर एक टापू पर बसे देश के द्वारा किस तरह गुलाम बना डाला गया और उस पर किस तरह अपनी मनमानी कर रहा है। मुझे इससे भी ज्यादा हैरत की बात यह लगी कि इस जबरदस्ती का नतीजा यह हुआ कि हम गरीब हो गये और इस तरह टूट गये कि उठने की ताकत भी खो बैठे। यह वजह मेरे और दूसरों को काम में जुट जाने के लिए काफी थी।

दि डिस्कवरी आफ इंडिया, पृष्ठ 50-53 से। यह पुस्तक अहमदनगर किले की जेल में अप्रैल से सितंबर 1944 के दौरान लिखी गयी। यह सर्वप्रथम 1946 में प्रकाशित हुई।

लेकिन जो सवाल मेरे मन में उठ रहे थे, उनको हल करने के लिए यह काफी नहीं था। भौतिक और भौगोलिक रूप के अलावा यह हिंदुस्तान क्या है? यह गुजरे हुए जमाने में किस बात का प्रतीक था? उसे तब किससे ताकत मिली हुई थी? किस तरह वह अपनी ताकत खो बैठा? और क्या उसने यह ताकत पूरी तरह गंवा दी है? बेशुमार लोगों के घरों के अलावा क्या वह किसी ऐसी चीज की नुमाइंदगी करता है, जो आज हमें ताकत दे सकती है? वह किस तरह आज की दुनिया में अपनी ठीक जगह ले सकता है?

ज्यों ज्यों मैंने यह महसूस किया कि मुल्कों से अलग-थलग रहना कितना गैर-मुनासिब और नामुमकिन भी है, त्यों त्यों मेरा ध्यान इस मसले के और भी व्यापक अंतर्राष्ट्रीय पहलू की ओर खिंचता गया। मेरे दिमाग में भविष्य की जो तस्वीर बनी, वह यह कि दुनिया के अन्य मुल्कों और हिंदुस्तान के बीच राजनैतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक दृष्टि से गहरा सहयोग होना चाहिए। लेकिन आगे आने वाले जमाने की बात तो बाद में उठती, पहले तो मौजूदा परिस्थितियां थीं और इनकी पृष्ठिभूमि में उसका लंबा और उलझा हुआ अतीत था, जिससे वर्तमान का जन्म हुआ था। इसलिए मैंने हिंदुस्तान को समझने के लिए उसके इतिहास को समझना शुरू किया।

हिंदुस्तान मेरे खून में समाया हुआ था और उसकी बहुत-सी बातें ऐसी हैं जिनसे स्वाभाविक रूप से मुझमें गर्व पैदा होता था। फिर भी मैंने उसके बारे में विदेशी आलोचक की तरह सोचना-समझना शुरू किया, मुझे उसकी मौजूदा तस्वीर के साथ साथ उसके इतिहास की बची-खुची बातें जो मैंने देखीं, नापसंद थीं। कहा जा सकता है कि मैंने उसे विदेशी दृष्टिकोण से समझना शुरू किया और ऐसे समझना शुरू किया जैसे कोई विदेशी दोस्त उसके बारे में देखता-समझता है। मैं उसके नजरिये और उसकी छवि को बदलने और उसे नवीन स्वरूप देने के लिए उत्सुक और फिक्रमंद था। लेकिन तो भी मेरे मन में एक शंका उठती थी। मैं उसके इतिहास की बहुत-सी विरासत को काटने-छांटने का साहस तो कर रहा हूं, लेकिन क्या मैं हिंदुस्तान को जानता हूं? यह ठीक है कि बहुत कुछ काटने-छांटने के लिए है और उसे छांट भी दिया जाना चाहिए, लेकिन अगर उसके पास कुछ ऐसी चीज नहीं होती जो ताकत देती है और जो अडिग है, कुछ ऐसी चीज जो सचमुच कीमती है तो यह यकीनी बात है कि हिंदुस्तान उस शक्ल में न होता, जैसा कि वह गुजरे जमाने में था और हजारों साल तक वह अपनी संस्कृति को लगातार कायम नहीं रख सकता था।

मैं एक बार उत्तर-पश्चिमी हिंदुस्तान में सिंधु नदी की घाटी में मोहनजोदड़ो के एक टीले पर खड़ा था। मैं अपने चारों ओर इस पुराने शहर के मकानों और गलियों के बारे में सोचने लगा, जिनके बारे में कहा जाता है कि यह यहां पांच हजार साल पहले थे और उस वक्त भी यहां एक ऐसी सभ्यता थी, जो काफी पुरानी और पूरी तरह विकसित थी। प्रोफेसर चाइल्ड लिखते हैं, "सिंधु सभ्यता एक विशेष वातावरण में मानवीय जीवन के पूर्ण

सामंजस्य को व्यक्त करती है। यह ऐसे प्रयत्नों का परिणाम है, जो वर्षों तक बड़े ही धैर्य से किये गये। इसने बड़े उतार-चढ़ाव बरदाश्त किये हैं। यह शुरू से ही हिंदुस्तान की अपनी सभ्यता है और आज के हिंदुस्तान की संस्कृति का आधार है। यह बड़े अचरज की बात है कि कोई संस्कृति या सभ्यता पांच-छह हजार या इससे भी ज्यादा वर्षों तक लगातार बनी रहे और वह भी इस रूप में नहीं कि वह स्थिर रहे और उसमें बदलाव न आये, क्योंकि हिंदुस्तान में बराबर परिवर्तन होते रहे और यह निरंतर प्रगति करता रहा। उसका ईरानियों, मिस्रियों, यूनानियों, चीनियों, अरबों, मध्य एशियावासियों और भूमध्यसागर के लोगों के साथ गहरा संपर्क रहा। लेकिन बावजूद इस बात के कि उसने अपनी छाप इन लोगों पर डाली और वह खुद इन लोगों से मुतास्सिर भी हुआ, उसकी सांस्कृतिक बुनियाद इतनी मजबूत रही कि वह इन सब परिस्थितियों में भी कायम रही। इस ताकत का रहस्य क्या है? यह ताकत कहां से आती है?

मैंने हिंदुस्तान के इतिहास को पढ़ा और उसके विशाल प्राचीन साहित्य के कुछ एक अंशों को भी पढ़ा। मैं उसकी विचारशक्ति, भाषा की स्पष्टता और नये नये विचारों से, जो इसकी पृष्ठभूमि में रहे हैं, बहुत ही प्रभावित हुआ। मैंने चीन, पश्चिमी और मध्य एशिया के उन महान यात्रियों के विवरणों में हिंदुस्तान की सैर की, जो सदियों पहले यहां आये थे और अपनी यात्राओं का विवरण हमारे लिए छोड़ गये। पूर्वी एशिया, अंकोर, बोरोबुदूर और बहुत-सी जगहों में हिंदुस्तान ने जो कुछ कमाल हासिल किया, मैंने उस पर भी गौर किया। मैंने हिमालय की चोटियों की भी सैर की, जिसका हमारे पुराणों और दंतकथाओं से घनिष्ठ संबंध रहा है और जिसका हमारे साहित्य पर गहरा असर रहा है। पर्वतों के प्रति अपने प्रेम और खासतौर से कश्मीर के साथ अपने ताल्लुक की वजह से मैं उनकी ओर खिंचता चला गया और मुझे इनमें महज आज की जिंदगी, शक्ति और सौंदर्य दिखाई नहीं दिये, बल्कि गुजरे हुए जमाने की बहुत-सी सुंदर सुंदर चीजें भी दिखाई दीं। भरी पूरी नदियों ने भी मुझे अपनी ओर खींचा, जो विशाल पर्वतमाला से निकल कर हिंदुस्तान के मैदानों में बहती हैं और इन नदियों को देख कर मुझे अपने मुल्क के इतिहास के अनगिनत पहलुओं की याद हो आयी। सिंधु, जिसके आधार पर हमारे इस देश का नाम हिंदुस्तान पड़ा और जिसे पार कर यहां हजारों बरसों से न जाने कितनी जातियां, जनजातियां, काफिले और विदेशी सेनाएं आयीं; ब्रह्मपुत्र जो हमारे इस देश के इतिहास की मुख्य धारा से अलग-थलग जरा अलग-सी रही है, लेकिन जिसका जिक्र पुरानी कथाओं में बार बार आता है और जो पूर्व और उत्तर के ऊंचे ऊंचे पहाड़ों के बीच अपने लिए रास्ता बनाती हिंदुस्तान में दाखिल होती है और जो शांत भाव से मनोहारी प्रवाह से पहाड़ों और जंगल भरे मैदानों के बीच में बहती है; जमुना जिसके नाम के साथ रास और लीला की अनेक दंतकथाएं जुड़ी हैं, गंगा जो हिंदुस्तान की नदियों की सिरमौर है, जिसने हिंदुस्तान के लोगों का दिल जीत रखा

है और इतिहास के आरंभ से जिसके तट पर करोड़ों लोग आते-जाते रहे हैं। गंगा की कहानी, उद्गम से लेकर सागर में उसके मिलने तक की कहानी, पुराने जमाने से लेकर आज तक की हिंदुस्तान की संस्कृति और सभ्यता की, साम्राज्यों के पनपने और नष्ट होने की, विशाल और शानदार नगरों की, मनुष्य के साहस और साधना की, और उन विचारों के खोज की, जो हिंदुस्तान के विचारकों को हमेशा से अभिभूत किये हुए हैं, जिंदगी की समृद्धि और उपलब्धियों के साथ साथ उसके त्याग और वैराग्य की, अच्छे और बुरे दिनों की, विकास और ह्रास की, जीवन और मृत्यु की कहानी है।

मैं अजंता, एलोरा, एलिफैंटा के साथ साथ बहुत-सी जगहों पर, स्मारकों और खंडहरों में भी घूमा, मैंने वहां पत्थरों को काट काटकर बनायी गयी मूर्तियों और दीवारों पर बनाये गये चित्रों को भी देखा, और आगरा और दिल्ली की, बाद के जमाने की, सुंदर सुंदर इमारतें भी देखीं, जिनमें लगे एक एक पत्थर हिंदुस्तान के गुजरे हुए जमाने की कहानी कहते हैं।

मैं अपने ही शहर, इलाहाबाद में, या हरिद्वार में बड़े बड़े नहान के दिनों में, या कुंभ के मेले में गया और देखा कि वहां लाखों स्त्री-पुरुष आते हैं, ठीक उसी तरह जिस तरह कि हजारों साल से हिंदुस्तान के कोने कोने से उनके पुरखे आते रहे थे। मुझे इन मेलों के बारे में तेरह सौ साल पहले चीनी यात्रियों के अलावा बहुत-से अन्य यात्रियों के लिखे वृत्तांत भी याद हो जाते और सोचता कि ये मेले, जो उस समय भी बड़े प्राचीन माने जाते थे, कब से शुरू हुए होंगे। मैं हैरत में पड़ जाता कि यह विश्वास भी कितना गहरा है, जो हमारे मुल्क में अनगिनत पीढ़ियों को इस प्रसिद्ध नदी की ओर आकर्षित करता रहा है।

अपनी इन यात्राओं और सैर-सपाटों से और इनके साथ उन किताबों से, जिन्हें मैंने पढ़ा, मुझे बीते हुए युग की झांकी मिली। मेरी जानकारी अब तक सिर्फ किताबी थी, लेकिन अब मैंने सब बातों को दिल से देखा-समझा और हिंदुस्तान के बारे में मेरी जानकारी, जो दिमाग में महज एक खाका भर थी, धीरे धीरे असलियत में बदलने लगी और मुझे ऐसा लगने लगा कि मेरे पुरखों की इस जमीन पर ऐसे लोग रहते थे, जो जानदार थे, जो खुशी में हंसते और दुख में रोते थे, जो मुहब्बत करना और तकलीफों को बर्दाश्त करना भी जानते थे और इनमें बहुत-से लोग ऐसे भी थे, जो जिंदगी को सचमुच जानते और समझते थे और उन्होंने अपनी दिमागी ताकत से एक ऐसा ढांचा तैयार किया, जिससे हिंदुस्तान की संस्कृति इतनी पुख्ता हो गयी कि वह हजारों साल से आज भी कायम है। इस गुजरे जमाने की अनगिनत तस्वीरें मेरे दिमाग में खिंच गयी और जब कभी मैं किसी जगह जाता, तब वहां के गुजरे जमाने की ये तस्वीरें मेरी आंखों के आगे आकर खड़ी हो जातीं। जब मैं बनारस के पास सारनाथ गया, तब वहां मुझे ऐसा लगा कि मैं बुद्ध को अपना पहला उपदेश देते हुए देख रहा हूं और उनके वे शब्द जो अभिलेख बन चुके हैं, ढाई हजार साल बाद भी आज दूर से आनेवाली आवाज की तरह सुनाई पड़ रहे हैं। अशोक की पत्थर की लाटों

पर खुदे अभिलेख अपनी शानदार भाषा में बोलते-से सुनाई पड़ते और वे एक ऐसे शख्स की जानकारी देते दिखते, जो अगर्चे एक सम्राट था, लेकिन जो कहीं अधिक महान था। फतेहपुर सीकरी में ऐसा लगता कि अकबर अपनी बादशाहत को भूलकर, सभी धर्मों के आलिमों के बीच में बैठा हुआ धर्म की चर्चा को सुन रहा है और उसके बहस-मुबाहिसों में भाग ले रहा है, वह कुछ नयी बात सीखना और मनुष्य की शाश्वत समस्याओं का समाधान चाहता है।

इस तरह हिंदुस्तान के इतिहास का लंबा-चौड़ा नजारा मेरी आंखों के आगे धीरे धीरे खुलने लगता, और इसमें उसके अच्छे और बुरे दिनों की, उसकी विजय और पराजय दोनों ही की झांकी मिलने लगती। पांच हजार साल के इतिहास, हमलों और उथल-पुथल के बीच भी लगातार कायम रहने वाली संस्कृति की परंपरा में मुझे कुछ अनोखापन जान पड़ा–एक ऐसी परंपरा, जो आम जनता में व्याप्त है और जिसका उन पर बड़ा गहरा असर रहा है। सिर्फ चीन ही ऐसा मुल्क है, जहां ऐसी ही अटूट परंपरा और संस्कृति से भरपूर जिंदगी मिलती है। गुजरे हुए जमाने की यह विशाल तस्वीर धीरे धीरे मौजूदा जमाने की बदनसीबी में बदल गयी। हिंदुस्तान अपने गुजरे हुए जमाने के महान होने के बावजूद गुलाम हो गया और इंग्लिस्तान का एक पुछल्ला बन गया, सारी दुनिया में भयंकर और सबको विध्वंस करने वाले युद्ध के बादल छा गये और इंसानियत हैवानियत में तब्दील हो गयी, लेकिन पांच हजार साल के इस दृश्य ने मुझमें एक नया नजरिया पैदा कर दिया और आज के जमाने का बोझ कुछ हल्का जान पड़ने लगा।

अंग्रेजी हुकूमत के एक सौ अस्सी साल हिंदुस्तान की लंबी कहानी में महज एक दुखपूर्ण अंतर्कथा-सी लगे। इस अध्याय के आखिरी पन्नों का लिखा जाना शुरू हो गया है। उसे अपना पुराना गौरव पुनः प्राप्त होगा, यह दुनिया भी इस आतंक से मुक्त होगी और एक नयी नींव पर फिर से अपना निर्माण करेगी।

हिंदुस्तान की खोज

हालांकि किताबों, पुराने स्मारकों और गुजरे हुए जमाने के सांस्कृतिक इतिहास से मुझे हिंदुस्तान के बारे में कुछ जानकारी हासिल करने में मदद मिली, लेकिन उनसे मेरी तसल्ली नहीं हुई और मैं जिस जवाब की खोज कर रहा था, वह मुझे नहीं मिल सका। चूंकि इन सबका ताल्लुक गुजरे हुए जमाने से था, इसलिए इससे ज्यादा और हासिल भी क्या हो सकता था। मैं यह जानना चाहता था कि क्या गुजरे हुए जमाने और आज के जमाने के बीच में सचमुच कोई संबंध है भी या नहीं। मेरे लिए और मेरे जैसे बहुतों के लिए आज का जमाना मध्यकालीन संस्कृति, हद दर्जे की गरीबी, दुखों और कुछ हद तक मध्यवर्ग की सतही आधुनिकता की एक अजीब खिचड़ी जैसा था। मैं अपने जैसे वर्ग या किस्म के लोगों का प्रशंसक नहीं था, लेकिन तब भी मैं हिंदुस्तान की मुक्ति की लड़ाई की अगुआई करने की उम्मीद इसी वर्ग से करता था। यही मध्य वर्ग अपने को पिछड़े में कैद और घिरा हुआ समझता था और खुद-ब-खुद बढ़ना और विकास करना चाहता था। चूंकि अंग्रेजी सल्तनत के ढांचे में रहते हुए ऐसा करना मुमकिन नहीं था, इसलिए उसमें इस सल्तनत के खिलाफ बगावत करने का जज्बा पैदा हो गया, लेकिन यह जज्बा उस ढांचे के खिलाफ नहीं था जिसने हमें पीस रखा था। दरअसल यह वर्ग इस ढांचे को बरकरार रखना और अंग्रेजों को हटाकर उनकी बागडोर अपने हाथ में लेना चाहता था। यह वर्ग खुद इसी ढांचे की पैदावार था, इसलिए यह मुमकिन भी नहीं था कि वह इस ढांचे को चुनौती दे सके या उसे उखाड़ फेंकने की कोशिश भी कर सके।

नयी ताकतें उभरीं और इन्होंने हमें गांवों की जनता की ओर मुखातिब किया और पहली बार हमारे नौजवान पढ़े-लिखे लोगों के सामने एक नये और जुदा किस्म के हिंदुस्तान की तस्वीर आयी, जिसके अस्तित्व को वह करीब करीब भुला चुके थे या जिसे वह ज्यादा अहमियत नहीं देते थे। यह हमें हिला देने वाली तस्वीर थी, वह महज इस ख्याल से नहीं कि उसमें हिंदुस्तान की हद दर्जे की गरीबी और हिंदुस्तान के बड़े बड़े मसले दिखाई देते थे, बल्कि इस तस्वीर ने हमारे कुछ मूल्यों और उन नतीजों को तहस-नहस करना शुरू कर दिया था, जिन पर हम अब तक पहुंचे थे। इस तरह असली हिंदुस्तान की खोज शुरू हुई, इससे हमें जहां एक ओर ढेर सारी जानकारी मिली, वहां दूसरी ओर इसने हमारे दिलों

दि डिस्कवरी आफ इंडिया, पृ. 58-61 से

में कशमकश पैदा कर दी। हमारी जुदा जुदा प्रतिक्रियाएं थीं, जो हमारे पुराने वातावरण और अनुभवों के कारण आयीं। कुछ लोग तो गांवों में रहने वाली इस जनता से पहले से काफी परिचित थे, इसलिए उन्हें इसमें कोई नयी बात नहीं दिखाई दी, उन्होंने इसे ठीक वैसा ही देखा, जैसा कि वह इसे पहले से जानते थे। लेकिन मेरे लिए यह खोज की असली समुद्र-यात्रा थी। और जब मैं अपने लोगों में हमेशा कमियों और कमजोरियों को देखता और दुखी होता, तब मुझे हिंदुस्तान के गांवों की जनता से कुछ ऐसा मिला, जिसे मैं लफ्जों में तो नहीं बता सकता लेकिन जिसने मुझे अपनी ओर खींच लिया। यही वह बात थी, जिसका मैंने अपने मध्य वर्ग के लोगों में बिल्कुल अभाव पाया।

मैं आम जनता की कल्पना को किसी आदर्श के रूप में नहीं रख रहा हूं और जहां तक हो सके मैं उसे किसी सैद्धांतिक अमूर्त के रूप में सोचने से भी हिचकता हूं। हिंदुस्तान की जनता में विविधता है और इसमें असंख्य लोग हैं। इसके बावजूद यह मेरे लिए बड़ा वास्तविक है। मैं उसे अलग अलग व्यक्ति के रूप में देखने-समझने की कोशिश करता हूं, गोलमोल वर्गों में बांट कर नहीं। चूंकि मुझे उनसे कोई खास उम्मीद नहीं थी, इसीलिए हो सकता है कि मैं मायूस नहीं हुआ, लेकिन जितनी मुझे आशा थी, उससे ज्यादा मैंने पाया। मुझे ऐसा लगा कि इसकी और उसमें जो कुछ मजबूती और अंदरूनी ताकत है, उसकी वजह उनकी अपनी पुरानी सांस्कृतिक परंपरा है, जिसे वे थोड़ा-बहुत अभी भी अपनाये हुए हैं। इसमें से बहुत कुछ तो उन धक्कों में खत्म हो चुका है, जो उन्हें पिछले 200 वर्षों में मिले। तब भी बहुत कुछ बाकी है जो काम लायक है और इसके साथ ही काफी कुछ ऐसा भी है, जो बेकार और खराब है।

सन् 1920 के बाद के कुछ सालों तक मेरा काम ज्यादातर अपने ही सूबे तक महदूद रहा और मैं आगरा व अवध के संयुक्त प्रांत के 48 जिलों में काफी दूर दूर तक और अंदरूनी हिस्सों में भी घूमा। यह बहुत जमाने से हिंदुस्तान का दिल, पुरानी और मध्ययुगीन दोनों ही संस्कृतियों का आधार, मरकज और अनेक जातियों और संस्कृतियों के आपस में समाहित होने का स्थल समझा जाता रहा है और यह वह क्षेत्र है, जहां 1857 का आंदोलन आग की तरह भड़का था और जो बाद में बेरहमी से कुचल डाला गया था। धीरे धीरे मैंने उत्तर और पश्चिम जिलों के जाटों को, ठेठ गांव के लोगों को जाना-समझा, जो बहादुर और देखने में आजाद तबियत के लगते हैं और जो औरों के मुकाबले ज्यादा खुशहाल होते हैं; राजपूत किसानों और छोटे-मोटे जमींदारों को भी जाना-समझा, जिन्हें अभी भी अपनी कौम और पुरखों का गर्व है, चाहे इसमें से किसी ने अपना मजहब बदल लिया हो और इस्लाम को अपना लिया हो; गुनी और कुशल कारीगरों और कुटीर धंधों में लगे लोगों को भी जाना, जिनमें हिंदू और मुसलमान दोनों ही थे; गरीब किसानों और काश्तकारों को देखा, जो खासकर अवध और पूर्वी जिलों में बड़ी तादाद में हैं, जिन पर बाप-दादों के जमाने से जुल्म हो रहा

है और जो अभी भी गरीब हैं, जो यह उम्मीद करने की हिम्मत भी नहीं कर सकते हैं कि उनके दिन फिरेंगे, लेकिन जो आशा लगाये बैठे हैं और जिन्हें इसका पूरा भरोसा भी है।

सन् 1930 के सालों में, जब भी मैं जेल के बाहर रहा और खास तौर से 1936-37 के चुनाव के दिनों में, मैं सारे हिंदुस्तान में, शहरों और गांवों में दूर दूर घूमा। बंगाल के गांवों को छोड़कर, जहां बदकिस्मती से मुझे जाने का बहुत कम मौका मिला, मैंने हर एक सूबे का दौरा किया और गांवों में भीतर तक गया। मैं राजनैतिक और आर्थिक मामलों पर बोलता था और अगर मेरी तकरीरों को देखा जाये तो उनमें राजनीति और चुनाव की बातें ज्यादा होती थीं। लेकिन इसके बावजूद मेरे दिमाग के एक कोने में कुछ गंभीर और ज्यादा अहम सवाल थे और इनका चुनाव और रोजाना की गहमागहमी से कोई ताल्लुक नहीं था। मेरे मन में एक दूसरे इससे ज्यादा गहरे और स्पष्ट सवाल थे और मैं फिर खोज पर निकल पड़ा था, हिंदुस्तान की धरती और हिंदुस्तान में रहने वाले असंख्य लोग मेरे सामने चलते-फिरते नजर आते थे। हिंदुस्तान, जिसमें आकर्षण की असीम ताकत है और इतनी ज्यादा विविधता है, मेरे मन पर और भी ज्यादा हावी होता गया और यह लगाव बढ़ता ही गया। जितना ही ज्यादा मैं उसे देखता-समझता, उतना ही ज्यादा मुझे इस बात का अहसास होता कि मेरे लिए या मेरे जैसे किसी भी व्यक्ति के लिए उन बातों को समझना कितना मुश्किल है, जिनका यह प्रतीक है। मैं उसके विस्तार या उसकी विविधता से नहीं घबड़ा रहा था, बल्कि उसकी आत्मा की गहराई ऐसी थी जिसकी थाह मुझे नहीं मिल रही थी, लेकिन कभी कभी उसकी झलक मुझे मिल जाती थी। यह किसी पुराने ऐसे भोजपत्र जैसा था, जिस पर असंख्य विचार और नयी नयी उद्भावनाएं लिखी हुई हों और बाद में जिस पर किसी और ने भी अपने विचार और उद्भावनाओं को लिखते समय पहले के लेख को न मिटाया हो। हालांकि हमें इन सबका प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता है तो भी ये हमारे चेतन और अचेतन दिमाग में मौजूद हैं और इन सभी ने मिलकर हिंदुस्तान के पेचीदा और रहस्यात्मक स्वरूप का निर्माण किया है। यह स्फिंक्स जैसा चेहरा सारे हिंदुस्तान में दिखाई देता है, जिस पर कभी रहस्यमयी मुसकान दिखाई पड़ती है और कभी ऐसा लगता है कि यह मानों हमारी हंसी उड़ा रही है। हालांकि जाहिरा तौर पर हमें अपनी जनता में भिन्नता और असीम विविधता दिखाई देती है तो भी कोई भारी समानता भी है, जिसने सदियों से हमें आपस में बांध रखा है, चाहे जैसी भी राजनैतिक स्थिति रही हो और मुसीबतें आयीं हों। हिंदुस्तान की एकता मेरे लिए अब ख्याली पुलाव जैसी नहीं रह गयी थी, यह आत्मा का अनुभव तत्व थी और इतनी मजबूत थी कि कोई भी राजनैतिक विभाजन, बड़ी से बड़ी कोई भी मुसीबत या उथल-पुथल इसका कुछ भी नहीं बिगाड़ सकी।

हिंदुस्तान या किसी भी मुल्क को आदमकद शक्ल देकर उसके बारे में सोचना एक भद्दी बात थी। मैंने ऐसा नहीं किया। मैं यह भी अच्छी तरह जानता था कि हिंदुस्तान में

कई किस्म के लोग रहते हैं, वे अनेक वर्गों में बंटे हुए हैं, उनमें कितनी ही जातियां, उपजातियां और धर्म हैं और उनके सांस्कृतिक विकास का धरातल भी अलग अलग है। फिर भी मैं सोचता हूं कि इस तरह के मुल्क में, जिसकी इतनी विराट सांस्कृतिक पृष्ठभूमि हो और जहां रहने वाले लोगों का अपनी जिंदगी के बारे में एक जैसा नजरिया हो, वहां एक ऐसी भावना पैदा हो जाती है, जो उसकी अपनी पहचान होती है और यह उसके सभी बच्चों पर, जो चाहे जितने भी अलग अलग क्यों न लगते हों, अपनी छाप लगा देती है। चीन में जब हम वहां किसी पुराने आदर्शों वाले आदमी से या किसी कम्युनिस्ट से मिलते हैं, जिसने अपनी पुरानी परंपराओं से रिश्ता बिल्कुल तोड़ रखा है, तब क्या वहां के लोगों की अपनी पहचान हमसे छिप सकती है? मैं हिंदुस्तान की ऐसी ही तस्वीर की खोज में था, जिसके पीछे कोरा कुतूहल नहीं था, मगर मुझमें इसके बारे में जानने की सचमुच एक प्यास थी। कुछ कुतूहल इसलिए था कि मैं सोचता था कि इससे शायद अपने मुल्क और यहां रहने वाले लोगों को समझने की कोई कुंजी मेरे हाथ लग जायेगी और मुझे सोचने तथा कुछ काम करने के लिए कोई सूत्र मिल जायेगा। राजनीति और चुनाव तो रोजमर्रा की बातें होती हैं, जब हम छोटी-मोटी बातों पर बांहें चढ़ा लेते हैं। लेकिन अगर हम हिंदुस्तान के भविष्य के लिए कोई इमारत तामीर करना चाहते हैं, जो मजबूत और खूबसूरत भी हो, तो हमें उसे खड़ी करने के लिए गहरी नींव खोदनी पड़ेगी।

हिंदुस्तान की एक नयी तस्वीर

मसूरी से जलावतन होने का हुक्म होने पर मैंने तकरीबन दो हफ्ते इलाहाबाद में बिताये और यही वह दौर था, जिसमें मैं किसान आंदोलन से जुड़ गया। यह साथ बाद में और भी ज्यादा जुड़ता गया और इसने मेरे सोचने के तरीके पर बहुत असर डाला। मैं कभी कभी यह सोचता हूं कि अगर मुझे निकाला नहीं जाता और इलाहाबाद में नहीं रहता और मुझे और कहीं जाना नहीं होता, तब क्या होता। बहुत मुमकिन था कि मैं किसी न किसी तरह किसानों की ओर तुरत या बाद में आता, तब मेरा स्वयं उनके बीच जाने का तरीका कुछ जुदा होता और उसका असर भी मुझ पर कुछ दूसरा ही होता।

सन् 1920 में जून के शुरू के दिनों में (जहां तक मुझे याद है) कोई दो सौ किसान प्रतापगढ़ जिले के गांवों से पचास मील पैदल चलकर इलाहाबाद इस मकसद से आये कि वह वहां के खास-खास सियासी आदमियों को अपनी मुसीबतजदां हालत की ओर मुखातिब कर सकें। इन किसानों का नेता रामचन्द्र नाम का एक व्यक्ति था, जो खुद वहां का किसान नहीं था। मुझे पता चला कि ये किसान नदी के किनारे जमुना नदी के एक घाट पर धरना डाले हुए हैं। मैं कुछ दोस्तों के साथ उन्हें देखने वहां गया। इन किसानों ने मुझे बताया कि वहां के तालुकदार उनसे जबरन लगान वसूल कर रहे हैं, उनके साथ गैर इंसानियत का बर्ताव करते हैं। उनकी हालत बर्दाश्त के बिल्कुल बाहर हो गयी है। उन्होंने हमसे अपने साथ चलकर जांच करने और तालुकदारों से हिफाजत करने की मिन्नत की, जो उनसे इस मिशन को लेकर इलाहाबाद आने को लेकर बेहद नाराज हैं। वे 'हां' के अलावा और कुछ सुनने को तैयार नहीं थे और उन्होंने हमारे पैर पकड़ लिये। आखिर में मैंने उनसे दो-एक दिन में आने का वायदा किया।

मैं अपने कुछ साथियों के साथ वहां गया और हम लोगों ने इन गांवों में तीन दिन बिताये। ये गांव रेलवे लाइन से दूर थे और यहां तक आने जाने के लिए कोई पक्की सड़क भी नहीं थी। इस दौरे ने मेरी आंखें खोल दीं। हमने देखा कि सारे गांवों में जोश है और एक अजीब-सी सरगर्मी है। कहने भर की देर लगती और थोड़ी ही देर में भारी भीड़ जमा हो जाती। एक गांव दूसरे गांव को खबर भेज देता, इसी तरह दूसरा गांव तीसरे गांव को

एन आटोबायोग्राफी, पृष्ठ 51-52 से। यह पुस्तक जून, 1934 से फरवरी, 1935 के दौरान जेल में लिखी गयी थी। उन्हें मई, 1920 में मसूरी से एक अफगान प्रतिनिधि मंडल के साथ, जो उन्हीं दिनों वहां ठहरा हुआ था, ताल्लुकात न रखने की हामीदारी न देने की वजह से निष्कासित किया गया था।

खबर भेज देता और इस तरह सारे गांव के लोग बाहर आ जाते और खेतों को पार करते वे मीटिंग वाली जगह पर पहुंच जाते। कभी कभी लोग जोरों से सीता-राम सीता-रा-ऽऽम पुकारने लगते और यह आवाज चारों ओर गूंजने लगती, हवा की तरह एक गांव से दूसरे गांव तक फैल जाती और झुंड के झुंड लोग, जितना हो सकता था उतनी तेजी से, भागते हुए इकट्ठा हो जाते। इनमें आदमी और औरतें, सभी तो थे। ये चिथड़े पहने हुए थे, लेकिन उनके चेहरों पर ताव था, आंखों में चमक थी। ऐसा लगता था कि ये किसी बहुत बड़ी वारदात की उम्मीद में थे, जो किसी दैवी चमत्कार की तरह इनके सदियों से चले आ रहे दुखों को खत्म कर देगी।

इन्होंने हमें बेहद इज्जत और प्यार दिया और इन्होंने हमारी ओर उम्मीद भरी आंखों से देखा, जैसे कि हम इनके लिए खुशियां ले कर आये हैं या हम उनके रहनुमा हैं, जो उन्हें ऐसी दुनिया में ले जायेंगे, जहां उनकी मौजूदा मुसीबतें नहीं होंगी। मैंने जब उनकी तकलीफों और जो भरपूर प्यार वे मुझे दे रहे थे, उसे देखा तो मेरा सिर शर्म और अफसोस से झुक गया। मुझे अपनी आराम और सुखी जिंदगी और शहर की टुच्ची राजनीति पर शर्म आयी कि वहां हिंदुस्तान के असंख्य लड़के-लड़कियों के बारे में कभी सोचा नहीं गया और हिंदुस्तान की गिरती हुई हालत और चारों ओर फैली गरीबी देख अफसोस हुआ। हिंदुस्तान की एक नयी तस्वीर मेरे सामने उभरने लगी, जहां लोगों के पास तन ढकने को कपड़ा नहीं, जहां लोग भूखे रहते हैं, जहां लोगों को पीस रखा गया है और जहां लोग बेहद गरीब हैं। ये लोग हम लोगों पर, जो कभी कभी यहां आते हैं, जैसा विश्वास करते हैं उसने मेरे दिल को झकझोर दिया और मुझमें एक नयी जिम्मेदारी जगी जिससे मैं शंकित हो उठा।

मैं इन लोगों से इनकी मुसीबतों, कभी अदा न होने वाले लगान, गैर कानूनी वसूली, बेदखली और झोपड़ी से निकाल बाहर करने, मारपीट और उन्हें चारों ओर घेरे रखने वाले गिद्धों—जमींदार के एजेंटों की, कर्ज देने वालों, पुलिस के अत्याचार की बेशुमार वारदातों के बारे में सुना। मुझे बताया गया कि हम लोग दिन-रात मेहनत करते हैं और बाद में हमें यह पता लगता है कि जो कुछ हमने पैदा किया वह हमारा नहीं है, हमें अपनी मेहनत के बदले लात, गाली-गलौज मिलता है, लेकिन हमारे पेट के लिए दाना नहीं मिलता। मैंने जिन लोगों को वहां देखा, इनमें से बहुत-से भूमिहीन लोग थे, जिन्हें जमींदारों ने बेदखल कर दिया था और जिनके पास सहारे के लिए न तो जमीन थी और न कोई झोपड़ी। यहां की जमीन उपजाऊ थी, लेकिन इससे कमाने वाले ज्यादा थे, छोटे छोटे खेत थे और इन खेतों की कमाई से जिंदगी बसर करने वालों की तादाद ज्यादा थी। जमीन के लिए आपाधापी का फायदा उठा कर जमींदार मनमाने तरीके से लगान बढ़ा देते और गैर कानूनी नजराना वसूल करते थे। चूंकि काश्तकार के पास कोई दूसरा चारा नहीं था, इसलिए वह कर्ज देने वाले से कर्ज लेता, उस पर ब्याज देता और अगर वह यह कर्ज या लगान नहीं दे पाता तो उसे बेदखल कर दिया जाता और इस तरह वह अपना सब कुछ गंवा बैठता था।

नेहरू जी से उनके अपने बारे में पूछे गये सवालों के जवाब

मैंने यहां कुछ सवालों का जवाब देने की कोशिश की है, जो मुझसे पूछे गये थे।

1. मैं कौन-सी किताबें पढ़ता हूं? पिछले दो सालों में मुझे किताबें पढ़ने के लिए बहुत ही थोड़ा वक्त मिला। लेकिन मुझे नयी और पुरानी काफी किताबें मिलीं और मैं कभी कभी इन्हें उलट-पलट लेता था। मुझे आज की अपनी जिंदगी से जो शिकायतें हैं, उनमें से एक यह है कि जितना मैं पढ़ना चाहता हूं, उतना मुझे पढ़ने का मौका नहीं मिलता है। मैं किस तरह की किताबें पढ़ना चाहता हूं, इस बारे में मेरा कोई खास नजरिया नहीं रहा। स्वाभाविक रूप में मैं सियासी और ऐसी किताबें पढ़ना चाहता हूं, जो आज के मसलों के बारे में हों। मुझे शुरू में जो शिक्षा मिली, उसकी वजह से मुझे साइंस से लगाव है और मैं साइंस में जो तरक्की हो रही है, उसकी थोड़ी-बहुत जानकारी रखने की कोशिश करता हूं। इतिहास की किताबों में मेरी दिलचस्पी रही है और इसी तरह यात्रा की किताबों में, खास तौर से यात्रा की पुरानी किताबों या सुनसान जगहों, जैसे रेगिस्तान, ध्रुवीय क्षेत्रों में भी मेरी दिलचस्पी रही है। मैं उपन्यास या कहानी कम पढ़ता हूं, सिवा उनके जो बहुत ही मशहूर लेखकों की होती हैं। कविता से मुझे हमेशा लगाव रहा है और मैं इसे कभी कभी थकान मिटाने के लिए पढ़ता हूं। मुझे आजकल के कुछ कवियों की कविताएं अच्छी नहीं लगतीं।

इंग्लैंड और अमेरिका की जिन पत्र-पत्रिकाओं को बराबर बहुत सालों तक चंदा भेज कर पढ़ा, वे हैं :

दि न्यू स्टेट्समैन
दि मैनचेस्टर गार्जियन वीकली
टाइम एंड टाइड
दि न्यूयार्क नेशन

जॉन गुंथर नामक एक अमेरिकी लेखक व पत्रकार को 16 मार्च, 1938 को लिखे एक पत्र से। *सेलेक्टेड वर्क्स,* वाल्यूम 8 पृष्ठ 869-71 से संकलित। इस पत्र में जवाहरलाल नेहरू ने अपने बारे में सात बार जेल जाने का उल्लेख किया है। इसके बाद वह और दो बार जेल गये, पहले 31 अक्तूबर, 1940 से 3 दिसंबर, 1941 तक और फिर 9 अगस्त, 1942 से 14 जून, 1945 तक

दि न्यू रिपब्लिक

दि लिविंग एज

बहुत-सी पत्र-पत्रिकाएं भी मिलती रही हैं। मुझे 'दि टाइम्स लिटरेरी सप्लीमेंट' और कभी कभी 'लिटरेरी डाइजेस्ट' वगैरह मिल जाया करते थे, लेकिन चूंकि मेरे पास वक्त की कमी थी, इसलिए मैं उनको नहीं पढ़ पाता था। मैं लंदन की 'लेबर मंथली' नामक पत्रिका और कुछ अन्य वामपंथी पत्रिकाएं पढ़ना चाहूंगा, लेकिन उन्हें हिंदुस्तान में आने की इजाजत नहीं है। मुझे लंदन का 'ट्रिब्यून' मिलता है। पेरिस की 'बेद्रेदी' और 'ला यूरोप' पत्रिका मिलती हैं।

हमारे दफ्तर में कई विदेशी पत्र-पत्रिकाएं आती हैं, जिन्हें मैं अक्सर पढ़ लिया करता हूं।

2. मुझे पढ़ने और कभी कुछ लिखने के अलावा सालों तक कोई और काम करने के लिए वक्त नहीं मिला। जब मैं छोटा था, तब मैं डाक टिकटें इकट्ठी किया करता था। मुझे बर्फ के खेल पसंद हैं, लेकिन हिंदुस्तान में इसके लिए कोई मौका नहीं मिला। मुझे घुड़सवारी का शौक था और मुझे तैरने में मजा आता था।

3. मेरा ख्याल है कि मेरे पिता और गांधी जी, इन दो शख्सियतों ने खास तौर से मेरी जिंदगी पर असर डाला है। लेकिन बाहरी असर मुझे अपनी तरफ दूर तक नहीं खींच सका। असर की खिलाफत करने का एक माद्दा है। लेकिन तब भी इन लोगों के असर ने धीरे धीरे और छिपकर अपना काम किया। मेरी पत्नी ने मुझ पर कई तरीके से असर डाला, लेकिन वह कभी मेरे आड़े नहीं आयी।

कार्ल मार्क्स और लेनिन को पढ़ने से मुझ पर जबरदस्त असर हुआ। यह असर कुछ हद तक उन चीजों का था, जो मैंने पढ़ीं। लेकिन इससे ज्यादा उस तरीके का था, जिस तरीके से चीजों को बताया गया था। मैं जिंदगी की समस्याओं के बारे में रहस्यात्मक और ख्याली रवैये से ऊब चुका था और अगर बात को साफ साफ, वैज्ञानिक तरीके से, विश्लेषण करते हुए और सादे ढंग से कहा जाता और ऐसा ही रवैया भी होता, तब मुझ पर बहुत ज्यादा असर पड़ता था। इससे मेरी कई शंकाएं दूर होने लगतीं और पुराने इतिहास तथा मौजूदा हालात को समझने में मुझे देर नहीं लगती।

कुछ साल पहले मैं इसी तरह बर्ट्रेंड रसेल की किताबें पढ़ कर मुतासिर हुआ था। मुझे आज भी ये बहुत अच्छी लगती हैं, लेकिन मुझे ऐसा लगता है कि ये असरदार नहीं रही हैं। मुझे नेबुर की किताबें भी बेहद पसंद आयीं।

जब मैंने स्पेंगलर की किताबें पढ़ीं तो मुझे वे पसंद नहीं आये। लेकिन तब भी उन्होंने इंसानी तौर-तरीकों का जिस खूबी से सर्वे किया है, वह मुझे कुछ कुछ पसंद आया।

4. मैं अपने जिगरी दोस्तों के नाम नहीं बता सकूंगा। मेरे दोस्त ढेर सारे हैं। इनमें

इंग्लैंड, फ्रांस और अमेरिका के लोग भी हैं। लेकिन जब असली दोस्तों की बात आती है, तब इनकी तादाद बहुत कम हो जाती है।

5. मैं सचमुच नहीं जानता कि मैं क्या हूं। यकीनन मैं एक समाजवादी हूं क्योंकि मैं समाजवादी सिद्धांत और चीजों को समझने के उसके रवैये पर यकीन करता हूं। मैं कोई कम्युनिस्ट नहीं हूं। इसकी खास वजह यह है कि साम्यवाद को एक परम पवित्र सिद्धांत मानने का जो साम्यवादी रवैया है, उसके खिलाफ हूं और मुझे यह पसंद नहीं है कि कोई मुझे यह बताये कि मुझे क्या सोचना और करना चाहिए। मैं सोचता हूं कि मैं बहुत कुछ व्यक्तिवादी हूं। मोटे तौर पर मेरा रवैया मार्क्सवादी रहा है, लेकिन टेक्निकल मायनों में नहीं। मिसाल के लिए सरप्लस वैलूज के बारे में उनकी जो थ्योरी है, उसके बारे में मेरा दिमाग झन्ना उठता है। मैं कोई बड़ा अर्थशास्त्री नहीं हूं कि साम्यवादी आर्थिक सिद्धांत के बारीक पहलुओं के बारे में कोई सटीक राय दे सकूं। मैं यह भी सोचता हूं कि साम्यवादी तरीके में बहुत कुछ खून खराबी की बातें हैं और इस वजह से इसके अच्छे नतीजे नहीं होते हैं, जैसा कि रूस में पिछले कुछ सालों में हुआ है। नतीजों को साधनों से अलग नहीं किया जा सकता है। मैं हालांकि यह अनुभव करता हूं कि कम्युनिज्म के बाहर भी ज्यादा नहीं तो थोड़ा-बहुत खून खराबा है और हमारा सामाजिक ढांचा इसी पर टिका हुआ है। मैं यह कहने के लिए तैयार नहीं हूं कि खून खराबे को बिल्कुल हटा देना चाहिए, लेकिन मैं चाहता हूं कि जितना हो सके कम कर देना चाहिए। यदि कोई तरीका अपनाने से इसमें बढ़ोतरी होती हो तो उससे एक गलत रवैये को बढ़ावा मिलता है।

6. मेरी सेहत हमेशा अच्छी रही है और यह आज भी अच्छी है। जेल में मुझे दो बार कुछ हल्की प्लूरिसी हो गयी थी। इससे मैं कुछ महीनों तक खिन्न और परेशान रहा। लेकिन मैं ठीक हो गया। मैं सोचता हूं कि इसका थोड़ा-बहुत असर अभी भी है, लेकिन मोटे तौर पर जो मेरी अच्छी सेहत है, उससे यह दबी रहती है।

7. मैं सात बार जेल गया। यह सजा कुल मिलाकर साढ़े दस साल की रही और सबसे लंबी सजा ढाई साल और कुछ जुर्माने की थी। बाकी सजाएं छह महीने से लेकर दो साल तक की थीं। असल में जेल में मैंने साढ़े पांच साल काटे। अगर इसमें वह मियाद जोड़ दी जाय, जो जेल में अच्छा बर्ताव के लिए छूट के तौर पर होती है तो कुल मिलाकर सात साल होते हैं। जेल में एक बार ज्यादा से ज्यादा कोई दो साल रहा। ढाई साल की एक सजा (अंग्रेजी हुकूमत में हिंदुस्तान की एक रियासत नामा में) शुरू में ही मुल्तवी कर दी गयी। मेरा ख्याल है कि यह अभी भी मुल्तवी है।

8. मैं सबसे ज्यादा क्या पसंद करता हूं? यह बताना मुश्किल है। मुझे पहाड़, ग्लेशियर और पहाड़ी झरने बहुत पसंद हैं। हां, सलाद पसंद है, बातचीत करना, जानवर और फूल भी पसंद हैं और तैरना तथा घुड़सवारी भी पसंद है। शायद जब किसी आदमी को कोई

चीज नहीं मिलती, तब वह उसे पसंद करने लगता है। एक बार मुझे जेल में बेहद खुशी हुई। यह गर्मी के दिन थे, टेंपरेचर करीब 116^0 फारेनहाइट रहा होगा। मैंने काफी अर्से से ठंडा पानी नहीं पिया था। मेरी पत्नी ने मुझे थर्मस भेजा, जिसमें शरबत और बर्फ थी। उस दिन उसे पी कर मुझे बड़ा मजा आया।

मैं नहीं सोचता कि लड़ाई-झगड़ा मुझे पसंद रहा है। लेकिन जब काफी विरोध हो रहा हो, तब मुस्तैदी के साथ काम करने से मेरे दिल को राहत मिलती है। तब मुझे अच्छा भी लगता है।

9. मुझे सबसे ज्यादा क्या नापसंद है? नापसंदगी के मामले में, मैं ऐसा नहीं हूं कि सिर्फ अपनी पसंद को ही देखता हूं। कभी-कभी थोड़ी देर के लिए मुश्किल होती है, लेकिन जल्दी ही सब कुछ ठीक हो जाता है। मुझे चमगादड़ और गोजर-कनखजूरा वगैरह अच्छे नहीं लगते। जब कभी किसी इंसान या जानवर को सताया जाता देखता हूं, तब मुझे गुस्सा आ जाता है। मैं सोचता हूं कि इस तरह मैं नरम दिल हूं। लेकिन सबसे ज्यादा मुझे वह आदमी नापसंद लगता है, जो भगवान, सत्य या जनता के नाम पर अपना मतलब पूरा करता है। मैं समझता हूं कि सियासी आदमियों पर यह बात बिल्कुल ठीक बैठती है।

कोई छह महीने हुए मैंने एक लेख अपने बारे में लिखा था। यह कलकत्ता के 'दि माडर्न रिव्यू' के नवंबर अंक में छपा था। इस लेख का शीर्षक था 'दि राष्ट्रपति' और यह गुमनाम था। 'राष्ट्रपति' के मायने किसी राज्य का अध्यक्ष होता है। लेकिन यह शीर्षक कांग्रेस के अध्यक्ष के लिए इस्तेमाल किया गया था। उस समय यह चर्चा थी कि मैं अगले साल के लिए भी अध्यक्ष चुन लिया जाऊंगा। मैं इसके खिलाफ था और मैंने यह तय कर लिया था कि मैं इसके लिए खड़ा नहीं होऊंगा। एक दिन मुझे यकायक यह ख्याल आया कि क्यों न कोई चालाकी चली जाय। यह बात मुझे जंच गयी और मैंने एक लेख अपने बारे में लिख डाला और उसे किसी बहाने 'दि माडर्न रिव्यू' के एडीटर के पास भेज दिया, जो यह पता नहीं लगा सके कि इसका लिखने वाला कौन है।

इस लेख में मैंने अपने गुणों को बखूबी तौला-परखा और उनकी भरपूर तारीफ की। लेकिन इसके आगे मैंने लिखा कि अगर ये गुण किसी दूसरे रास्ते मुड़ जायें, तब आफत आ सकती है। मैंने इसमें इस ओर इशारा किया कि मैं डेमोक्रेसी और सोशलिज्म की बातें तो करता हूं, लेकिन मैं वह आदमी हूं जो खुद सीजर बनना चाहता है। मैं फासिस्ट नहीं था, यह बात तो तय बतायी गयी, लेकिन मुझमें ऐसे गुण हैं जो संकट या बदलाव के वक्त में मुझे तानाशाह बना सकते हैं। हमें इससे हमेशा चौकस रहना है और इसलिए आखिर में यह तर्क दिया गया कि मेरे घमंड को ज्यादा बढ़ावा नहीं दिया जाना चाहिए, जो पहले से ही बहुत ज्यादा है और मुझे कभी भी चौथी बार कांग्रेस का अध्यक्ष नहीं चुना जाना चाहिए।

मैंने यह लेख इसलिए लिखा था कि मैं इस बारे में दूसरे लोगों की ठीक ठीक राय जान सकूं और मेरा मनोविनोद भी हो जाय। इस लेख को लिखने में कोई दुर्भावना नहीं थी। मैंने लोगों की प्रतिक्रियाओं को पढ़ा और उनका मजा लिया। लेकिन इसके तुरंत बाद ही मैं इसे छिपा नहीं सका और मैंने इस बारे में अपने कुछ दोस्तों को बता दिया।

अमेरिका के 'हूज हू' के लिए

उनके कार्ड इंडेक्स के अनुसार जवाब

हर अक्षर का उच्चारण लिखे के मुताबिक अलग अलग किया जाता है। दीर्घ स्वरों पर निशान लगा दिये गये हैं। नेहरू, जवाहर लाल (जवाहर और लाल असल में दो शब्द हैं, लेकिन इनको अक्सर एक में मिलाकर पढ़ा जाता है)।

इंग्लैंड में स्कूल और कालेज की शिक्षा के बाद, हिंदुस्तान में छह साल वकालत की। श्रीमती एनी बेसेंट के हिंदुस्तान के लिए होम रूल आंदोलन से संबद्ध। इसके बाद जब गांधी जी ने 1920 में असहयोग आंदोलन शुरू किया, तब इसे छोड़ दिया और सार्वजनिक कार्यों, खास तौर से इंडियन नेशनल कांग्रेस और हिंदुस्तान की आजादी के आंदोलन के लिए पूरा वक्त दिया। राजनैतिक कार्यों के लिए बार बार जेल गया। 1921 से 1935 के बीच सात बार। यह सजा छह महीने से लेकर दो साल की थी। सन् 1923 से 1925 तक नेशनल कांग्रेस का जनरल सेक्रेटरी, इंडियन ट्रेड यूनियन कांग्रेस, 1929 का अध्यक्ष। कांग्रेस की सर्वोच्च समिति—वर्किंग कमेटी—का सत्रह बरस से मेंबर हूं। लोकतंत्रात्मक राज्य के रूप में हिंदुस्तान की आजादी की मांग का खास पैरोकार समझा गया और अंतर्राष्ट्रीय समस्याओं पर हिंदुस्तान के प्रसंग में जोर दिया। समाजवादी विचारधारा। इस बात में विश्वास कि आखिर में विश्व आजाद मुल्कों का संघ बनेगा। चीन और हिंदुस्तान के बीच अधिक घनिष्ठ राजनैतिक और सांस्कृतिक संबंधों को और इन दोनों मुल्कों के बीच पुराने संबंधों को फिर से स्थापित करने पर खास जोर देना। जापान, इटली और जर्मनी के हमलों और आमतौर से फासिज्म और नाजीवाद की खिलाफत करने में अगुआई की। गृह युद्ध के दौरान स्पेन गणराज्य को अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर मदद भेजने में सहयोग किया। और चीन के लिए हिंदुस्तान के डाक्टरों के एक दल की व्यवस्था की।

जून, 1938 में बार्सीलोना गया और वहां हवाई हमले होते देखे। सूडेटेन संकट के दौरान 1938 की गर्मियों में चेकास्लोवाकिया गया। मिस्र में वफ्द पार्टी से और अंतर्राष्ट्रीय शांति आंदोलन, फासिस्ट विरोधी एसोसिएशन जैसी अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं से संबंध रहा। अगस्त-सितंबर 1939 में चुगकिंग (चीन) गया।

हिंदुस्तान की सामंती रियासतों में सुधार आंदोलन से घनिष्ठ रूप से संबंध रहा, 1939 से इंडियन स्टेट्स पीपुल्स कांफ्रेंस का अध्यक्ष।

31 अक्तूबर, 1930 को कैद किया गया और कुछ राजनैतिक भाषणों के लिए चार साल के कठोर कारावास का दंड मिला। इस वक्त यही सजा काट रहा हूं। मैं आठवीं बार जेल में आया हूं--।

किताबें :
सोवियत रूस—1928
पिता के पत्र पुत्री के नाम—1929
विश्व इतिहास की झलक—1933
मेरी कहानी—1936 अमेरिकी संस्करण—आजादी की ओर—1941
हिंदुस्तान और यह विश्व—1936
हिंदुस्तान में अठारह महीने—1938
चीन, स्पेन और यह विश्व—1940
हिंदुस्तान की एकता—1941
और अनेक लेख आदि

उपलब्धि : मैंने अब तक इस पागल दुनिया में अपने होश हवास को दुरुस्त रखा है। '
विवाह की तारीख : 6-2-1916
फुटकर : राजनीति पसंद नहीं थी, लेकिन हालात ने मुझे इस ओर धकेल दिया।

हिंदुस्तान में अंग्रेजी सरकार द्वारा दिया सरकारी सम्मान और खिताब : जो राष्ट्रभक्त होते हैं, वे इन्हें स्वीकार नहीं करते।

जवाहरलाल नेहरू

जीवन दर्शन

मेरा जीवन दर्शन क्या है? यह मैं नहीं जानता था। कुछ साल पहले मुझे कोई ऐसी दुविधा नहीं थी। उन दिनों मेरे विचार और मेरे मकसद निश्चित थे। यह बात अब मिट गयी है। हिंदुस्तान, चीन, यूरोप और दुनिया में जगह जगह पर जो घटनाएं हो रही हैं, उन्होंने हमें उलझन में डाल दिया है, सब कुछ उलट-पुलट दिया है और हमें परेशान कर रखा है, भविष्य और धुंधला हो गया है, अंधेरा छा रहा है और मेरे दिमाग में जो साफ तस्वीर थी वह दूर हो गयी है।

बुनियादी बातों के बारे में यह शकोशुबह और मुश्किल उन कामों में आड़े नहीं आयी, जो तुरंत किये जाने के सिवाय इसके कि जिस तेजी से मैं इन कामों को करता, उसकी रफ्तार कुछ धीमी पड़ गयी। मैं अपनी जवानी के दिनों में तीर की तरह खुद-ब-खुद अपने मकसद तक पहुंच जाता था और उस मकसद के अलावा सब कुछ नजर अंदाज कर देता था, वैसा अब नहीं कर पाता था। फिर भी मैं काम में लगा रहा क्योंकि इन दिनों मुझमें काम को करने की लगन थी और उसके लिए मेरे आदर्शों और काम के बीच असली या ख्यालों में तालमेल भी था। लेकिन राजनीति का जैसा रूप मैंने देखा, उससे मेरा मन भर गया और इस बारे में धीरे धीरे अरुचि होती गयी और ऐसा लगा कि जिंदगी के बारे में मेरा सारा दृष्टिकोण बदल गया है।

जो आदर्श और मकसद कल थे, वे आज के भी आदर्श थे, लेकिन उनका गौरव खत्म हो चुका था और ज्यों ज्यों कोई उनकी ओर जाता, उनका वह तेज गायब हो जाता जिससे हमारे दिलों में गर्मी पैदा होती और जो हमारे जिस्म को ताकत देता था। बुराई की अक्सर जीत होती, लेकिन इससे ज्यादा अफसोस की बात तो यह थी कि जो बातें पहले बिल्कुल ठीक जान पड़ती थीं, उन्हें घटिया बता दिया जाता और उनका गलत ढंग से बयान किया जाता था। क्या इंसान का स्वभाव इतना बुरा है कि उसे बरसों तक लाजमी तौर पर कष्टों और दुर्गति के जरिये संवारा जाय, जिससे कि वह ठीक तरीके से व्यवहार करना सीख सके और लालच करना, मारकाट करना और धोखा देना बंद कर सके, जैसा कि वह करता है और तब तक क्या अभी या निकट भविष्य में उसे बुनियादी तौर पर बदलने की हर कोशिश आखिर में बेकार जायेगी ?

दि डिस्कवरी आफ इंडिया, पृष्ठ 25-34 से

नतीजा और नतीजा हासिल करने के साधन : क्या ये दोनों आपस में उस तरह गुंथे हुए हैं कि अलग नहीं हो सकते और क्या एक की दूसरे पर क्रिया-प्रतिक्रिया होती है, गलत साधन, मकसद को विकृत और कभी कभी उसे खत्म ही कर देते हैं? लेकिन सही साधन कमजोर और स्वार्थी इंसान के बलबूते के बाहर की चीज हो सकते हैं।

ऐसी हालत में कोई क्या करे? काम करने से मुंह मोड़ना तो हार मान लेना और बुराई के सामने घुटने टेक देना होगा; काम करने का मतलब बहुत बार बुराई के साथ किसी न किसी शक्ल में समझौता करना होता है और इससे वे सब नतीजे होते हैं, जो इन समझौतों से हो सकते हैं।

जिंदगी की समस्याओं के बारे में शुरू शुरू में मेरा दृष्टिकोण बहुत कुछ वैज्ञानिक था, उसमें 19वीं और शुरू की 20वीं सदी का कुछ सहज-सा आशावाद था। निश्चिंत और आराम की जिंदगी ने और जो ताकत और आत्मविश्वास मुझमें उस समय था, उसने इस आशावाद की भावना को और भी बढ़ा दिया था। मुझे कुछ कुछ मानवतावाद अच्छा लगा।

धर्म—मैंने उसका जिस तरह आचरण होते देखा और उसे जिस रूप में बड़े-बड़े विचारकों ने मान रखा है, चाहे वह हिंदू धर्म हो, इस्लाम हो, या बौद्ध या ईसाई धर्म, मुझे आकर्षित नहीं कर सका। ऐसा लगा कि इसका अंधविश्वास और हठधर्मिता से गहरा ताल्लुक है और जिंदगी के मसलों पर गौर करने का उनका तरीका यकीनी तौर पर कोई वैज्ञानिक तरीका नहीं था। उसमें कुछ अंश जादू-टोने का था और बिना जांच-पड़ताल किये यकीन कर लेने और दैवी चमत्कार पर भरोसा करने की प्रवृत्ति थी।

लेकिन एक बात स्पष्ट थी कि धर्म ने मनुष्य की प्रकृति की ऐसी मांग को पूरा किया, जिसकी कमी वह गंभीरता से महसूस करता था और दुनिया भर में अधिकांश लोग किसी न किसी रूप में धार्मिक विश्वास के बिना नहीं रह सकते हैं। इसने अनेक उत्कृष्ट कोटि के पुरुष और स्त्रियां उत्पन्न कीं और उन लोगों को भी पैदा किया, जो तंगदिल और कठोर अत्याचारी थे। इसने मनुष्य की जिंदगी को कुछ मूल्य दिये हैं। हालांकि इनमें से कुछ मूल्य आज के जमाने में लागू नहीं हैं या नुकसानदेह भी हैं, लेकिन कुछ ऐसे भी हैं जो नैतिकता और सदाचार के लिए बुनियादी हैं।

विज्ञान हमें हमारे जीवन के उद्देश्य के बारे में ज्यादा नहीं बताता और सच पूछिए तो उसके बारे में कुछ भी नहीं बताता। अब यह अपनी सीमाओं को फैला रहा है और हो सकता है कि इसका हमला हमारी उस दुनिया पर हो, जिसे अदृश्य कहा जाता है और जिंदगी के मकसद को इसके बड़े से बड़े अर्थ में समझने में हमारी मदद करे या कम से कम कुछ ऐसी रोशनी दे, जिससे मनुष्य के अस्तित्व की समस्याएं हल हो सकें। विज्ञान और धर्म के बीच का पुराना विवाद एक नया स्वरूप ले रहा है—यानी वह विज्ञान के तरीके को भावनात्मक और धार्मिक अनुभवों पर लागू करता है।

धर्म का विलय रहस्यवाद और अधिभौतिकवाद और दर्शन में हो जाता है। बड़े बड़े रहस्यवादी संत हुए, जो काफी प्रसिद्ध भी हैं। हम यह कहकर इन संतों को नहीं टाल सकते कि ये लोग नासमझ और अपने को धोखे में रखते थे। तो भी रहस्यवाद से (संकीर्ण अर्थों में) मुझे चिढ़ आती है; यह मुझे अस्पष्ट, कमजोर और ढीला-ढाला लगता है, इसमें मन पर कठोर संयम न रखकर लगता है कि मानसिक शक्तियों का समर्पण किया जाता है और लगता है कि जैसे कोई भावों के समुंदर में गोते लगा रहा है। यह अनुभव कभी कभी ऐसी प्रक्रियाओं के बारे में कुछ ज्ञान दे सकता है, जो भीतर होती हैं और कम स्पष्ट हैं, लेकिन यह हमको भुलावे में भी डाल सकता है।

हम सभी का अपनी जिंदगी के बारे में कुछ न कुछ दर्शन होता है, जिसे हम बिना कुछ सोचे-विचारे एक आम दृष्टिकोण की तरह अपना लेते हैं और यह दृष्टिकोण हमारी पीढ़ी और वातावरण की खासियत होती है। हममें से बहुत से लोग कुछ ऐसी आध्यात्मिक अवधारणाओं को भी स्वीकार कर लेते हैं, जो हमारे उस विश्वास का अंग होती हैं जिसमें हमारा विकास हुआ होता है। मुझे अध्यात्मवाद में कोई दिलचस्पी नहीं रही। असली बात तो यह है कि अस्पष्ट कल्पनाओं से मुझे एक तरह से अरुचि रही है। तो भी मेरे मन में कुछ आकर्षण जरूर था कि मैं पुराने या नये दार्शनिकों की आध्यात्मिक और दार्शनिक रूढ़ियों को समझूं, लेकिन बाद में इनमें मेरा मन नहीं लगा और जब मैं उनके जादू से बच गया तब मुझे राहत मिली।

असल में, मेरी दिलचस्पी इस दुनिया में और यहां की जिंदगी में है, किसी और दुनिया या भविष्य की जिंदगी में नहीं है। मुझे नहीं मालूम कि आत्मा जैसी चीज होती है या मृत्यु के बाद भी जीवन रहता है या नहीं। अगर्चे ये सवाल महत्वपूर्ण हैं, फिर भी ये सवाल मुझे तनिक भी नहीं सताते । जिस वातावरण में मैं पला हूं, वहां आत्मा और भविष्य की जिंदगी, कारण और कार्य के कर्म सिद्धांत और पुनर्जन्म को सर्वसम्मत माना जाता रहा है। मैं इससे प्रभावित हुआ हूं और इसलिए एक तरह से मेरा इनकी तरफ झुकाव रहा है...

लेकिन मैं इन बातों या अन्य सिद्धांतों और कल्पनाओं पर धार्मिक आस्था की तरह विश्वास नहीं करता। यह एक अज्ञात क्षेत्र के बारे में दिमागी अटकलें भर हैं, जिसके बारे में हम कुछ भी नहीं जानते हैं। ये मेरी जिंदगी पर असर नहीं डालतीं, जो चाहे बाद में सच्ची या गलत साबित ही क्यों न की जायें। यह मेरे लिए एक जैसी हैं।

अध्यात्मवाद और उसका प्रदर्शन, जैसे आत्माओं का बुलाना वगैरह हमेशा मुझे भद्दी बातें लगीं। मुझे यह मानसिक तत्व और जिंदगी के बाद के रहस्यों को खोजने का एक असभ्य तरीका लगा। आमतौर पर यह बात बुरी है और कुछ ऐसे सीधे-सादे लोगों की भावुकता से फायदा उठाना है, जो दिमाग पर जोर नहीं डालना चाहते हैं या उससे बचते हैं। मुमकिन है कि इन मानसिक तत्वों में से कुछ में सच्चाई हो। मैं इससे इंकार नहीं करता,

लेकिन यह तरीका मुझे बिल्कुल गलत लगता है और इधर-उधर की बातों को सबूत के तौर पर जोड़कर जो भी नतीजा निकाला जाता है, वह वाजिब भी नहीं लगता।

जब कभी मैं दुनिया के बारे में सोचता हूं, तब तब मुझे यह रहस्ययुक्त लगती है। ऐसा लगता है कि इसकी कोई थाह नहीं है। मुझमें यह प्रेरणा होती है कि मैं जितना हो सके इसे उतना जानूं, उसके अनुसार रहूं और इसकी पूर्णता का अनुभव करूं। लेकिन मुझे ऐसा लगता है कि इसे जानने का तरीका सिर्फ विज्ञान का तरीका हो सकता है, यानी वस्तुगत दृष्टिकोण का तरीका। तो भी मैं सोचता हूं कि सच्ची वस्तुनिष्ठता जैसी कोई चीज नहीं होती है। लेकिन अगर व्यक्तिनिष्ठ तत्व को अलग नहीं रखा जा सकता और यह जरूरी ही है, तब जहां तक संभव हो वैज्ञानिक तरीका अपनाकर उसे नियंत्रण में रखना चाहिए।

रहस्यमय क्या है, यह मुझे नहीं मालूम। मैं उसे ईश्वर का नाम नहीं देता, मैं उसमें विश्वास नहीं करता। मुझसे मानवाकृति के रूप में किसी भी देवी-देवता या अज्ञात शक्ति की कल्पना नहीं होती। मुझे यह देखकर हमेशा हैरानी होती है कि अनेक लोग इस बारे में ऐसी ही कल्पना करते हैं। यह सोचना मेरे लिए अटपटा लगता है कि हर व्यक्ति का ईश्वर अलग अलग होता है, बौद्धिक दृष्टि से मैं कुछ सीमा तक एकेश्वरवाद को अच्छा समझता हूं, हालांकि मैं यह दावा नहीं करता कि मैं वेदांत के अद्वैत दर्शन को गहराई और बारीकी से जानता हूं। मैं सोचता हूं कि इन मामलों में महज किताबी समझ से काम नहीं चलता। वेदांत और इस जैसे अनेक दर्शन, अनन्य शक्ति के बारे में अस्पष्ट और अमूर्त वर्णनों से मुझे भयभीत कर देते हैं। प्रकृति की विभिन्नता और संपूर्णता मुझमें स्फूर्ति पैदा करती है और मुझे आत्मिक शांति मिलती है, मैं पुराने भारतीय या यूनानी मूर्ति पूजा और सर्वेश्वरवाद के वातावरण में अपने को सुखी महसूस कर सकता हूं, लेकिन उस समय उसमें देवी-देवताओं के बारे में वह अवधारणा नहीं रह जाती, जो इसके साथ प्रायः जुड़ी रही है।

मार्क्स और लेनिन की रचनाओं को पढ़ने के बाद मेरे दिमाग पर गहरा असर पड़ा और इनसे मुझे इतिहास ओर मौजूदा जमाने को नये दृष्टिकोण से देखने में मदद मिली। इतिहास और सामाजिक विकास की दीर्घ परंपरा मुझे कुछ अर्थपूर्ण लगी और ऐसा महसूस हुआ कि उसमें कुछ क्रमबद्धता है, भविष्य का धुंधलापन कुछ कुछ खत्म हो गया है। सोवियत यूनियन ने अमली तरीके से जो कमाल कर दिखाया है, उसका भी क्रम पर गहरा असर पड़ा। लेकिन मुझे वहां की कुछ बातें पसंद नहीं आयीं या मैं उन्हें समझ नहीं सका। मुझे ऐसा लगा कि इसका ताल्लुक वक्त का फायदा उठाने या ताकत हासिल करने से है। लेकिन इन सब बातों या इंसान की खुशहाली के लिए बुनियादी भावना में संभावित विकृतियों के बावजूद मुझे इस बात में कोई शक नहीं रहा कि सोवियत क्रांति मनुष्य के समाज को उन्नत शिखर की ओर ले गयी और उसने एक ऐसी तेज लौ पैदा कर दी है जो बुझाई

नहीं जा सकती, उसने नयी कामना की नींव रख दी है, जिसकी ओर दुनिया अपने कदम बढ़ा सकती है।

मार्क्सवादी दार्शनिक दृष्टिकोण में बहुत कुछ ऐसा था, जिसे मैं बिना किसी झिझक के मान लेता हूं : जैसे इसका तत्ववाद तथा जड़ और चेतन का अलग अलग न होना, जड़ का गतिशील होना और विकासक्रम के द्वारा या अचानक, क्रिया और प्रतिक्रिया, कारण और कार्य की जिस एंटीथीसिस और सिंथेसिस की प्रक्रिया के द्वारा निरंतर द्वंदात्मक परिवर्तन की संकल्पना।

लेकिन मुझे पूरी तरह तसल्ली नहीं हुई, न इसने उन सवालों को हल किया जो मेरे दिमाग में उठते थे और मेरे दिमाग में एक अस्पष्ट आदर्शवादी दृष्टिकोण घर कर गया, जिसके लिए मैं तैयार भी नहीं था। यह दृटिकोण बहुत कुछ वेदांतवादी दृष्टिकोण जैसा था। यह जड़ और चेतन में अंतर का दृष्टिकोण नहीं था, यह कुछ ऐसी चीज थी जो मेरे दिमाग से परे थी। इसके अलावा नैतिकता की पृष्ठभूमि भी थी। मैंने अनुभव किया कि नैतिक आदर्श का दृष्किोण तो बदलता रहता है और दृष्टिकोण विकासशील विचारधारा और प्रगतिशील सभ्यता पर निर्भर करता है, यह जमाने की मानसिक स्थिति से भी प्रभावित रहता है। तो भी इसमें इसके अलावा कुछ बुनियादी प्रेरणाएं भी थीं, जिनका और भी ज्यादा असर था। मैं कम्युनिस्टों और औरों के व्यवहार में काम और इन बुनियादी प्रेरणाओं या सिद्धांतों के बीच अक्सर अलगाव देखता था। मुझे यह पसंद नहीं था। इसलिए मेरे दिमाग में कुछ ऐसा गड्मड्ड पैदा हो गया, जिसे मैं तर्क से स्पष्ट या हल नहीं कर पाता था। एक आम प्रवृत्ति यह थी कि उन बुनियादी सवालों पर जो अपनी पहुंच के बाहर हों, सोचा ही नहीं जाय और उसके बजाय जिंदगी की समस्याओं के बारे में अधिक संकीर्ण अर्थ में और अधिक तात्कालिक अर्थ में सोचा जाय कि हमें क्या करना चाहिए और कैसे करना चाहिए। आखिर में सच्चाई जो भी हो, और उसे हम पूरी तरह से या कुछ अंशों में ग्रहण कर सकते हों या नहीं, यह बात तय है कि मनुष्य के ज्ञान में वृद्धि होते रहने की, जो पूरी तरह या थोड़ी-बहुत व्यक्तिगत भी हो सकती है, और मनुष्य के रहन-सहन या सामाजिक संगठन में प्रगति और खुशहाली के लिए इस वृद्धि के उपयोग होने की संभावनाएं अनंत हैं।

गुजरे हुए जमाने में लोग विश्व की पहेली का हल ढूंढ़ने में लगे रहे। आज भी कुछ लोग इसी बात में लगे हुए हैं। इससे ये लोग रोजाना की व्यक्तिगत और सामाजिक समस्याओं से दूर चले जाते हैं और जब वह इस पहेली को नहीं सुलझा पाते, तब वे निराश से हो उठते हैं और निष्क्रिय हो जाते हैं तथा छुटपुट बातों में अपना समय बिताते हैं या उन्हें किसी रूढ़िवादी विचारधारा में संतोष मिलता है। सामाजिक बुराइयों में कुछ तो निश्चय ही दूर की जा सकती हैं। इन बुराइयों को किसी पुराने पाप का परिणाम बताया जाता

है या इनके बारे में यह कहा जाता है कि इंसान की प्रकृति या सामाजिक गठन ही कुछ ऐसा है कि उसे बदला नहीं जा सकता या (हिंदुस्तान में) इन्हें पुराने जन्म का फल बताया जाता है। इससे हम तर्क और विज्ञान के आधार पर विचार करने की कोशिश करने से भी हट जाते हैं और हम विवेकहीनता, अंधविश्वास और तर्कहीन और अनुचित सामाजिक पूर्वाग्रहों और आचरणों की शरण में आ जाते हैं।

यह सच है कि तर्कपूर्ण और वैज्ञानिक विचारधारा भी हमें उतनी दूर नहीं ले जाती, जितनी दूर हम जाना चाहते हैं। घटनाओं के मूल में अनेक ऐसे कारण और संबंध होते हैं, जो उन पर अपना असर डालते हैं और उन्हें विभिन्न तरीके से नियंत्रित रखते हैं। इन सभी को समझ पाना मुमकिन नहीं है, लेकिन उनके पीछे जो खास खास ताकतें काम करती हैं, उन्हें हम चुन सकते हैं और बाहरी मौलिक तथ्य पर गौर करते हुए प्रयोग और व्यवहार के जरिये तजुर्बे करते हुए टटोल-टटोलकर ज्ञान और सच्चाई के मार्ग की ओर बढ़ सकते हैं, जो निरंतर विकासशील होता है।

चूंकि मोटे तौर पर मार्क्सवादी दृष्टिकोण इस काम के लिए और इन सीमाओं में आज के विज्ञान की जानकारी के अनुकूल पड़ता था, इसलिए यह मुझे बहुत सहायक जान पड़ा। लेकिन इस दृष्टिकोण को अपनाने के बाद जो इसके परिणाम होते हैं और गुजरे जमाने और हाल की घटनाओं के बारे में जो व्याख्या दी जाती थी, वह कभी भी हमेशा साफ नहीं थी। मार्क्स का सामाजिक विकास का सामान्य विश्लेषण अद्‌भुत रूप से सही जान पड़ता है, लेकिन इसके बावजूद तरह तरह का विकास हुआ जो निकट भविष्य के बारे में उसके दृष्टिकोण में फिट नहीं बैठता था। लेनिन ने मार्क्स की थीसिस को बाद के विकास की कुछ घटनाओं पर लागू किया, लेकिन इन घटनाओं के बाद कुछ और विलक्षण, जैसे फासिज्म और नात्सीवाद और उससे संबद्ध घटनाएं हुईं। टेक्नोलोजी का तेजी से विकास और वैज्ञानिक जानकारी हासिल करने में नयी नयी घटनाओं के व्यावहारिक प्रयोग अब दुनिया की तस्वीर को आश्चर्यजनक तेजी के साथ बदल रहे हैं और नयी नयी समस्याएं पैदा हो रही हैं।

इसलिए अगर्चे मैंने समाजवादी सिद्धांत की बुनियादी बातों को मान लिया था, तो भी मैं उसके अंदरूनी तर्क-वितर्क में नहीं पड़ा। हिंदुस्तान में वामपंथी दलों के साथ मेरी नहीं पट सकी, जो अपनी अधिकांश शक्ति आपस में झगड़ने और सिद्धांत की ऐसी ऐसी बारीकियों को लेकर एक-दूसरे को बुरा-भला कहने में गंवाते हैं, जिनमें मेरी कोई भी दिलचस्पी नहीं थी। जिंदगी इतनी जटिल है और जहां तक हम अपने मौजूदा ज्ञान के आधार पर समझ सकते हैं, यह इतनी तर्करहित है कि इसे किसी निश्चित सिद्धांत की चहारदीवारी में बांधकर नहीं रखा जा सकता।

मेरे सामने जो मसले रहे हैं, वह व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन के हैं—किस तरह सुख से रहा जाय, व्यक्ति की बाहरी और भीतरी जिंदगी में किस तरह समुचित तालमेल

हो, व्यक्ति और विभिन्न वर्गों के बीच संबंधों में किस प्रकार सामंजस्य हो, किस तरह सामाजिक विकास की और अच्छी और ऊंची सीढ़ी तक लगातार पहुंचा जाय और किस तरह ऐसे मौके दिये जायें कि मनुष्य अपने साहस को लगातार कायम रख सके। इन समस्याओं को सुलझाने के लिए विज्ञान के तरीके के अनुसार निरीक्षण करने और सटीक ज्ञान प्राप्त करने और पूरी पूरी दलील का सहारा लिया जाना चाहिए। जब हम सत्य की खोज करते हैं, तब मुमकिन है कि यह तरीका हमेशा कारगर न रहे क्योंकि कला और कविता और इसी तरह के कुछ अन्य मानसिक अनुभव, जो कुछ दूसरी ही कोटि में आते हैं, विज्ञान के वस्तुनिष्ठ तरीके से पकड़ में नहीं आते। इसलिए सहज ज्ञान, सत्य और सच्चाई को ढूंढ़ने के अन्य तरीकों को अलग नहीं रखा जा सकता। विज्ञान के क्षेत्र में भी इनकी जरूरत होती है। लेकिन हमें वस्तुनिष्ठ ज्ञान पर कायम रहना चाहिए, जिसकी तर्क द्वारा और उससे भी आगे प्रयोग और अनुभव के द्वारा जांच हो चुकी हो और हमें हमेशा इस बात से सावधान रहना चाहिए कि हम ऐसे विचारों के समुंदर में न खो जायें, जिनका जिंदगी की रोजाना की समस्याओं और आदमियों और औरतों की जरूरतों से कोई ताल्लुक ही नहीं हो। जीवित दर्शन को चाहिए कि वह आज की समस्याओं को हल करे।

हो सकता है कि हम लोग जो मौजूदा जमाने के हैं, जिन्हें अपने जमाने की उपलब्धियों पर बड़ा नाज है, अपने जमाने के वैसे ही गुलाम हो जायें जैसे कि प्राचीन और मध्यकालीन जमाने के आदमी और औरतें अपने अपने जमाने के गुलाम हो गये थे। हम भी अपने आपको धोखे में रख सकते हैं, जिस तरह हमसे पहले के लोगों ने अपने को धोखे में रखा हुआ था कि चीजों को देखने-समझने का हमारा तरीका ही सही तरीका है और इससे ही हम सत्य तक पहुंच सकते हैं। हम इस तरह कैद होने और इस तरह के धोखे को, जिसे अगर धोखा कहा जाय, तो इस धोखे का शिकार होने से बच नहीं सकते।

फिर भी मैं यह मानता हूं कि विज्ञान के तौर-तरीके ने इंसान की जिंदगी में जितना इंकलाब पैदा किया, उतना इतिहास के लंबे दौर में किसी और ने नहीं किया, इसने सभी दरवाजे और रास्ते खोल दिये और महान क्रांतिकारी परिवर्तन ला दिया है, जिसे आज तक अज्ञान समझते थे, हम उसकी दहलीज तक पहुंच गये हैं। विज्ञान ने जो तकनीकी महान कार्य किये हैं, वे काफी स्पष्ट हैं, अभाव की अर्थव्यवस्था को बहुतायत और खुशहाली में बदल देने की उसकी क्षमता सुस्पष्ट है और अब तो उसने उन मसलों में भी दखल देना शुरू कर दिया है, जो सिर्फ दर्शन के क्षेत्र समझे जाते थे। देश-काल और क्वांटम के सिद्धांत ने भौतिक जगत की तस्वीर बिल्कुल ही बदल दी है। हाल में जड़ की प्रकृति, परमाणु की बनावट, तत्वों के रूपांतरण और विद्युत और प्रकाश के एक-दूसरे में अंतरण के क्षेत्र में खोज हुई है, उससे इंसान की जानकारी में और भी अधिक वृद्धि हुई है। अब इंसान प्रकृति को अपने से अलग या भिन्न नहीं देखता है। लगता है कि इंसान का भाग्य प्रकृति की

लयपूर्ण ऊर्जा का एक अंग बन गया है।

विचारों की इस उथल-पुथल ने, जो विज्ञान की तरक्की के कारण हुई, वैज्ञानिकों को एक नये क्षेत्र में ला खड़ा किया है, जहां आधिभौतिक क्षेत्र की सीमा शुरू हो जाती है। वे मुख्तलिफ और अक्सर विरोधी नतीजों पर पहुंचते हैं।

विज्ञान के लिए यह बहुत ज्यादा महत्व की बात नहीं है कि ये अस्पष्ट धारणाएं किस ओर ले जाती हैं। इसकी वजह यह है कि जहां यह अनंत दिशाओं में विकसित होता है, वहां निरीक्षण करने का इसका अपना सटीक प्रयोगात्मक तरीका ज्ञान के विगत क्षेत्र की सीमाओं को खोल देता है और इस प्रक्रिया में इंसान की जिंदगी को भी बदल देता है। हो सकता है कि विज्ञान ने मूलभूत रहस्यों को खोज निकालने का रास्ता ढूंढ़ लिया हो, लेकिन तो भी रहस्य उसकी पकड़ से निकल जाते हैं। फिर भी विज्ञान अपने निश्चित रास्ते पर चलता रहेगा क्योंकि इस सफर का कोई अंत नहीं है। दर्शन के 'क्यों' के प्रश्न को थोड़ी देर के लिए नजर अंदाज कर विज्ञान कहेगा कि 'कैसे' और ज्यों ज्यों वह इस रहस्य को ढूंढ़ता जायेगा, त्यों त्यों वह इस जीवन को और अधिक अर्थ और आशय प्रदान करता जायेगा। जवाब देने में हमारी मदद कर सकेगा।

या शायद हम इस बात को पार न कर सकें और जो रहस्यमय है, वह रहस्मय ही बना रहे और हमारा जीवन अपने तमाम परिवर्तनों के साथ साथ अच्छाई और बुराई का समुच्चय बना रहे, उसमें एक के बाद एक संघर्ष होते रहें, वह बेमेल और परस्पर विरोधी प्रेरणाओं का एक अजीबो-गरीब सम्मिश्रण बना रहे।

या फिर शायद विज्ञान की ऐसी तरक्की होती रहे कि जिसका ताल्लुक नैतिक अनुशासन या आचार-विचार से बिल्कुल भी नहीं रहे। यह तरक्की बुरे और स्वार्थी इंसान के हाथ में, उस इंसान के हाथ में जो दूसरों पर अधिकार जमाने की कोशिश में रहता है, ताकत और विनाश के उन खतरनाक साधन को केंद्रित कर देगी जो विज्ञान ने तैयार किये हैं और इस तरह यह तरक्की अपनी ही महान सफलताओं का विनाश कर देगी। हम आज कुछ इसी तरह की घटनाएं होती देख रहे हैं और इस सब के पीछे है मनुष्य की आत्मा का भीतरी संघर्ष।

मनुष्य की यह आत्मा कितनी विचित्र है। अनगिनत सफलताओं के बावजूद इंसान ने हर युग में अपनी जिंदगी और अपनी सभी प्रिय वस्तुओं को किसी न किसी आदर्श के लिए, सत्य के लिए, विश्वास के लिए, देश के लिए और गौरव के लिए कुरबान किया है। यह आदर्श बदल सकता है, लेकिन कुरबानी करने की क्षमता बनी रहती है और इस कारण इंसान की बहुत सारी कमजोरियों को माफ किया जा सकता है और उसकी तरफ से विनाश होना कठिन है। बड़ी से बड़ी आफतों में भी उसने अपना गौरंव और उन मूल्यों में अपने विश्वास को नहीं खोया है, जो उसे अभीष्ट रहे हैं। प्रकृति की पराक्रमी शक्तियों

का खिलौना, इस विशाल विश्व में धूल के कण से भी क्षुद्र इंसान प्रकृति की मूल शक्तियों को ललकार रहा है और अपने दिमाग से, जो क्रांति का पालना है, इन शक्तियों को अपने वश में करना चाहता है। चाहे जो भी देवतागण हों, मनुष्य में देवता की तरह कुछ चीज है, उसी तरह जिस तरह उसमें हैवान जैसी भी कुछ चीज है।

भविष्य अंधकारपूर्ण है, अनिश्चित है। लेकिन हम उसकी ओर जाने वाले रास्ते का कुछ भाग देख सकते हैं और उस पर यह याद रखते हुए दृढ़ कदमों से चल सकते हैं कि ऐसा कुछ भी नहीं हो सकता, जो इंसान की उस आत्मा को अपने अधीन कर ले जो इतने सारे संकटों को अब तक पार करती आयी है। हमें यह भी याद रखना है कि हमारी जिंदगी में चाहे जो भी तकलीफें हों, आनंद और सौंदर्य भी है और हम प्रकृति की मनोहर वनस्थली में हमेशा विचरण कर सकते हैं, बशर्ते कि हम यह जानते हों कि यह विचरण कैसे किया जाता है।

> क्या है ज्ञान? मनुष्य का यह प्रयत्न भी क्या है? या है ईश्वर की अनुकंपा कितनी सुंदर, कितनी विशाल भय से मुक्ति, हों आजाद, तनिक ठहरो, लो खुली हवा में सांस, उठाओ अपना सिर और करो विरोध घृणा का, यह सौंदर्य अनंतकाल तक प्रिय बना रहेगा।

('दि बशे आफ यूरीपिडस' में समूह गान, गिल्बर्ट मरे के अंग्रेजी अनुवाद का हिंदी अनुवाद)

मुकदमा

जवाहरलाल नेहरू : मैं इस मुकदमे में हिस्सा नहीं लूंगा, बल्कि अनौपचारिक तरीके से उन मुद्दों का खुलासा करने में प्रासीक्यूशन की मदद करूंगा, जिनको लेकर वह यह केस बनाना चाहता है। मैं अपना बचाव करना या इस मुकदमे में कोई औपचारिक भाग लेना नहीं चाहता हूं। यह मैं मुकदमे की कार्रवाई में कोई रुकावट डालने की गरज से नहीं कर रहा हूं। यह इसलिए है कि मुझे इन कानूनी कार्रवाइयों में कोई खास दिलचस्पी नहीं है। मैंने एक बयान तैयार किया है, जो मैं अभी या बाद में आपके सामने पढ़ना चाहता हूं। इसे पढ़ने के बाद मैं इसे कोर्ट को दे दूंगा और कोर्ट को रिकार्ड के लिए इसे लिखने की जरूरत नहीं है।

मैं यह मानता हूं कि जिन तकरीरों का हवाला दिया गया है, वे मैंने दी थीं। जो सरकारी रिपोर्ट पेश की गयी है, उनसे रिपोर्टर में बुद्धि की कमी लगती है या लगता है कि वह शार्टहैंड नहीं जानता है। कहीं कहीं तो उनका कुछ भी मतलब नहीं निकलता है। मैं हमेशा सही बात कहने की कोशिश करता हूं।

कुछ अल्फाज तो मतलब बताते हैं, कुछ नहीं और कुछ बिल्कुल ही जुदा मायने देते हैं। मैंने जब कभी तकरीर दी, वह एक घंटे से ज्यादा दी और रिपोर्टर मेरी तकरीरों को साथ साथ रिकार्ड नहीं कर सका। नतीजा यह हुआ कि जब इन्हें उतारा गया, तब सब कुछ गड्मड्ड हो गया। मैं अपनी तकरीरों में से, जिन्हें अपने हाथ से लिखा, लिये गये कोई तीस-पैंतीस टुकड़ों पर कोई आम राय देने के लिए तैयार नहीं हूं, इनमें से बहुत-सी ठीक लगती हैं, लेकिन उनके अल्फाज में हेर-फेर कर दिया गया है।

मैंने हिंदुस्तान की आजादी और अंग्रेजी हुकूमत के हटाने की बात कही है। मैंने इसके लिए हलफ ली हुई है और मैंने इस सदी के पिछले पच्चीस सालों के दौरान अपनी तकरीरों, लेखों और दूसरे कामों के जरिये यही कहने की भरसक कोशिश की है।

कुछ अंशों का ताल्लुक विश्वयुद्ध से है। मैंने इस सवाल पर अपने बयान में खुलासा दिया है कि यह कब और कैसे शुरू हुआ और वह पालिसी क्या है, जो कांग्रेस ने पिछले

---

31 अक्तूबर, 1940 को गिरफ्तार होने के बाद गोरखपुर में 3-4 नवंबर, 1940 को चलाये गये मुकदमे की रिपोर्ट। सबसे पहले *नेशनल हेराल्ड* में 5 नवंबर, 1940 को प्रकाशित। *सेलेक्टेड वर्क्स,* वाल्यूम 11, पृ. 485-91 से संकलित

चार-पांच सालों या इससे भी ज्यादा सालों से इस लड़ाई के मुमकिन होने के बारे में अपनाई हुई है। और आखिर में मैंने हिंदुस्तान पर इस लड़ाई के थोपे जाने के सवाल पर कहा है, जिसका हिंदुस्तान के लोगों से कोई ताल्लुक नहीं है। असल में पिछले चार हफ्ते भर मैंने इस लड़ाई के बारे में बहुत कुछ जानबूझ कर नहीं कहा, जो मैं आमतौर पर जरूर कहता। इसकी वजह यह थी कि महात्मा गांधी यह चाहते थे कि फिलहाल इस बारे में वही लोग बोलें, जिन्हें वे ठीक समझते थे। इसलिए इन मुकदमों में मैंने वसूली का ही जिक्र किया, जो लड़ाई के खर्च को पूरा करने के लिए, खासतौर से गरीबों से, जबरदस्ती से की जा रही है और मैंने उनको यह सलाह दी कि वे इसके आगे न झुकें। लेकिन आमतौर पर मैंने बाद में यह बात भी नहीं कही क्योंकि हमारे नेता ने हमें मना कर रखा था।

कोर्ट के लिए बयान

मुझे यह बताया गया है कि मेरे खिलाफ चार्ज उन तीन तकरीरों की रिपोर्ट के आधार पर है, जो मैंने गोरखपुर जिले में पिछले अक्तूबर के शुरू में दी थी। इन रिपोर्टों की नकल और एक मामले में उसका अंग्रेजी तर्जुमा मुझे दिया गया है। मैंने इन्हें पढ़ा। मुझे उन आदमियों पर अफसोस है, जिन्हें रिपोर्टिंग करने पर लगाया गया था। उन रिपोर्टों के बारे में कहा जाता है कि ये शार्टहैंड से ली गयी हैं, लेकिन ये रिपोर्टें मुकम्मिल नहीं, ये अधूरी हैं, ये साफ नहीं हैं और कहीं कहीं से तो कोई मायने भी नहीं निकलते हैं। मैं शब्दों और मुहावरों से प्यार करता हूं और उनका सही ढंग से इस्तेमाल करने की कोशिश करता हूं। मेरी राय जो भी हो, मैं जो अल्फाज इस्तेमाल करता हूं, वह बात को साफ साफ कहने के लिए होते हैं, वह सिलसिलेवार होते हैं। अगर कोई इन रिपोर्टों को पढ़े, तो उसे इनमें कोई भी सिर-पैर या सिलसिला नहीं मिलेगा और इनसे उन बातों की बिल्कुल ही उल्टी तस्वीर नजर आयेगी, जो मैंने कही थीं।

मुझे इस रिपोर्टिंग से कोई शिकायत नहीं है और न मैं यही कहता हूं कि जानबूझ कर उलट-फेर की गयी है। लेकिन यह बात मैं साफ कर देना चाहता हूं कि बहुत-से मामलों में मैंने जो कुछ कहा, वह उससे बिल्कुल मुख्तलिफ है, जो इन रिपोर्टों में घुमा फिराकर रखे गये लफ्जों को पढ़ने के बाद मैं समझता हूं। अगर यही मेरी तकरीर की रिपोर्टिंग में है, जहां खास ध्यान रखा जाता है और जिसके लिए ज्यादा पढ़े-लिखे लोगों को काम पर लगाया जाता है, तब मुझे ताज्जुब है कि तब क्या होता होगा जब बाकी और लोगों की तकरीरों की रिपोर्टिंग बिल्कुल ही बगैर तालीमयाफ्ता लोगों से करवाई जाती है और इन रिपोर्टों के आधार पर कचहरी में मुकदमा चलाया जाता है।

मेरा इरादा इन रिपोर्टों की गल्तियों और कमियों को तफसील से बताने का नहीं है। इसका मतलब होगा कि मैं उन्हें फिर से लिखूं। महोदय इससे काम का समय बरबाद होगा

और मेरा भी और इसका नतीजा भी कुछ नहीं निकलेगा। मैं यहां अपना बचाव करने नहीं खड़ा हुआ हूं और शायद जो कुछ मैं इस बयान में कहूं, उससे काम का काम और आसान हो जायेगा। अभी तक मैं यही नहीं समझा हूं कि मेरे खिलाफ ठीक ठीक क्या चार्ज है। मैं समझता हूं कि यह बहुत कुछ डिफेंस आफ इंडिया के मुताल्लिक है और यह उन बातों से संबंधित है, जो लड़ाई के बारे में या उन कोशिशों के बारे में है, जो हिंदुस्तान के लोगों को लड़ाई में जबरदस्ती हिस्सा लेने के लिए की जा रही है। अगर यह है, तब मैं इस चार्ज को कबूल करता हूं। हिंदुस्तान या लड़ाई के बारे में मैं या दूसरे कांग्रेसी क्या कहते हैं, इसका पता लगाने के लिए इन मनगढ़ंत रिपोर्टों की छानबीन करने की जरूरत नहीं है। कांग्रेस के रिजोल्यूशन और बयान ध्यान देकर और नपे-तुले अल्फाज में होते हैं, जिससे दुनिया भर के लोग समझ सकें। मैं इन रिजोल्यूशनों और बयानों की तसदीक करता हूं। मैं कांग्रेस के संदेश को हिंदुस्तान की जनता तक, घर घर तक पहुंचाना अपना कर्तव्य समझता हूं।

असल में जब से कांग्रेस इस नतीजे पर पहुंची है कि उसकी पालिसी को अमलीजामा देने के लिए सत्याग्रह या सिविल डिसओबीडियंस आंदोलन शुरू किया जाना चाहिए, तब से मैंने अपनी तकरीरों में अपने को काफी रोकने की कोशिश की है जिसे सत्याग्रह कहा जा सकता है। हमारे नेता महात्मा गांधी का यह हुकूम था। महात्मा गांधी चाहते थे कि सत्याग्रह उन्हीं लोगों तक महदूद रहे, जिन्हें वे इस काम के लिए चुनें। इसी तरह एक आदमी को चुना गया और लड़ाई के बारे में उस आदमी ने सार्वजनिक सभाओं में कांग्रेस के रवैये का खुलासा दिया और अहिंसा की कांग्रेसी पालिसी पर बराबर जोर दिया। यह मेरी खुशकिस्मती थी कि उन्होंने मुझे अपने साथ चलने और लोगों से कांग्रेस की विचारधारा को बताने के लिए चुना, जिसमें ज्यादा जोर राजनीतिक पहलू पर होता था। यह तय हुआ कि अधिकारियों को जरूरी इत्तिला देने के बाद इलाहाबाद जिले में सात नवंबर से सभाओं में बोलूं। यह काम मेरी धर-पकड़ होने और मुझ पर मुकदमा चलाये जाने से रुक रुक कर चला और लड़ाई के बारे में कांग्रेस की पालिसी को साफ साफ और जोरदार तरीके से बताने का मौका मुझे कुछ पहले मिल गया, जितना मैंने सोचा था।

अगर मैं चुना गया और मेरे से पहले विनोबा भावे को इस काम के लिए चुना गया था तो वह इसलिए नहीं कि मैं लोगों को अपनी राय बताऊं। हम लोग हिंदुस्तान की जनता के प्रतीक थे। एक व्यक्ति के रूप में हमारी कुछ भी अहमियत नहीं होती, लेकिन हिंदुस्तान की जनता के प्रतीक और नुमाइंदे होने की वजह से हमारी अच्छी-खासी अहमियत थी। हमने इस जनता की ओर से क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए, यह खुद निर्णय करने के अधिकार पर जोर दिया; हमने उस हुकूमत को चुनौती दी, जो जनता के इस अधिकार को छीनती है और अपनी मनमानी उस पर लादती है। यह हुकूमत किसी

की भी क्यों न हो। यह सरासर गलत बात थी कि कोई आदमी या कुछ लोग, जिन्हें हिंदुस्तान की जनता से कोई अधिकार नहीं मिला हो और जो उसके प्रति किसी भी तरह जवाबदेह नहीं हों, अपनी इच्छा को उस पर लादें और हिंदुस्तान के लोगों को, उनसे या उनके नुमाइंदों से पूछे बिना, एक ऐसी लड़ाई में झोंक दें जो वे कभी नहीं चाहते। यह हैरत की और बड़ी ही महत्वपूर्ण बात है कि यह आजादी और आत्मनिर्णय और जम्हूरियत के नाम पर किया जाये और यह कहा जाये कि यह लड़ाई इसी को हासिल करने के लिए लड़ी जा रही है। हम अपना आखिरी फैसला करने में ढीले रहे, झिझकते रहे और आपस में सलाह-मशविरा करते रहे। हम ऐसा रास्ता खोज रहे थे, जिसे सभी संबंधित पार्टियां खुशी खुशी मान लेतीं। हम कामयाब नहीं हुए और जहां तक अंग्रेज सरकार या हिंदुस्तान में उनके नुमाइंदों का संबंध है, हम पर ऐसा फैसला लाद दिया गया जो पहले से हो रखा था। हमें भी बंधक समझा गया कि हम उनके मुताबिक काम करें और उनके साम्राज्यवादी ढांचे में अपना शोषण होते रहने दें। यह ऐसी हालत थी, जो हमें कभी बरदाश्त नहीं थी, चाहे जो भी नतीजे होते।

हिंदुस्तान में, मेरा ख्याल है, बहुत थोड़े लोग हैं चाहे वे हिंदुस्तानी हों या अंग्रेज, जिन्होंने फासिज्म और नात्सीवाद के खिलाफ पिछले कई सालों तक लगातार अपनी आवाज बुलंद की हो, जैसा मैंने किया है। मैंने पूरी ताकत से ऐसे लोगों की खिलाफत की है और कई मौकों पर मैंने अंग्रेज सरकार की फासीवाद समर्थक और खुश रखने की पालिसी की आलोचना की है। जब मंचूरिया पर और उसके बाद अबीसीनिया, मध्य यूरोप, स्पेन और चीन पर हमला हुआ, तब मुझे यह देख कर बेहद अफसोस हुआ कि खुश करने की इस पालिसी की आड़ में एक के बाद दूसरे मुल्क को धोखा दिया गया और आजादी के चिरागों को गुल किया गया। मैंने समझ लिया कि साम्राज्यवाद सिर्फ इसी तरह का काम कर सकता है, इसे एक दूसरे साम्राज्यवाद को खुश करना पड़ता है, जो इसी की तरह का होता है, नहीं तो इसके आदर्शों की नींव ही कमजोर हो जायेगी। उसे यह चुनाव करना होता है कि वह खुश करने की पालिसी को अपनाये या लोकतंत्र की आजादी के लिए अपने को खत्म कर दे।

खुश करने की पालिसी जब तक मंचूरिया, अबीसीनिया, चेकोस्लोवाकिया, स्पेन और अल्बानिया पर, जिन्हें इंग्लैंड के प्राइम मिनिस्टर ने दूर के ऐसे देश कहा जिनके बारे में बहुत कम लोग जानते हैं, लागू की गयी, तब तक कुछ नहीं हुआ और इस पालिसी को पूरी तरह से अमल में लाया गया। लेकिन जब काफी पास के मुल्कों का मामला आया और अंग्रेजी साम्राज्य पर आंच आने लगी तब झगड़ा शुरू हुआ और लड़ाई शुरू हो गई।

इसके बाद ब्रिटिश सरकार और दूसरी अन्य सरकारों के सामने, जो लड़ाई में शामिल हो चुकी थीं, दो रास्ते थे—एक यह कि पुराने साम्राज्यवादी तरीके से चलते रहा जाये और

दूसरा यह कि हमें अपने अपने क्षेत्र तक सीमित रखा जाये और सारी दुनिया में आजादी और क्रांतिकारी परिवर्तन लाने की भावना का नेतृत्व किया जाये। उन्होंने पहला रास्ता चुना, हालांकि वह अब भी आजादी, खुद निर्णय करने के अधिकारों और लोकतंत्र की बात करते थे। आजादी के बारे में इनके ख्याल लफ्जों में भी यूरोप तक महदूद रहे और इनका आशय यूरोप में पुराने तरीके से अपनी सल्तनत को चलाते रहना था। बड़ी से बड़ी आफत भी इनको अपनी सल्तनत बनाये रखने और अपनी इच्छा को अपने अधीन लोगों पर थोपते रहने के इरादे से नहीं डिगा सकी। हिंदुस्तान में एक साल से ज्यादा से लड़ाई की सरकार चल रही है। जनता की चुनी हुई विधान सभाएं मुअत्तल कर दी गयी हैं, उनकी अनदेखी की जा रही है और खुल कर तथा बड़े पैमाने पर तानाशाही जितनी यहां है, उतनी शायद ही दुनिया के किसी हिस्से में हो। हाल की कार्रवाइयों ने थोड़ी-बहुत आजादी का भी गला घोंट रखा है, अखबारों पर अधिकार कर लिया गया है, जिससे अपनी बात और अपने आंकड़े छापे जा सकें। अगर यह उस आजादी की शुरुआत है, जिसका हमसे वायदा किया गया है या यह उस 'नयी व्यवस्था' की भूमिका है, जिसके बारे में ढेर-सा प्रचार किया जा रहा है, तब हम आसानी से यह सोच सकते हैं कि इसके बाद क्या होगा जब इंग्लैंड पूरी तरह से एक फासिस्ट राज्य बन जायेगा।

मुझे इस बात का पूरा यकीन हो गया है कि इंग्लैंड की जनता में अधिकांश लोग साम्राज्य से ऊब चुके हैं और उनमें एक असली नयी व्यवस्था की चाह है। लेकिन हमें उनके बदले उनकी सरकार से निपटना पड़ता है और हमें अपने दिमाग में इस बात का कोई संदेह नहीं रह गया है कि यह सरकार आखिरकार क्या चाहती है। इस बात को लेकर हमारे और इस सरकार के बीच कोई एक जैसी बात नहीं है और हम इसका डटकर मुकाबला करेंगे। इसलिए हमने फैसला किया है कि हम इस थोपी गयी लड़ाई में कोई भी साझेदारी नहीं करेंगे और अपनी यह बात सारी दुनिया को बता देंगे। यह लड़ाई बड़े पैमाने पर पहले ही तबाही ला चुकी है। इससे लोगों में अब और ज्यादा डर और दुख-तकलीफ फैलेगी। जो लोग इस लड़ाई से परेशान हैं, हमारी उनके साथ पूरी पूरी और गहरी हमदर्दी है। अगर इस लड़ाई का क्रांतिकारी मकसद मौजूदा व्यवस्था को बदलना और इस व्यवस्था के बदले नयी व्यवस्था लाना नहीं है, तो इस लड़ाई के फलस्वरूप मारकाट और विनाश का सिलसिला यूं ही बना रहेगा।

इसलिए हमें इससे अपने को अलग करना चाहिए और अपनी जनता को यह सलाह देनी चाहिए कि वे भी इस लड़ाई में कोई हिस्सा न ही लें और रुपये-पैसे से या फौज में भर्ती होकर कोई भी मदद नहीं दे। यही हमारा कर्तव्य है। लेकिन इसके अलावा, पिछले साल अंग्रेज अधिकारियों ने हिंदुस्तान की जनता के साथ जो सलूक किया, उनमें फूट डालने और तोड़फोड़ करने की प्रवृति को उकसाने की हरदम कोशिश की, लड़ाई के लिए हिंदुस्तान

की गरीब जनता से रुपया वसूला और भारतीय राष्ट्रीयता को कुचलने की बार बार जो कोशिश की, उसको हिंदुस्तान के लोग किसी भी हालत में बरदाश्त नहीं कर सकेंगे।

महोदय, मैं आपके सामने एक व्यक्ति के रूप में खड़ा हूं और मुझ पर सरकार के खिलाफ कुछ अपराधों के लिए मुकदमा चलाया जा रहा है। आप इस सरकार के प्रतीक हैं। लेकिन मैं व्यक्ति के अलावा कुछ और भी हूं। मैं मौजूदा आंदोलन का प्रतीक भी हूं, यह आंदोलन भारत की राष्ट्रीयता का प्रतीक है। मकसद अंग्रेजी साम्राज्य से अलग होना और हिंदुस्तान के लिए आजादी हासिल करना है। इसलिए आप सिर्फ मेरा फैसला नहीं कर रहे हैं, सिर्फ मुझे दंड नहीं दे रहे हैं, बल्कि हिंदुस्तान के करोड़ों लोगों का फैसला कर रहे हैं, उन्हें दंड दे रहे हैं और यह काम एक साम्राज्य के लिए जिसे अपने ऊपर बड़ा गर्व है, एक बहुत भारी काम है। हालांकि आपके यहां मुझ पर मुकदमा चलाया जा रहा है, लेकिन मुमकिन है कि इस मुकदमे को दुनिया की कचहरी का मुकदमा समझा जाये, जो अंग्रेजी सरकार के खिलाफ चल रहा हो। आज दुनिया में कानून की कचहरियों से भी बड़ी ताकतें काम कर रही हैं, जिंदगी की बुनियादी जरूरत आजादी, रोटी और सुरक्षा है। धीरे धीरे अब लाखों लोग इसी की मांग करने लग गये हैं और इतिहास अब इन्हीं लोगों के हाथों में है। जो भी भविष्य में इस इतिहास को लिखेगा, वह यह कहेगा कि जब इससे बड़ा न्याय करने का मौका आया, तब ब्रिटेन की सरकार और ब्रिटेन के लोग कामयाब नहीं हुए क्योंकि वे साम्राज्यवाद के नशे में धुत थे और अपने को बदलती हुई दुनिया में नहीं ढाल सके। वह इस तकदीर पर, बड़ी बड़ी सल्तनतों की तकदीर पर हंसेगा, जो अपनी इसी कमजोरी की वजह से खत्म हो गये और इसे उनकी तकदीर बतायेगा। कुछ वजहों के यकीनन कुछ नतीजे होते हैं। हम वजहों को जानते हैं और नतीजे भी वैसे ही एक के बाद एक सामने आते जा रहे हैं।

यह कोई बड़ी बात नहीं कि इस मुकदमे में मेरा क्या होता है। आदमियों का महत्व नहीं होता, आना-जाना लगा रहता है। जब मेरा वक्त पूरा हो जायेगा, तब मैं भी चला जाऊंगा। हिंदुस्तान में अंग्रेज हुकूमत ने मुझ पर मार कर मुकदमा चलाया और सजा दी। मेरी जिंदगी के बहुत से साल जेल की दीवारों में दफन हैं। अब यह आठवीं बार हो या नवीं बार, इससे कोई भी फर्क नहीं पड़ता। लेकिन हिंदुस्तान और उसके लाखों लड़कों-लड़कियों के साथ जो कुछ होगा, वह कोई हल्की बात नहीं होगी। यही सवाल मेरे सामने है और आखिरकार यही सवाल, महोदय, आपके सामने भी है। अगर ब्रिटिश सरकार यह सोचती है कि वह इसी तरह इन लोगों का शोषण करती रहेगी और उनकी इच्छा के खिलाफ उनसे खिलवाड़ करती रहेगी, जैसा कि इसने अब तक किया है तो वह बड़ी भारी गलती कर रही है। इसने मौजूदा हालात को नहीं समझा है और इतिहास से कोई सबक हासिल नहीं किया है।

मैं यह भी कहना चाहता हूं कि मुझे बड़ी खुशी है कि मेरा मुकदमा गोरखपुर में हो रहा है। गोरखपुर के किसान मेरे सूबे के सबसे ज्यादा गरीब किसान हैं और सालों से जुल्म बरदाश्त करते आ रहे हैं। ये किसान एक सौ पचास साल की ब्रिटिश हुकूमत का नतीजा हैं, उनकी गरीबी और उनकी तंगहाली उस हुकूमत को कोसती है, जिसने उनके साथ इन अनेक सालों में ऐसा बर्ताव किया है। मुझे खुशी है कि गोरखपुर आने और यहां की जनता की सेवा करने की जो कोशिश मैंने की, उसकी वजह से यह मुकदमा चलाया जा रहा है।

महोदय, आपने जो मुझे मौका दिया, उसके लिए मैं आपका शुक्रगुजार हूं।

कोर्ट का चार्ज

जवाहरलाल नेहरू ने 6 अक्तूबर को अपनी तकरीर में ऐसी बातें कहीं, जिनसे ब्रिटिश इंडिया में क्राउन रिप्रेजेंटेटिव या कानून से स्थापित सरकार के खिलाफ असंतोष भड़का और हिंदुस्तान की सुरक्षा या विश्वयुद्ध के कुशल संचालन के संबंध में जनता के व्यवहार पर बुरा असर पड़ा—भारत सुरक्षा कानून के नियम 38 (क) और उसके खंड 5 के तहत दंडनीय अपराध।

जवाहरलाल नेहरू

मैं इस मुकदमे में बहस बिल्कुल नहीं करना चाहता और मेरा खास मकसद और जिंदगी हिंदुस्तान में क्राउन रिप्रेजेंटेटिव और ब्रिटिश इंडिया में इस वक्त कानून से स्थापित सरकार के खिलाफ असंतोष फैलाना है।

पब्लिक प्रोसीक्यूटर

क्रिमिनल प्रोसीजर एक्ट के सेक्शन 256 के तहत कोर्ट को अगले दिन तक इंतजार करना चाहिए, जिससे एक्यूज्ड अगर प्रोसीक्यूशन विटनेस के साथ जिरह करना चाहता है तो उसे जिरह करने का मौका दिया जा सके। क्या मुकदमे की सुनवाई मुल्तवी की जाये और केस की सुनवाई आज बाद में फिर की जाये?

जवाहरलाल नेहरू

मैं किसी के साथ जिरह नहीं करना चाहता हूं। ऐसी रियायत क्यों? मैं रात भर में अपने इस रवैये में कोई तब्दीली नहीं करने जा रहा हूं, जो मैंने अपना रखा है।

कोर्ट

क्या तुमको कुछ और भी कहना है?

जवाहरलाल नेहरू

सरकारी वकील ने नाहक उस बात को साबित करने की जहमत की है, जो पहले से ही साबित है। जो कुछ मैं कहना चाहता हूं, उसे मैंने अपने बयान में कह दिया है। मैं फिर जोर देकर कहता हूं कि डिफेंस आफ इंडिया रूल्स एक सबसे बड़ी तौहीन है, जो किसी भी मुल्क के बारे में की जा सकती है। यह कानून के सरासर खिलाफ है और मैं ऐसी सरकार के अधीन नहीं रहना चाहता हूं।

31 अक्तूबर, 1940 को कैद होने के बाद 3 और 4 नवंबर को गोरखपुर में मुकदमे की रिपोर्ट।

हिंदुस्तान जाग उठा

हिंदुस्तान की खोज—लेकिन मैंने क्या खोज की? यह सोचना मेरी गुस्ताखी थी कि मैंने उस पर से पर्दा हटा दिया है और यह जान गया हूं कि वह आज क्या है और इससे पहले क्या था। आज उसमें चालीस करोड़ लोग रहते हैं। हर एक-दूसरे से जुदा किस्म का है। हर एक के अपने अपने ख्याल और विचारों की अपनी अपनी दुनिया है। जब आज ऐसी हालत है, तब उस गुजरे जमाने की जान लेना तो कहीं ज्यादा मुश्किल है, जिसमें अनगिनत पीढ़ियां गुजर चुकी हैं। लेकिन किसी चीज ने इसे जोड़े रखा था और यही चीज उसे आज भी जोड़े हुए है। हिंदुस्तान एक भौगोलिक और आर्थिक सच्चाई है, वह विभिन्नताओं के होते हुए भी एक सांस्कृतिक इकाई है, अंतर्विरोधों का एक गट्ठर है, जिसे बहुत से मजबूत लेकिन दिखाई न पड़ने वाले धागे आपस में बांधे हुए हैं। बार-बार हमले होने के बावजूद उसकी आत्मा कभी जीती नहीं जा सकी और आज भी उसकी आत्मा परास्त नहीं हुई है। जबकि वह एक निरंकुश विजेता के हाथों में खेल की चीज बना लगता है, वह अविजित है। सदियों पुरानी लोक कथा की तरह उसमें कोई ऐसी बात है, जो हमें भरमाये रखती है, ऐसा लगता है कि उस पर कोई जादू छाया हुआ है। हिंदुस्तान एक कल्पना है। वह एक विचार है। वह एक स्वप्न और एक ऐसा दर्शन है, जो बहुत ही वास्तविक और सजीव और विराट है। उसमें अंधेरी गलियों के दृश्य हैं, जिनमें हमें आदिम युग के अंधकार की झांकी मिलती है, लेकिन उसमें धूप की चहल-पहल और सेक भी है। उसका एक ऐसा जमाना भी रहा है, जिसे देख कभी कभी शर्म महसूस होती या नफरत होती है, कभी कभी उसकी शक्ल बिल्कुल विकृत और हठी दिखाई देती है और कभी कभी तो उन्माद की स्थिति तक आ जाती है। लेकिन हिंदुस्तान बहुत ही प्यारा मुल्क है और उसके लड़के-लड़कियां, चाहे वे कहीं भी क्यों न जायें या वे किसी भी हालत में क्यों न रहें, उसे भुला नहीं सकते। इसकी वजह यह है कि उनकी तमाम अच्छाइयां और खामियां उसकी हैं, जो उनकी आंखों में झलकती हैं, इन आंखों ने जिंदगी के जोश, खुशियों और गल्तियों को भरपूर देखा है और ज्ञान के स्रोत की थाह ली है। इनमें से हर एक उसकी ओर आकर्षित है। हालांकि हर एक के आकर्षण का सबब शायद जुदा जुदा है और कभी कभी तो इसका कोई खास सबब भी नहीं है। हर एक को उसके बहुपक्षीय व्यक्तित्व का एक अलग ही पहलू दिखाई

'इपीलॉग', *दि डिस्कवरी आफ इंडिया,* पृष्ठ 596-601 से

देता है। यहां हर युग में बड़े बड़े आदमी पैदा हुए हैं, जो अपने साथ पुरानी परंपराओं को साथ लेकर चले हैं, लेकिन उन्होंने उसे बदलते हुए समय के अनुरूप हमेशा ढाल लिया था। रवीन्द्रनाथ ठाकुर इसी विशाल परंपरा में थे, जिनमें मौजूदा जमाने की गर्मी और जोश था, लेकिन उनकी जड़ें हिंदुस्तान की पुरानी परंपरा में थीं। उन्होंने खुद अपने में नये और पुराने का समन्वय किया था। उनका कहना है, "मुझे भारत से प्रेम है, जो इसलिए नहीं कि मुझे उसके भौगोलिक आकार से लगाव है, न कि इस कारण कि संयोगवश मैं इस भूमि में जन्मा हूं, बल्कि इसलिए कि उसने अपनी उस वाणी को युगों युगों तक भारी उथल-पुथल के बीच भी सुरक्षित रखा है, जो इस देश में पैदा हुए महापुरुषों की ज्योतिषमती चेतना से मुखरित हुई थी।" बहुत-से और लोग भी ऐसा ही कहेंगे और कुछ हिंदुस्तान से अपने प्रेम का सबब कुछ और बतायेंगे।

ऐसा लगता है कि हिंदुस्तान पर से उसका यह पुराना जादू अब हटता जा रहा है और वह अपने चारों ओर के देशों को देख रहा है तथा मौजूदा जमाने के अनुसार अपने को ढालने की कोशिश कर रहा है। यह बदलाव जरूर आयेगा, लेकिन वह चाहे जितना भी बदले, उसमें पुरानी बातें तो रहेंगी और लोगों के दिलों पर छाई रहेंगी। उसकी पोशाक बदल सकती है, लेकिन वह वैसा ही रहेगा जैसा पुराने जमाने में था और उसे अपने ज्ञान के भंडार के कारण अपने उन तत्वों को संजोकर रखने में मदद मिलेगी, जो सत्य, सुंदर और शिव हैं...।

आजादी का सूरज उगने पर हिंदुस्तान फिर अपने स्वरूप में आ जायेगा। उस वक्त भविष्य का आकर्षण इतना अधिक होगा कि पिछले दिनों की मायूसी और जिल्लत नहीं रह जायेगी। वह विश्वास के साथ आगे बढ़ेगा और यही विश्वास उसकी रगों में होगा और उसके मन में दूसरों से सीखने और उनके साथ सहयोग करने की चाह होगी। आज वह अपने पुराने रीति-रिवाजों का आंख बंदकर पालन करने और विदेशों की नकल करने, इन दोनों के बीच झूल रहा है। इनमें से किसी भी ढंग से न तो उसे चैन मिल सकता है और न तरक्की या जिंदगी ही हासिल हो सकती है। यह बात साफ है कि उसे अपने दड़बे से बाहर आना और मौजूदा जमाने की जिंदगी और गतिविधियों में पूरा पूरा हिस्सा लेना होगा। साथ ही यह बात भी बिल्कुल साफ होनी चाहिए कि नकल के बल पर असली सांस्कृतिक और आध्यात्मिक उन्नति नहीं हो सकती है। यह नकल तो थोड़े लोगों तक ही महदूद रहेगी, जो जनता से, जिदंगी की रौ से अलग-थलग रहते हैं। सच्ची संस्कृति को दुनिया के हर कोने से प्रेरणा मिलती है, लेकिन वह अपनी ही धरती पर पैदा होती है और उसकी जड़ें जन जन में समाई रहती हैं। अगर हम कला और साहित्य के बारे में विदेशी ढांचे में सोचते रहें तो यह निर्जीव हो जाता है। वह जमाना गुजर गया जब संस्कृति छोटे छोटे वर्गों में बंटी रहती थी। अब हमें आम जनता के नजरिये से सोचना है और उनकी संस्कृति ऐसी

होनी चाहिए, जो पिछली परंपरा से विकसित होती चली आ रही हो और साथ ही उसमें नयी प्रेरणाएं और आध्यात्मिक प्रवृतियां भी हों।

फिलहाल हमें विदेशी जुए के नीचे रहना है, जो हम पर जबरदस्ती लदा हुआ है और उन सभी तकलीफों को बर्दाश्त करना है, जो इसके साथ जुड़ी हुई हैं, लेकिन हमारी मुक्ति का दिन दूर नहीं रह सकता। हम लोग किसी मामूली मुल्क के नागरिक नहीं हैं। हमें अपनी जन्म भूमि, अपनी जनता, अपनी संस्कृति और अपनी परंपराओं पर गर्व है। हमें यह गर्व अपने पुराने इतिहास के वैभव को लेकर नहीं करना चाहिए, जिससे हम चिपके रहना चाहते हैं। हमें इतना गर्व भी नहीं करना चाहिए कि हम अपने को अकेला समझने लगें और हममें अपने रीति-रिवाजों के अलावा दूसरों के रीति-रिवाजों को समझने की चाह ही खत्म हो जाये। इस गर्व की वजह से हमें अपनी कमजोरियों और खामियों को नहीं भुला देना चाहिए और इससे ऐसा भी नहीं होना चाहिए कि हममें अपनी कमजोरियों और खामियों को दूर करने की चाह ही खत्म हो जाये। हमें लंबी मंजिल तय करनी है और मौजूदा हालत से उठने के लिए काफी कोशिश करनी है, जिससे मानव सभ्यता और प्रगति के काफिले में, जो हमसे काफी आगे निकल गया है, अपने लिए सही जगह बना सके। हमें यह काम जल्दी करना है क्योंकि हमारे पास वक्त कम है और दुनिया की रफ्तार बड़ी तेजी से आगे बढ़ती जा रही है। हिंदुस्तान गुजरे जमाने में बाहर की संस्कृतियों का स्वागत करता और उन्हें अपने में खपा लेता था। आज इसकी ओर ज्यादा ध्यान देने की जरूरत है। इसकी वजह यह है कि हम ऐसी दुनिया की ओर बढ़ रहे हैं, जो एक होगी और जहां सभी संस्कृतियां मानव जाति की अंतर्राष्ट्रीय संस्कृति में घुली-मिली होंगी। इसलिए हमको जहां कहीं भी ज्ञान, विज्ञान की जानकारी मिलेगी, जिस किसी से भी दोस्ती, सहयोग मिलेगा, हम उन सभी को अपनायेंगे और सबके साथ मिलकर ऐसे काम करेंगे, जिनसे सबका हित होता है। लेकिन हम दूसरों की कृपा और संरक्षण के मुहताज नहीं होंगे। इस तरह हम सच्चे हिंदुस्तानी और एशियाई और साथ ही अंतर्राष्ट्रीयतावाद के सच्चे हामीदार व दुनिया के सच्चे नागरिक भी बनेंगे।

हिंदुस्तान में और दुनिया के बाकी हिस्सों में मेरी पीढ़ी के लोगों को काफी तकलीफों का सामना करना पड़ा है। हम थोड़े दिनों और रहेंगे, हमारा वक्त भी खत्म होगा। हमारी जगह अगली पीढ़ी आयेगी और वह अपनी जिंदगी शुरू करेगी और अपने बोझ को इस सफर के अगले मुकाम तक ढोयेगी। हमने इस पुरानी और नयी पीढ़ी के बीच के दौर में, जो खत्म हो रहा है, क्या अपनी जिम्मेदारी पूरी की है? मैं क्या कहूं? यह तो अगली पीढ़ी ही बतायेगी। हम अपनी कामयाबी और नाकामयाबी को किन पैमानों से तौलते हैं? मैं यह भी नहीं जानता। हम यह शिकायत नहीं कर सकते कि जिंदगी ने हमारे साथ अच्छा सलूक नहीं किया है क्योंकि हमने यह जिंदगी अपने आप चुनी है और शायद इसीलिए

यह जिंदगी आखिरकार इतनी खराब भी नहीं रही। जिंदगी के बारे में वही कुछ कह सकते हैं, जो अक्सर कगार पर खड़े होते हैं, जिनको अपनी जिंदगी में मौत का कोई खतरा नहीं सताता। हमने बहुत-सी गलतियां की हैं, लेकिन उनके बावजूद हम छोटी छोटी बातों से दूर रहे हैं, हमने कोई ऐसा काम नहीं किया है जिससे हमें अपने मन में अफसोस हो, हमने खुलकर मुकाबला किया है। हममें से हर एक के लिए यही फख्र की बात है।

"आदमी की सबसे ज्यादा प्यारी दौलत जिंदगी है और चूंकि आदमी को जिंदगी सिर्फ एक बार ही मिलती है, इसलिए उसे यह जिंदगी इस ढंग से बितानी चाहिए कि बाद में इस बात का पश्चाताप नहीं करे कि उसने अपनी जिंदगी ओछे तरीके और बुजदिली से बिताई थी। उसे इस तरह नहीं रहना चाहिए कि बाद में बरसों तक यही दुख सालता रहे कि उसकी जिंदगी उद्देश्यहीन रही, उसे इस तरह रहना चाहिए कि मरते वक्त वह यह कह सके—मैंने अपनी सारी ताकत, अपनी सारी जिंदगी दुनिया के सबसे बड़े आदर्श—मानव जाति की आजादी के लिए निछावर कर दी।" (निकोली आस्त्रोव्स्की)

प्रकृति की गोद में

अब मैं कुछ अपने बारे में लिखूंगा। यहां मैं अब भी एक छोटे से तंबू में हूं। ऐसा लगता है कि बाहर बड़ी जोरों से पानी आनेवाला है। असल में अभी तक यहां सिर्फ एक बार भारी बरसात हुई है। शायद इसके बाद झड़ी लग जाये और मुझे इसी तंबू में बंद रहना पड़े और आसमान देखना नसीब नहीं हो। हवा बिल्कुल बदल गयी है। जैसे बरसात का मौसम शुरू हो चुका है। हम लोग गांवों में इन दिनों को चौमासा कहते हैं।...

मैं करूं तो क्या करूं। तुमने शायद गांव के पुराने बूढ़े आदमी का किस्सा सुना होगा। जब उससे यह पूछा गया कि आप बूढ़े होने पर क्या करते हैं। तब वह बोला, "भई, मैं तो आराम से रहता हूं, कभी.कभी उठकर कुछ सोचता हूं और कभी कभी बस यूं ही पड़ा रहता हूं।" यह हाल हमारे किसानों का ही नहीं है, बल्कि ज्यादातर उन लोगों का भी है, जो पढ़े-लिखे कहे जाते हैं। मेरा ख्याल है कि ये लोग बस यूं ही पड़े रहते हैं। मुझे इस तरह पड़े रहना या हाथ पर हाथ रखकर बैठना बिल्कुल पसंद नहीं है, चाहे मैं जेल में ही क्यों न होऊं। लेकिन मुझमें पिछले कुछ महीनों से कुछ बदलाव आ गया है। ऐसा नहीं है कि यह बदलाव अपने आप आ गया, बल्कि मैं तो यही चाहता भी था। अब मैं सिर्फ किताबी दुनिया में रहने के साथ साथ हाथ से काम करने लग गया हूं। मैं सिर्फ किताबी कीड़ा बनकर रह गया था। मेरा वक्त ज्यादातर या तो पढ़ने में या पढ़ने और लिखने में बीतता। तंबू से बाहर निकलकर मेहनत का काम करने और घूमना शुरू करने से मेरा झुकाव अब एक ही तरफ नहीं रह गया। जेल में ऐसे काम करने की मुमानियत होने से मैं बहुत ज्यादा बौद्धिक बन गया था। हालांकि, पिछले दिनों में कताई और बुनाई वगैरह का काम करने से मुझे कुछ न कुछ राहत अवश्य मिल जाती थी। मुझे ये काम पसंद थे, लेकिन ये मुझे फालतू लगते थे, मेरा खास काम था पढ़ना और लिखना। तुम जानती ही हो कि तुम्हारे बहाने मैंने अपनी पिछली मियाद में 1500 छपे हुए पन्ने लिखे। ऐसा अब नहीं है। मैंने इस बार कम पढ़ा और थोड़ा-सा भी बहाना पाकर मैं अपनी किताब बंद कर देता हूं। इस बदलाव में मुझे इस तंबू से मदद मिली, जिसमें मैं रखा गया हूं। बाहर आसमान में बादलों को देखकर भी मुझे बाहर रहना अच्छा लगता है। जब मैं शाम को पांच बजते

इन्दिरा नेहरू को 5 जुलाई, 1935 और 2 अगस्त, 1935 को लिखे पत्रों में से। *सेलेक्टेड वर्क्स,* भाग 6, पृ. 390-91 पर संकलित

ही तुरंत अंदर कर दिया जाता था, तब मेरे पास पढ़ने के सिवाय और दूसरा चारा ही नहीं रह जाता था। आजकल मैं अपने अहाते में इधर-उधर घूम सकता हूं। मेरे हाथों में खुरपी होती है और मैं फूलों की अपनी क्यारियों की मिट्टी को गोड़ा करता हूं।

मैं हमेशा बहुत कुछ एक विद्यार्थी रहा हूं। मैंने हर चीज को समझने की कोशिश की है, लेकिन मेरी यह कोशिश सिर्फ किताबों तक रहती थी और इसका ताल्लुक बुद्धि तक रहा है। कभी कभी दिल के पहलू से भी इसका संबंध रहा है। मैंने जनता की भीड़ से भी कुछ न कुछ सीखा है और जनसमूह के मनोविज्ञान को भी परखने की कोशिश की है। लेकिन हाल में ऐसा लगता है कि मैं प्रकृति की ओर खिंचता चला जा रहा हूं और मुझे पेड़-पौधे और जानवर लुभावने लग रहे हैं। हो सकता है कि यह इंसानी कमजोरियों, डर और बेईमानी से बचने का एक बहाना हो। लेकिन मुझे जैसे प्रकृति ने अपने वश में कर लिया है। जिन चीजों की परवाह नहीं किया करता था, मैं अब उन चीजों को गौर से देखता हूं। मुझे ऐसा लगता है कि मेरे चारों ओर हर चीज में जान है और वह बराबर हरकत में है। मुझे लगता है कि लता की तरह बढ़ने वाले पौधों की कोंपल आगे बढ़ने की कोशिश कर रही है, इसमें कितनी फुर्ती और कितना जोश है। कभी कभी लगता है कि यह कोई जानवर है और मेरी ओर लाल लाल आंखों से घूर रहा है, कभी कभी लगता है कि यह किसी पालतू जानवर का छोटा-मोटा बच्चा है, जिस पर मुलायम रोयें हैं। ऐसा लगता है कि यह खड़ा हो उचक रहा है और कुछ पकड़ना चाहता है। और लगता है कि यह एक सांप है, जिसके गोल गोल छोटा-सा फन और आंखें हैं। इसने कुंडली मार ली है और यह किसी चीज को पकड़े हुए है। मंत्रमुग्ध हो, मैं इसे देखता हूं।

मैं सोचता हूं कि यह बदलाव मेरे लिए एक शुभ संकेत है। मेरी उम्र पक रही है, लेकिन मैं अब भी कुछ सीखता जा रहा हूं। मेरी जिंदगी का कुदरत से मेल होता जा रहा है। यह फर्क सिर्फ इंसानों की जिंदगी में ही नहीं मिलता। तीन साल पहले एक बहुत बड़े आदमी की मौत हुई थी। इसके बारे में बहुत कम लोग जानते हैं। वह स्काटलैंड का था, उसका नाम था पैट्रिक गेडेज। यह आदमी कई बातों में अनोखा था। वह एक बार इलाहाबाद आया था और उसने इस शहर की व्यवस्था के बारे में एक योजना तैयार की थी। वह एक महान शिक्षा सुधारक था और वह तीन बातों अर्थात पढ़ने, लिखने और गणित जानने के बजाय दिल, हाथ और दिमाग के इस्तेमाल पर जोर देता था। वह कहता था कि बच्चों को कुदरत की दुनिया, इंसान के बारे में असली जानकारी होनी चाहिए, उनमें जिंदगी, प्रकृति के सौंदर्य, इंसान के दिल और दिमाग की असली समझ होनी चाहिए। किसी भी बच्चे के विकास के बारे में पहली कोशिश उसके दिल और उसके नर्म नर्म ख्यालों का सहारा लेकर की जानी चाहिए—जैसे मां-बाप का लाड-प्यार, खुली हवा और सूरज की रोशनी में खेलने की तमन्ना। ज्यों ज्यों बच्चा बड़ा होता जाता है, तब हाथों की बारी आती है। उसे

बाग-बगीचे में कुछ काम करने का या छोटी-मोटी चीजें बनाने का मौका दिया जाना चाहिए। आखिर में दिमाग की बारी आती है। यह एक अचंभे की बात है कि जिस बच्चे ने दिल और हाथों से सीखने की अवस्था पूरी कर ली होती है, उसका विकास बड़ी तेजी से हुआ—उसका विकास उस बच्चे के बनिस्बत ज्यादा तेजी से हुआ, जिसका विकास सिर्फ बौद्धिक पढ़ाई से शुरू हुआ था। लेकिन इससे ज्यादा महत्व की बात यह है कि इस तरह के बच्चे ने अपने में एक ऐसी शख्सियत का विकास किया, जिसे पूरी तरह समेकित शख्सियत कहा जाता है। उसकी शख्सियत का जिंदगी और कुदरत के साथ पूरा मेल होता है, यह उस शख्सियत से बिल्कुल उल्टी होती है, जो हमेशा झगड़ालू, असंतुष्ट और हमेशा शिकायत करती रहती है।

मुझे यह देखकर बड़ा ताज्जुब होता है कि लोग किस तरह जिंदगी के सौंदर्य के साथ साथ उसकी भयानक तकलीफों की ओर से बिल्कुल बेखौफ बने रहते हैं। यह एक अजीब-सी बात है कि लोग इन सब बातों की ओर किस तरह अपनी आंखें मूंदे रहते हैं और कुछ भी महसूस नहीं करते। मेरा ख्याल है कि हिंदुस्तान में हमारे मध्यम वर्ग के लोग इस गुण में काफी आगे हैं। मुझे एक छोटी-सी कविता याद आ रही है, जो शायद तुम्हें अच्छी लगे। यह आज की कविता है—मुझे इसके रचयिता का नाम याद नहीं है। कहा जाता है कि यह कविता रेल से सफर करते हुए बाहर किसी स्त्री को देखकर लिखी गयी थी :

अरे, इन हरे-भरे खेतों में तुम क्यों दस्ताने पहने घूम रही हो,
तुम सब कुछ खो ही तो रही हो
मोटी, भारी-भरकम गौरी कोई भी तो नहीं तुम्हें करता प्यार
इन हरे-भरे खेतों में तुम क्यों दस्ताने पहने घूम रही हो।
यह घास इतनी नर्म
कि किसी कबूतर की छाती पर उगे पंखों के-से ज्यों रोएं
जो अच्छे लगते और छूने में जाते हैं सिहर सिहर
इन हरे-भरे खेतों में तुम क्यों दस्ताने पहने घूम रही हो,
तुम सब कुछ खो ही तो रही हो।

तुम्हें इस तरह के बहुत-से आदमी-औरतें मिलेंगी। हिंदुस्तान में लोगों में दस्ताने पहनने का रिवाज तो नहीं है, लेकिन यहां इस तरह के लोग हजारों की तादाद में मिलते हैं।

इन्दिरा को एक पत्र

प्यारी बेटी इन्दू,

न जाने मैंने फिर से तुम्हें चिट्ठियां लिखना क्यों शुरू कर दिया—और आज भी हर दिन की तरह लिख रहा हूं। यह खत तुम्हारे यहां मामूली तौर से भेजे जाने के लिए नहीं है। पता नहीं यह तुम्हें कब मिलेगा। मुझे यह भी नहीं मालूम कि अब तुमसे कब भेंट होगी। लेकिन तुम्हें खत लिखना मेरी जैसे आदत बन गयी है, जिसे मैं छोड़ना चाहूं तो भी नहीं छोड़ सकता। मुझे उम्मीद है कि यह खत कभी न कभी तुम्हें जरूर मिलेगा।

जेल से लिखे गये खतों को भी खोटी नजर से देखा जाता है, इन खतों की हर लाइन की बड़े गौर से छानबीन की जाती है और उनके बहुत-से हिस्सों पर नीली पैंसिल लगा दी जाती है या उन्हें बिल्कुल ही काला कर दिया जाता है। ऐसी हालत में कोई अपनों को सचमुच जाती खत कैसे लिख सकता है? महीने बीत गये, मैंने यहां से एक या दो खत को छोड़कर, जो सिर्फ रस्मी थे, कोई भी खत नहीं लिखा। मैं सरकार के इस रवैये से खीझा हुआ था कि मेरे खतों के कई हिस्सों पर काली स्याही क्यों फेर दी जाती है और क्यों उन्हें पढ़ने के काबिल ही नहीं रखा जाता, हालांकि मेरे इन खतों में सरकार के खिलाफ कोई बात नहीं लिखी होती थी और ये खत बिल्कुल जाती होते थे। और इसी खीझ की ही वजह से मैंने तब भी कोई खत नहीं लिखा, जब सरकार ने मुझ पर से पाबंदी हटा ली और मुझे खत लिखने की इजाजत भी मिल गयी थी। मैं शायद तुम्हें खत लिखता भी, लेकिन तुम्हारा कोई पक्का पता नहीं था क्योंकि तुम इंग्लैंड से हिंदुस्तान के लिए कभी भी रवाना हो सकती थीं।

सेंसरशिप का यह तरीका कोई नया नहीं है, लेकिन जेल में और सिविल नाफरमानी के आंदोलन की वजह से यह दस गुना बढ़ा दिया गया है। जब से यह आंदोलन शुरू हुआ तब से पिछले बीस सालों में मुझे हमेशा यह ख्याल बना रहा कि मेरे खत सेंसर और दूसरे अधिकारियों द्वारा पढ़े जाते हैं। सियासी तौर पर जब कभी आंदोलन ढीला रहा, तब भी कुछ न कुछ सेंसरशिप जरूर होती रही। हो सकता है कि मेरे सभी खत सेंसर नहीं किये गये हों तो भी इनमें से कुछ तो हमेशा किये गये। मैं इस वजह से उतना खुलकर नहीं

देहरादून जेल से 15 मई, 1941 को लिखे एक पत्र से। *सेलेक्टेड वर्क्स,* भाग 11, पृष्ठ 591-94 पर संकलित

लिख सकता जितना कि चाहता था। मेरी सियासी जिंदगी और मेरा तरीका ऐसा रहा कि जिसमें कोई भी बात छिपाकर नहीं रखी जाती क्योंकि यह जरूर है कि कुछ बातें ऐसी जरूर होतीं, जिन्हें में गला फाड़कर नहीं कहता। लेकिन जब कभी जाती मामलों की बात आती, तब बात दूसरी हो जाती।

मेरी जिंदगी में कोई ऐसे गहरे राज नहीं रहे हैं कि जिन्हें मैं लोगों की आंखों से छिपाकर रखना चाहता हूं। लेकिन जैसे हर आदमी लोगों के बीच अपने दिल और दिमाग की बातों को फूहड़ तरीके से नहीं कहना चाहता, वैसे ही इन बरसों में मैंने जब जब चिट्ठी लिखने के लिए कलम उठाई, तब मेरी कलम खुद-ब-खुद अपने काबू में रही और बराबर यह ख्याल बना रहा कि इस चिट्ठी को न जाने कितने गैर जानिकदार लोग पढ़ेंगे। मैं बात को बहुत कुछ साफ कर लिखता और मेरा हर लफ्ज बंधा बंधा रहने पर भी उन बातों को कुछ न कुछ जरूर कह देता था, जो मेरे दिल और दिमाग में छिपी होती थीं। लेकिन यह सिर्फ धुंधली तस्वीर होती थी और इससे कभी कभी चिढ़ भी होती क्योंकि ऐसी हालत में यह शक बराबर बना रहता कि कोई न कोई बात छिपाकर जरूर रखी गयी है।

हम लोगों के चारों ओर सेंसरशिप के इस कठघरे की वजह से और कुछ इस वजह से कि जिससे मैं कछुए की तरह अपनी भीतरी दुनिया में कुछ और ज्यादा सिमट गया था, उससे भी पहले मेरे बर्ताव और बातचीत में कुछ संजीदगी पैदा हो गयी थी। मेरा ख्याल है कि यह संजीदगी मानो मेरा बचाव करती थी क्योंकि मुझे इस बात का हमेशा अंदेशा रहता कि मैं जज्बाती होने की वजह से काफी कुछ कह जाता हूं। तुम सोचोगी कि मैं भी कैसा आदमी हूं, जो जज्बाती होने के लिए खुद ही को कोस रहा है क्योंकि अब तो मैं एक ऐसे अंडे की तरह सख्त हो गया हूं, जिसे गरम पानी में खूब उबाल दिया गया है, और मैं अब शायद ही जज्बाती रह गया हूं। लेकिन यह सख्ती सिर्फ सतह पर ही है और इस सतह के नीचे भावनाओं का जैसे एक विशाल समुद्र ठाठें मार रहा है, जिससे कि मुझे कभी कभी डर लगने लगता है। भावनाओं के इस समुद्र पर अनुशासन की जिंदगी और दिमाग और जिस्म की एक ऐसी पुख्ता ट्रेनिंग ने बर्फ की जैसे एक सख्त परत डाल दी है, जिससे उसका इस्तेमाल उस मकसद को पूरा करने के लिए किया जा सके जो मैंने सोच रखा है, और कुल मिलाकर मैं अपने आप को अब बिल्कुल महफूज समझता हूं। इससे मुझ में कुछ कुछ आत्मविश्वास पैदा हो गया है और जब कभी कोई संकट या दिक्कत आती है, तब उससे मेरे सोचने में कोई उलझन नहीं पैदा होती और मैं परेशानी महसूस नहीं करता। लेकिन कभी कभी यह परत चटख उठती है और मैं उलझन में पड़ जाता हूं।

इस डर के अलावा कि मैं कहीं अपनी आदत के मुताबिक जज्बातों में न बह जाऊं, एक दूसरी वजह से भी मैं अपनी दुनिया में और ज्यादा सिमटता गया—मेरी अपनी दुनिया

के चारों ओर मैजिनो लाइन जैसी दीवार खड़ी होती गयी, जिसे आसानी से पार कर अंदर नहीं आया जा सकता था। मैंने महसूस किया कि अगर मैंने इसमें थोड़ी भी ढील दी तो दूसरों पर इसका काफी दूर तक असर पड़ सकता है और इसके जो नतीजे हो सकते हैं, उनके बारे में सोचकर घबड़ा उठा। मैं उनके मुताबिक सुलूक नहीं कर सकता था और बेशक, वैसा करने का मेरा इरादा भी नहीं था। इस तरह मैंने दूसरों को बिला वजह तकलीफ पहुंचाई और उसके लिए अपने को कसूरवार ठहराया। और इसके बाद मैं सिमटकर फिर अपनी दुनिया में चला जाता और वहीं से बाहर लोगों को देखा करता।

तुम कहोगी कि पापू यह क्या कर रहे हैं। अपने बारे में अभी इतना लिखने की क्या जरूरत आ पड़ी है। सचमुच मैं खुद को ही नहीं जानता। महीनों से मेरे दिमाग में बहुत-सी बातें चक्कर काट रही थीं और अब जैसे सिर फट पड़ता है। कोई ताज्जुब नहीं कि अगर मैं इन सब ख्यालात को लिख डालूं तो एक मोटी किताब बन जायेगी। यह मेरे ख्याल कोई तरतीब से नहीं लिखे गये हैं, जैसे तब होता जब मैं कोई किताब लिखता। इस वक्त तो यह ख्यालात जैसे एक-दूसरे को आगे ठेलते हुए उमड़ते आ रहे हैं और यह बेचारी कलम पूरी कोशिश में है कि इन्हें मैं लिख डालूं। मैं कोई किताब नहीं लिख रहा हूं और शायद कुछ और दिनों में भी मैं कोई किताब नहीं तैयार कर सकूं। मैं हफ्तों लिखने की सोचता रहा। कभी कभी तो तय कर मैं लिखने के लिए बैठा भी। लेकिन मैं कुछ भी शुरू नहीं कर सका। जैसे जैसे दिन गुजरते गये, यह और भी मुश्किल होता गया।

ऐसा क्यों? मैं कोई इधर-उधर की बात तो लिख नहीं सकता, अगर सियासी या किसी ऐसे मामले पर लिखना हो, जिसका मेरी जाती जिंदगी से कोई संबंध न हो, तब बात दूसरी है। यह उस आदमी के लिए तो और भी मुश्किल हो जाता है, जो सियासी मामलों में खुल कर दखल कर रहा है। हो सकता है कि वह हर बात न कहे, जो वह कहना चाहता है या वह अपने साथियों के साथ या विरोधियों से खुलकर बहस भी न करे क्योंकि उसे हर नतीजे पर पहले से गौर कर लेना होता है। तब उसे बोलने या लिखने से पहले सोच समझकर हर लफ्ज को तौल लेना होता है। ताज्जुब है कि इन सब बंदिशों से घिरी एक तंग जगह में हमारी आवाज किस तरह बंद रहती है, सलाखें हमें चारों तरफ से घेरे रहती हैं और हम अपने को हमेशा जेल में बंद पड़ा हुआ पाते हैं।

मैं सोचता हूं कि मैंने अपने बारे में 'एन आटोबायोग्राफी' में जो कुछ लिखा है, वह जितना कि मुझसे हो सकता था, मैंने अपनी जिंदगी के सियासी और जाती पहलुओं के बारे में काफी कुछ खुलकर और सच सच लिखा है। शायद यह ऐसी ही और किताबों के जैसा हो। मैंने इस किताब में अपने दिल की सारी बातें खोलकर ऐसी घड़ियों में लिखी हैं, जब कि मैं अपने काबू में नहीं था। मैंने सब कुछ लिखा, फिर भी बंदिशें और रोक तो थी हीं और बहुत-सी ऐसी बातों को भी पीकर रह गया, जिन्होंने मेरे दिल और दिमाग

में तूफान मचा रखा था। उस हद तक मैं सच्चा नहीं रहा। यह खासतौर से हर किताब के आखिरी कुछ पन्नों को लिखते हुए हुआ, जिनका ताल्लुक मेरी जाती जिंदगी से है। मेरे लिए हर एक, खास तौर से सारी दुनिया, के सामने अपने को खोलकर रखना नामुमकिन था।

लेकिन 'एन आटोबायोग्राफी' लिखने के बाद इन हर सालों के वाक्यात का मुझ पर जबरदस्त असर हुआ है। मुझे घरेलू जिंदगी और सियासी जिंदगी में भी जबरदस्त झटके लगे हैं, मैंने अपने कुछ उसूलों को खोखला पाया और अपने बहुत ही प्यारे दोस्तों को भी अपने से अलग होते देखा। मैं इन सब मुश्किलों में भी, जिन्हें जो समझो कि बहुत भारी मुश्किलें थीं, बचा रहा। मैं सिर्फ पचास एक साल का नहीं हूं। मैं कभी कभी बेहद थका महसूस करने लगता हूं, लेकिन तब भी मैं अपने को चुस्त रखता हूं। फिर भी मुझे लगता है कि मैं दिमाग से कोई सौ साल बूढ़ा हो गया हूं और मैं इन सौ सालों के बोझ से दबा हुआ हूं। अगर हमें अक्ल आने की शुरुआत समझा जाये, तब मैं सरस्वती के मंदिर तक आ पहुंचा हूं जिन्हें विद्या की देवी कहा जाता है। लेकिन अक्ल और तजुर्बे भरी इस जिंदगी के बजाय, जहां बड़ी मुश्किल से पहुंचा हूं, मैं अपने बचपन की उस जिंदगी में वापस आना चाहता हूं, जब मेरे दिल और दिमाग पर कोई बोझ नहीं रहता था और जो एक हल्की-फुल्की जिंदगी होती थी।

इन छह सालों में जो कुछ मुझ पर गुजरा है, उसकी हर बात लोगों के लिए न तो मैं लिख सकता और न ही बता सकता हूं। और अगर मैं ऐसी बातों को छोड़ दूं जो मेरे लिए सचमुच बड़ी अहमियत रखती हैं, तब क्या बचा रहता है? ये छह या सात साल मेरी अपनी घरेलू जिंदगी के रहे हैं, जिसमें कमला है और तुम हो। इसके पहले भी तुम दोनों ने मेरी जाती और घरेलू जिंदगी में काफी हद तक असर डाला है। लेकिन हर आदमी अपनी नौजवानी में बेपरवाह रहता है, हमारी आपसी खटपट भी याद नहीं रहती। इसके अलावा मैं तीस साल की उम्र तक पहुंचने के पहले तो बहुत ही तेज मिजाज का था। मैं जैसे आग की चिनगारी था। मेरी यह चिनगारी मुझमें हमेशा फूटती रहती थी और मुझे हमेशा चलाये रखती थी, इसकी वजह से मैं बाकी मामलों पर, यहां तक कि उन मामलों के बारे में भी जो मेरी घरेलू जिंदगी में नजदीकी रिश्ते से ताल्लुक रखते थे, कोई ध्यान नहीं देता था। असल में मैं किसी के साथ अपना नजदीकी रिश्ता नहीं कायम कर सका, मैं अपनी दुनिया और ख्यालों में खोया रहता, जो मुझे पागल किये रहते थे। धीरे धीरे मेरा ध्यान दूसरी बातों की ओर भी गया। तब मैंने महसूस किया और अब और भी ज्यादा महसूस करता हूं कि मैं किस कदर एक दुश्वार आदमी था, जिसका किसी के साथ तालमेल क्योंकर होता। मेरी वे अच्छाइयां, जिनकी वजह से मैं सियासी मामलों में काफी कारगर रहा, घरेलू जिंदगी में मेरी खामियां बन गयीं। लेकिन फिर मैंने देखा कि जिन लोगों की मैंने कभी परवाह नहीं

की, उन्होंने खुशी खुशी मुझे और मेरे पागलपन की हरकतों को बर्दाश्त किया। इससे मुझे बेहद खुशी हुई। जैसे जैसे मुझमें और समझ आती गयी, मैं उन लोगों के काफी नजदीक आता गया जिन्हें मैं दिल से चाहता था और मैं उनकी तरफ खिंचने लगा। इसी बीच जेल जाने की घड़ियां आ गयीं, काफी दिनों तक जेलों में रहा, मेरा अपने इन लोगों से मिलना-जुलना भी मना कर दिया गया। सन् तीस के बाद इन्हीं दिनों मैंने सैकड़ों चिट्ठियां लिखीं, जो बाद में 'ग्लिम्पसेज आफ वर्ल्ड हिस्ट्री' किताब की शक्ल में सामने आयीं। मुझमें अपने लोगों को जानने की जो प्यास रहती थी, ये चिट्ठियां उसी प्यास को बुझाने के लिए मेरी एक कोशिश थीं।

दादू का इंतकाल हुआ। मैं उनकी बहुत इज्जत करता और प्यार करता था, मुझे उन पर और उन्होंने हमारे खानदान के लिए जो परंपराएं बनायीं, उन पर नाज रहा। यह बहुत बड़ी काबलियत, बहुत बड़ी दिलेरी, सहनशीलता और महान त्याग की निशानी थी। इस सबका मकसद हिंदुस्तान की सेवा करना था। मेरी यही ख्वाहिश रही कि जितना हो सकता है, मैं इस परंपरा को आगे भी बनाये रखूं...

गांधी जी को एक पत्र

प्रिय बापू,

मुझे अपने उद्वेगों को अपने काबू में रखने की शिक्षा दी गयी है। हर किसी के सामने अपनी कमजोरियों को कबूल करने या किसी से छिपाकर कुछ कहने की मेरी बिल्कुल भी आदत नहीं रही है। मेरी जिंदगी अकेली रही है। इसमें अगर कभी कोई दखल कर सकता था, तो वह कमला थी। कुछ ही लोगों को यह मालूम हो या कुछ ही यह समझ सकते हों कि मैं कमला को कितना चाहता था। इस बारे में कुछ कहना या लिखना महज बेवकूफी है, लेकिन शादी के बाद मैंने अपनी जिंदगी में कमला को बेहद चाहा। ऐसा क्यों, यह मैं नहीं जानता, बात बड़ी सीधी है और इसकी कोई वजह भी नहीं हो सकती। यह इसलिए नहीं कि वह मेरी पत्नी थी या उसमें कुछ अच्छाइयां थीं। किसी आदमी के किसी औरत को प्यार करने की यह कोई वजह नहीं होती है। दोनों में एक-दूसरे के लिए ललक हो सकती है, साथ साथ रहने और एक-दूसरे की मिजाजपुर्सी करते रहने की वजह से एक-दूसरे से आपस में संतोष हो सकता है। लेकिन प्रेम, जैसा मैंने समझा है और जैसा मुझे मिला है, वह कुछ जुदा चीज है, उसमें एक अजीब बिजली-सी होती है, वह कुछ ऐसी चीज है जो कभी कभी बेहद तकलीफ भी देती है। यह किसी फर्ज को पूरा करना नहीं है और न किसी जिम्मेदारी को निभाना है। अगर कोई यह कहे कि फलां मर्द या औरत से प्यार करना मेरा फर्ज रहा है तो मैं इन बातों से नफरत करता हूं। मैं कोई लेन-देन नहीं करना चाहता...।

शादी और सेक्स के बारे में मेरे ख्याल आपको अजीब लगें चूंकि यह आपके ख्यालों से बिल्कुल जुदा हैं। मेरी अपनी जिंदगी में शादी एक अजीब वाकया थी। मैं सोचता हूं कि जिनकी शादी हुए काफी दिन बीत चुके हैं और जिनका चित्त स्थिर हो चुका है, उनके लिए यह अजीब-सा लगेगा। मैं अक्सर कमला से झुंझला पड़ता था और उससे झगड़ता भी था। लेकिन जब जब हम एक हुए, तब तब मुझमें एक बिजली-सी दौड़ जाती थी। पब्लिक के कामों में बेहद उलझे रहने और इन कामों की धुन सवार रहने, घर से दूर रहने और अक्सर जेल जाने की वजह से मैं एक अच्छा शौहर नहीं रहा। फिर भी हम दोनों

देहरादून जेल से 24 जुलाई, 1941 को लिखे एक पत्र से। *सेलेक्टेड वर्क्स,* भाग 11 में पृ. 658-59 पर संकलित

के रिश्ते में कुछ जादुई बात थी। वह मेरे लिए एक अजूबा थी और मैं भी उसके लिए एक अजूबा था। शुरू शुरू में उसमें जो ताजगी और अजूबापन था, वह कभी भी कम नहीं हुआ। हम लोगों की उम्र जरूर बढ़ती रही, लेकिन हम एक-दूसरे के लिए हमेशा बिल्कुल नये लगते। मन की इस बात को किसी से, और खासतौर से आपसे, कहना बड़ी बेतुकी-सी बात है क्योंकि मर्द और औरत के बीच के रिश्ते के बारे में आपके ख्याल मुझे, मुझे बहुत ही निराले लगे। मैं पुराने आदर्शों को मानता हूं, लेकिन मैं आपकी तरह नीति-अनीति के झगड़े में नहीं पड़ता। मैं पुरानी संस्कृति के साथ साथ जिंदगी के बारे में प्राचीन विद्वानों के दृष्टिकोण, हर चीज के साथ साथ जिंदगी को भरी पूरी समझने का, उनके रवैये और अच्छाइयों और कमजोरियों के साथ साथ इंसान के स्वभाव को अच्छी तरह पहचानने की उनकी पकड़ का, बहुत ही कायल रहा हूं।

मुझमें हिंदुस्तान के बारे में आकर्षण बढ़ता जा रहा है और मुझे हमेशा उसमें नयी नयी बातें मिलती हैं। मुझे लगता है कि हम जैसे किसी की खोज के लिए समुद्र का सफर कर रहे हैं, जिसका कोई छोर नहीं। लेकिन फिर भी लोग मुझे यूरोप का रहनेवाला या एक अंग्रेज कहते हैं, जो शायद मेरे तौर-तरीके के सबब से हो। किसी कदर वह ठीक भी है, लेकिन असलियत यह नहीं है। मैं हिंदुस्तान को तहे दिल से चाहता हूं, लेकिन मैं इसका बयान नहीं कर सकता। मुझे हिंदुस्तान के लोगों से कभी भी कोई शिकायत नहीं रही है, जो शायद इसलिए कि मैंने उनसे किसी बड़ी बात की उम्मीद नहीं की। लेकिन मुझे अपने मझले तबके के (मेरे जैसे) लोगों पर अक्सर झुंझलाहट होती है और उन पर अफसोस भी होता है, जिन्होंने जिंदगी के, सुंदरता के और जो कुछ जिंदगी के लिए बुनियादी तौर पर जरूरी है, उस सबको भुला दिया है। उनका फूहड़पन, उनकी कमजोरियां और उनका तंग रवैया देखकर मुझे बेहद अफसोस होता है। वे छोटी छोटी चीजों के लिए अपने आप को बेचने के लिए हमेशा तैयार रहते हैं।

मैं यहां आराम से हूं और हमेशा की तरह भला चंगा हूं, हालांकि मेरी उम्र बढ़ रही है, तो भी मैं अपने को बहुत नौजवान पाता हूं। कभी कभी मुझे ताज्जुब होता है कि क्या मैं सचमुच 51 साल का हो गया हूं। मुझे यकीन नहीं होता। मुझे फिक्र नहीं है या यूं कहूं कि मैं कम फिक्र करता हूं। पहले जब भी मैं जेल में था, मैंने इतना सुकून कभी नहीं महसूस किया। पढ़ने, चरखा कातने, और तरह तरह के कामों में आराम से दिन बीत जाते हैं। मुझे मौजूदा दिनों की ज्यादा फिक्र नहीं, मैं चाहे कुछ भी करूं लेकिन मैं हमेशा आनेवाले कल के बारे में सोचता रहता हूं। मैं सोचता हूं कि यह दुनिया आगे कैसी होगी और उसमें हिंदुस्तान कैसे और कहां फिट होगा। लोग चीजों को हासिल करने के लिए इतना क्यों बेचैन रहते हैं, उनको क्योंकर इस बात का अंदेशा रहता है कि अगर उन्हें उनकी चीजें अभी नहीं मिलीं, तब ये कभी भी नहीं मिलेंगी? क्या वे यह नहीं महसूस करते कि हम

जमाने के आखिर में पहुंच गये हैं और अब औसत सियासतदानों की तरह छोटी छोटी बातों पर नुक्ताचीनी करने और सियासी दांवपेंच के लिए कोई गुंजाइश नहीं है? इस जमाने में कोई चीज छिपी नहीं रह सकती और ताकत का ही बोलबाला है। यह ताकत हथियारों की हो सकती है, जो कानून और वकीलों से परे की बात है। यह ताकत रूहानी ताकत भी हो सकती है, लेकिन यह भी कायदे और कानून से जुदा बात है। जो लोग या कौम अब भी कायदे और कानून के नुक्ते से सोचती है, वह मुर्दा हो चुकी है।

सादर,

आपका

जवाहरलाल नेहरू

2

आजादी के लिए संघर्ष

कांग्रेस पर एक नजर

मैं चाहता हूं कि आप सब इस बात पर गौर करें कि हमारा यह राष्ट्रीय आंदोलन अब तक किस तरह का रहा है। यह अब तक धीरे धीरे चला और बढ़ा। यहां तक कि लोगों को इसकी खबर भी नहीं रही। लेकिन आज आप देखते हैं कि यह सारे मुल्क में जबर्दस्त और जोरदार तरीके से चल रहा है। गुलाम मुल्कों और वहां के कौमी आंदोलनों पर अगर गौर किया जाये तो मैं कहूंगा कि नेशनल कांग्रेस ने जैसा जबर्दस्त आंदोलन छेड़ रखा है, उसके बराबर दुनिया की तारीख में कोई दूसरी मिसाल नहीं मिलती। इसमें खुश होने की कोई बात नहीं । इसकी कई वजहें रही हैं। लेकिन यह हकीकत है कि हम लोगों ने एक बहुत बड़ा आंदोलन छेड़ दिया है। इंडियन नेशनल कांग्रेस इसकी जीती-जागती तस्वीर है। इसकी तारीख के पन्ने उलटिए। आप देखेंगे कि शुरू के दिनों में कोई पचास-एक बरस पहले कुछ बड़े बड़े रईस लोग आपस में बैठकें किया करते थे और वफादार रहने की अजीबो-गरीब बातें किया करते थे। आज जब हम उन दिनों की तकरीरों को पढ़ते हैं, तो दंग रह जाते हैं कि ये लोग ऐसी बातों को किया करते थे, जिन्हें आज कमजोर से कमजोर आदमी सपने में भी नहीं सोचता। फिर भी वे लोग जो कुछ कहते थे, वह कमजोर आदमियों की बातें नहीं थीं। वे लोग बहादुर और ताकतवर शख्सियत थे। उस वक्त हालात अच्छी तरह पके नहीं थे और वे लोग एक खास नजरिये से सोचते थे। इस तरह यह कांग्रेस शुरू शुरू में मुल्क के मध्यवर्ग के सिर्फ ऊपरी तबके के लोगों की जमात होती थी। तब, धीरे धीरे इसमें समाज के बाकी तबके के लोग भी शामिल होने लगे। बीच बीच में इससे कांग्रेस में धीरे धीरे कुछ टकराव होने लगा, यह विचारों का टकराव था। यह टकराव जुदा जुदा वर्गों का था, जो बीसवीं सदी के शुरू शुरू में जुदा जुदा तबकों की नुमाइंदगी करते थे; यह टकराव दो दलों के बीच का टकराव था, जिन्हें गरम दल और नरम दल कहा गया। यह टकराव तिलक के और गोखले के अनुयायियों का आपसी टकराव था। इससे ज्यादा अहम बात तो यह है कि यह दो शख्सियतों के बीच का टकराव था। ये दो बड़ी हस्तियां थीं—तिलक और गोखले। हमें इनकी शख्सियत से भौंचक नहीं होना चाहिए, बल्कि उन कारणों पर गौर करना चाहिए जो विचारों के इस टकराव के पीछे रहे हैं। हम देखते हैं

---

7 अक्तूबर, 1936 को मद्रास में विद्यार्थियों के बीच दिये गये भाषण से। यह 8 अक्तूबर, 1936 को 'दि हिन्दू' में प्रकाशित हुआ। *सेलेक्टेड वर्क्स,* भाग 7, पृ. 504-08 पर संकलित

कि तिलक मध्यवर्ग के उस निचले तबके के नुमाइंदे थे, जो धीरे धीरे उभर रहा था और कांग्रेस में आ रहा था। इससे मध्यवर्ग के ऊंचे तबके के लोगों में डर पैदा हुआ। मोटे तौर पर कहा जा सकता है कि कांग्रेस में गरम दल और नरम दल के बीच जो टकराव था—वह मध्यवर्ग के निचले तबके के जो उभर रहा था और ऊंचे तबके के बीच का टकराव था—जो पहले से जमा हुआ था। यह आपसी टकराव कुछ बरसों तक चलता रहा। शुरू शुरू में इसकी वजह से मध्यवर्ग के निचले तबके के लोग कांग्रेस से निकाल फेंके गये, हालांकि इनकी तादाद काफी थी। लेकिन आखिर में उन्हें बाहर नहीं रखा जा सका। उच्च-मध्यवर्ग के सभी लोगों को नहीं, बल्कि कुछ मुट्ठी भर लोगों को इस नये रुख के साथ हालात का बदलना अच्छा नहीं लगा और उन्होंने कांग्रेस को छोड़ दिया और अलग अपनी एक लिबरल पार्टी बना ली। लेकिन इसमें से काफी लोग कांग्रेस में भी रहे। धीरे धीरे सारा लहजा और नजरिया बदल गया। कांग्रेस निचले-मध्यवर्ग के लोगों की इच्छाओं और जरूरतों के मुताबिक चलने लगी और लाजिमी तौर पर उसका रुख कड़ा हो गया, लोगों का झुकाव कोरे सुझावों के बजाय, जो सैद्धांतिक होते थे, ठोस कार्रवाई की ओर हुआ। कुछ अर्से के बाद गांधीजी का आना हुआ, जो एक बहुत बड़े और जोरदार शख्सियत के आदमी थे। वह निचले-मध्यवर्ग के बचे-खुचे लोगों को भी कांग्रेस में ले आये। वह बहुत से और ताकतवर वर्ग के लोगों को भी कांग्रेस में ले आये। हालांकि वह किसानों और जनसाधारण को कांग्रेस में नहीं लाये, लेकिन उन्होंने बहुत कुछ इनका असर, इनकी विचार शैली, इनकी मांगों और जरूरतों को कांग्रेस में ला दिया, जिसकी वजह थी कि वह खुद हद से ज्यादा इनके ही नुमाइंदे होते थे। कांग्रेस मुख्य रूप से निचले-मध्यवर्ग का संगठन बन गयी। आज हम जो गांधीवादी कांग्रेस देख रहे हैं, उसकी यही शुरुआत थी।

यह हमारी बदकिस्मती थी कि उदार विचारधारा के लोग हमसे अलग हो गये। यह जितनी भी बदकिस्मती हो, लेकिन इस पर किसी का बस नहीं था। एक मायने में इसे कांग्रेस के भीतर फूट कहा जा सकता है क्योंकि जितने लोग कांग्रेस से अलग हुए, वे काफी इज्जतदार आदमी थे। इसकी वजह कुछ इक्के-दुक्के प्रस्तावों का पास होना या फैसला लिया जाना नहीं था। हकीकत यह थी कि कांग्रेस में काफी तादाद में ऐसे लोग आये, जिनके विचार और दृष्टिकोण ही नहीं, बल्कि जिनकी शक्ल-सूरत और पोशाक ऐसी होती थी कि लोग नापसंद करते थे। इसके बाद जो कुछ बचा उस पर गौर किया जाये तो पता लगेगा कि हमने एक ऐसे गुट को जरूर खो दिया, जिसे हम अपने साथ रखना चाहते थे, तो भी इस उदार दल के हमसे अलग हो जाने पर भी कांग्रेस पहले से भी ज्यादा एक ताकतवर संस्था बन गयी। इस तरह उदार दल के साथ इस फूट के बावजूद कांग्रेस की ताकत बढ़ी क्योंकि ज्यादातर साधारण जनता के बहुत से लोग कांग्रेस में शामिल हो गये।

यही बात तब हुई, जब गांधी जी ने आंदोलन को संभाला। इस बार कांग्रेस ने बहुत

से लोगों को खो दिया, जो इसमें बहुत दिनों से काम करते आ रहे थे। उन्होंने इसे इसलिए छोड़ा कि उन्हें गांधीवादी कांग्रेस का नजरिया पसंद नहीं आया। उन्हें असहयोग की बात नहीं जंची, जो एक नयी बात थी। समूची कांग्रेस बदल गयी। वह एक नयी जबान का इस्तेमाल करने लगी। इसमें लोग अपने भाषण ज्यादातर अंग्रेजी में करने के बजाय अपने मुल्क की जबान में देने लगे। ये लोग मुल्क के लोगों की पोशाकों में आते और हमेशा मुल्क की खुशहाली की बातें कहते। असहयोग की इस लहर में हर तरह के लोगों का अपना अपना तरीका था। कुछ पुराने कांग्रेसी अलग हो गये, लेकिन हम फिर देखते हैं कि इन लोगों के अलग हो जाने के बावजूद कांग्रेस उससे भी ज्यादा मजबूत हो गयी, जितनी कि वह पहले थी। इसकी वजह यही थी कि इसमें बेशुमार लोग शामिल हो गये। आपके पास हमेशा चुनाव की स्वतंत्रता रही है। हम कांग्रेस से लोगों के अलग होने पर चाहे जितना अफसोस करें कि उन्हें हम अपने साथ रखना चाहते थे और यह भी चाहते थे कि हमारे इस कौमी मोर्चे में मुख्तलिफ विचारधाराओं के लोग भी रहें तो भी हमें अक्सर इस बात का चुनाव करना पड़ता कि हम कुछ लोगों को या बहुत से लोगों को अपने साथ लें। हमें पुरानी बेजान विचारधारा और नयी गतिशील, जीवंत उस विचारधारा के बीच चुनाव करना पड़ता है, जो हमें काम करने के लिए रोशनी देती है और जो हमारे पक्ष में लोगों को बड़ी तादाद में ले आती है। यह विचारधारा इतने लोगों को क्यों ले आती है? इसकी वजह यह है कि यह तमाम लोगों की भावनाओं, इच्छाओं और आवश्यकताओं को व्यक्त करती है। कांग्रेस ने अपनी तमाम कमियों के बावजूद जो हैं, और हमें हर कमियों को मंजूर भी करना चाहिए, अपनी तमाम गलतियों के बावजूद इन तमाम लोगों की इच्छाओं और आशाओं से अपने को वाकिफ रखने की कोशिश की और यही वजह है कि यह एक जोरदार संगठन बन गयी और यह पिछले बरसों में भी जोरदार रही। अगर आप हकीकत में मुल्क की ताकत बढ़ाना चाहते हैं तो आप अलग अलग शख्सियतों के आधार पर नहीं और न इस आधार पर कि आपको इनका या उनका समर्थन मिल जायेगा, जो भले ही व्यक्ति के रूप में आपको कितने भी अच्छे क्यों न लगें, आपको जनता के तमाम लोगों, किसानों-मजदूरों और इस मुल्क के मध्यवर्ग के तमाम लोगों को ध्यान में रखना होगा...

आप इन मसलों का किस तरह मुकाबला करेंगे और आप क्या इनसे भी बड़े मसलों का मुकाबला करेंगे, जो दुनिया आपके सामने लायेगी? मैं चाहता हूं कि आप इन मसलों पर इन्हें दुनिया के बड़े बड़े मसलों के साथ मिलाकर गौर करें। आप शायद इन मसलों को अलग अलग नहीं कर सकेंगे। ये एक-दूसरे के साथ इस तरह गुंथे हुए हैं कि इन्हें अलग नहीं किया जा सकता। आप चाहे जो भी रोजगार करते हों, आपको उनका सामना करना ही पड़ेगा। मान लीजिए कि आप व्यापार करते हैं तो लाजिमी बात यह है कि आपका ताल्लुक बाहर के मुल्कों के बीच होने वाले व्यापार से हो जायेगा। हो सकता है कि आपका

दीवाला निकल जाये, जो इस वजह से नहीं कि आपकी तरफ से कोई बदइंतजामी हुई है, बल्कि इसलिए हो सकता है कि बाजार में किसी चीज की कीमत बहुत ही गिर गयी है। पिछले चंद एक बरसों में दुनिया में बेहद मंदी रही है, व्यापार में मंदी या जिसे व्यापार में गिरावट भी कहते हैं, जिसका न केवल व्यापारी वर्ग पर बल्कि सभी वर्गों पर, खासतौर से किसानों पर, बेहद बुरा असर पड़ा है। किसानों की हालत, पैदावार अच्छी होने के बावजूद, अच्छी नहीं हो रही है। हम ऐसी हालत में पहुंच गये हैं कि पैदावार चाहे जितनी भी अच्छी क्यों न हो, इससे किसानों का कोई फायदा नहीं होता। अमेरिका में सरकार किसानों को अपनी अपनी फसल जला डालने के लिए धन देती है। आप सोचिए कि इससे बड़ी बेवकूफी की बात और क्या होगी? अमेरिका एक धनी मुल्क है, लेकिन वहां पर भी एक करोड़ तीस लाख लोग बेकार हैं और इनमें से बहुत-से लोगों की हालत बदतर है, वे भूखों मर रहे हैं, उनके पास सिर छिपाने के लिए भी जगह नहीं है। यह भी सभ्यता के विकास का एक दौर है, जहां हम दुनिया में पूंजीवाद की लहर में बहकर पहुंच गये हैं। हिंदुस्तान में हम इस खतरनाक हालत को नहीं देख पाते, जो सिर्फ इसलिए कि हमारा मुल्क पूरी तरह से पूंजीवादी नहीं है। हमारा मुल्क आज भी आधा सामंती है। हमारे यहां बेइंतहा बेरोजगारी है, जो और भी बढ़ सकती है। इसे समझने के लिए और इसका हल निकालने के लिए आपको दुनिया के बड़े बड़े मसलों पर विचार करना होगा। आपको उन बड़ी बातों के लिए अपने को तैयार करना होगा, जो आगे आयेंगी। चाहे जो भी हो, हमारी जिंदगी अब ऐसी नहीं रहेगी जो शांत और स्थिर रह सके।

फ्रांस के एक मशहूर विचारक का कहना है कि जब से बीसवीं सदी शुरू हुई है, तभी से यह अरसा और यह युग जिसमें हम रह रहे हैं जितना उथल-पुथल कर रहा है, उतना कोई नहीं कर रहा। सन् 1914 में जब से महायुद्ध शुरू हुआ, तभी से दुनिया के हर हिस्से में ऐसी बड़ी बड़ी क्रांतियां हो रही हैं, जिन्होंने नक्शा ही बदल कर रख दिया है। रूसी क्रांति, जर्मनी में उलट फेर और स्पेन में मौजूदा खौफनाक जंग भविष्य में होने वाले लंबे-चौड़े परिवर्तनों की ओर महज एक इशारा है। अगर हमारे मुल्क में ऐसे भी लोग हैं, जो इंकलाब को, किसी बड़ी तब्दीली को नहीं पसंद करते, तब मेरा ख्याल है कि उन्होंने अपने पैदा होने के लिए बहुत ही गलत वक्त चुना है, क्योंकि वह अब बच नहीं सकते। हम उन बेलगाम और कुदरती ताकतों से नहीं बच सकते, जो दुनिया भर में तमाम लोगों के जरिये अपना काम कर रही हैं। इसमें कोई शक नहीं कि आदमी और ज्यादा समझदार होता जायेगा। उसमें सोचने-विचारने की और ज्यादा ताकत आयेगी। वह और ज्यादा विचारवान बनता जायेगा, लेकिन कुदरत की इन ताकतों से नहीं बच सकता। आप जल्दी ही सारी दुनिया में तूफान की तरह इंकलाब होते हुए देखेंगे। और अगर ऐसा हुआ तो जाहिर है कि हिंदुस्तान पर भी उसका असर पड़ेगा। क्या हम ऐसे मौकों को झेलने के लिए तैयार हैं?

हमारे सियासी और आर्थिक मसले बड़े ही अहम हैं। इनको सुलझाये बिना हम कुछ नहीं कर सकते। और सियासी आजादी अपने आप में कोई मकसद नहीं होती। यह तो एक जरिया होता है, जिससे हमें एक अच्छी जिंदगी बिताने में मदद मिल सकती है। यह एक साधन है, जिससे इंसानी ताल्लुकात के मसले हल किये जा सकते हैं और तब तक हम आगे नहीं बढ़ सकते। हमें इन्हें दूर करने के बारे में फैसला कर देना है, ताकि हम आगे के हिंदुस्तान का खाका तैयार कर सकें। ये सभी वे मसले हैं, जिन पर विद्यार्थी के रूप में आप सबको विचार करना चाहिए।

गांधी जी का आना

इन्हीं दिनों गांधी जी का आना होता है। गांधी जी उस हवा की तरह आये, जो ताजगी देती है। हम सब हरे-भरे हो उठे। हममें जान आ गयी। वह सूरज की किरणों की तरह आये, जो अंधेरा दूर कर देती हैं। हमारी आंखों के सामने से पर्दा हट गया। वह आंधी की तरह आये, जो हर चीज को उलट-पुलट देती है। उन्होंने जनता के सोचने के तरीके को बदल दिया। वह कहीं बाहर से नहीं आये। ऐसा लगा कि वह हिंदुस्तान की करोड़ों की जनता में से आये हैं। वह उन्हीं की-सी बातें करते और वह बार बार इसी जनता की और उसकी दुख-तकलीफों के बारे में बताते। उन्होंने कहा कि तुम लोग जो किसानों और मजदूरों की कमाई पर गुज़र-बसर करते हो, उन पर से हट जाओ; उस व्यवस्था को छोड़ दो, जो इनकी गरीबी और सारे दुख-तकलीफों की जड़ है। और तब राजनैतिक आजादी की एक नयी तस्वीर उभर कर सामने आयी और उसे नया जामा मिला। उन्होंने जो कुछ कहा, उसमें से हमने कुछ ही बातों को माना और कभी तो बिल्कुल ही नहीं माना। लेकिन यह सब तो मामूली बात थी। उन्होंने जो कुछ कहा उसका निचोड़ था—निर्भयता और सच्चाई। ये दोनों ही शिक्षाएं सक्रिय रहने की भावना से जुड़ी हुई थीं और इस सक्रियता में हमेशा जनता की भलाई का ख्याल रखने पर ध्यान दिया गया। जैसा कि हमारे शास्त्र वगैरह बताते हैं, इंसान हो या चाहे कोई मुल्क, उसे जो सबसे बड़ी नियामत मिली हुई है वह है अभय (निर्भयता)। यह सिर्फ हिम्मत का होना नहीं है, बल्कि हमारे मन से डर की भावना का पूरी तरह से निकल जाना है। हमारे इतिहास के शुरू में ही जनक और याज्ञवल्क्य ने कहा कि राष्ट्र के नेताओं का असली काम तो अपने यहां की जनता को निर्भय बनाना है। लेकिन ब्रिटिश सरकार के अधीन हिंदुस्तान में लोगों के मन में तरह तरह का डर था, यह डर हर एक मन में समाया हुआ था, लोगों को यही डर सताये हुए था और जैसे उन्हें दबोचे रहता था। यह डर फौज का डर, पुलिस का डर और सब जगह फैले खुफिया लोगों का डर था। अफसरों की जमात का डर था, उस कानून का डर था जिनका मकसद लोगों को कुचलना था, जेल का डर था, जमींदार के कारिंदों का डर था, साहूकार का डर था, रोजी के छिन जाने और भूखे मर जाने का डर था। यह तरह तरह के डर हमेशा घेरे रहते थे। गांधी जी ने इसी डर के खिलाफ शांतिपूर्वक और दृढ़ता के साथ अपनी आवाज बुलंद

दि डिस्कवरी आफ इंडिया, पृ. 379-87 से

की और कहा, 'डरो मत'। क्या यह कोई आसान बात थी? नहीं। हम अपने अपने मन में इस डर के कारण बहुत-सी बातें सोचते रहते हैं। यह सोचना असलियत से भी ज्यादा खतरनाक होता है। अगर हम असलियत के बारे में ठंडे दिमाग से सोचें और उसके नतीजों को खुशी खुशी बर्दाश्त करने के लिए तैयार हो जायें तो उसकी दहशत बहुत कुछ अपने आप दूर हो जाती है।

इस तरह डर का यह बोझ लोगों के मन पर से हट गया। यह ठीक पूरी तरह से तो नहीं हटा, लेकिन जितना भी हटा वह ताज्जुब की बात थी। जिस तरह डर और झूठ का करीबी रिश्ता है, उसी तरह डर निकल जाने पर सच्चाई आपसे आप आ जाती है। हिंदुस्तान की जनता उससे ज्यादा तो सच्चाई को नहीं अपना सकी, जितना कि वह पहले कभी थी, और न उसने अपनी आदत को बिल्कुल ही बदला, लेकिन एक बहुत बड़ी तब्दीली यह देखी गयी कि लोगों से झूठ बोलने की जरूरत और नजर बचाने की आदत कम हो गयी। यह मनोवैज्ञानिक बदलाव था। ऐसा लगता था कि जैसे किसी दिमागी डाक्टर ने किसी रोगी की पिछली सभी बातों को अच्छी तरह परखा और उसकी सारी मनोग्रंथियों के कारणों का पता लगाया और उस रोगी को इन कारणों की पूरी जानकारी देकर उसे उनके बोझ से छुटकारा दिला दिया है।

साथ ही एक मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रिया भी थी, लोगों में इस बात से शर्म पैदा हुई कि हम किस तरह लंबे अरसे से एक ऐसी विदेशी हुकूमत को मानते चले आये, जहां हमारी कोई इज्जत नहीं थी और जो बार बार हमें नीचा दिखाती रहती थी। लोगों के मन में यह ख्वाहिश पैदा हुई कि हम अब इसकी गुलामी नहीं करेंगे, चाहे इसका नतीजा कुछ भी क्यों न हो।

हम पहले जितने सच्चे थे, उतने सच्चे तो शायद नहीं हो सके। लेकिन ऐसे में हमें ऊपर उठाने और सच्चे बने रहने की याद दिलाते रहने के लिए अटल सत्य के एक प्रतीक के रूप में गांधीजी बराबर हमारी आंखों के सामने थे। सत्य क्या है? यह मैं ठीक ठाक नहीं जानता। शायद यह हर एक के लिए अलग अलग होता हो। और जो परम सत्य है कि वह हमारी पहुंच के बाहर हो। सत्य के बारे में अलग अलग राय हो सकती है और होती भी है। हर आदमी पर इसके पालन-पोषण, शिक्षा-दीक्षा और उसकी अपनी इच्छाओं का जबरदस्त असर रहता है। यही बात गांधीजी पर लागू थी। लेकिन हर आदमी के लिए कम से कम वह तो सत्य होता ही है, जो वह खुद महसूस करता है और जिसे वह सत्य समझता है। गांधीजी जिसे सत्य मानते हैं, उसे कोई दूसरा भी सत्य मानता हो, ऐसे किसी आदमी को मैं इस परिभाषा के अनुसार नहीं जानता। राजनीतिज्ञ के लिए यह गुण खतरनाक होता है, वह इस तरह सबके सामने अपने मन की बात कह देता है और जनता को इस बात का मौका दे देता है कि वह उसकी राय में होने वाले फेर-बदल को भी देख व सुन सके।

हिंदुस्तान के करोड़ों आदमियों पर गांधीजी का अलग अलग असर हुआ, कुछ ने तो अपनी जिंदगी का सारा तानाबाना ही बदल दिया, कुछ लोगों पर थोड़ा-सा ही असर हुआ था, वह असर बाद में जाता रहा, कुछ पर से यह असर पूरा तो नहीं गया क्योंकि इसका कुछ असर तो पूरी तरह बिल्कुल भी नहीं मिट सका। अलग अलग लोगों में अलग अलग प्रतिक्रियाएं हुईं। इस बारे में हर आदमी अलग अलग जवाब देगा। अल्किबिएडीज के शब्दों में कुछ शायद यह कहें : इसके अलावा, जब हम किसी और को कुछ कहते हुए सुनते हैं तो वह चाहे जितना ओजस्वी वक्ता क्यों न हो, हम उसकी रत्ती भर भी परवाह नहीं करते कि वह क्या कह रहा है, लेकिन जब हम आपको सुनते हैं तो चाहे उसके कहने का ढंग कितना ही भद्दा क्यों न हो और सुनने वाला चाहे वह कोई आदमी हो या औरत या कोई बच्चा तो हम आपा खो बैठते हैं और ऐसा लगने लगता है कि किसी ने हम पर जादू कर दिया है। सज्जनों, जहां तक मेरी अपनी बात है, अगर आप मुझे पागल न कहें तो मैं कसम खाकर कहता हूं कि उनके शब्दों का मुझ पर इतना ज्यादा असर हो चुका है कि अगर उनके शब्द फिर से भी सुनने को मिलें, तब आज भी उनका उतना ही असर होगा। जब कभी मैं उनको कुछ कहते हुए सुनता हूं, तब मैं एक दैवी आवेश से उत्तेजित हो उठता हूं, यह उत्तेजना किसी भी कोरीवेंट की उत्तेजना से भी अधिक और बेसुध कर देने वाली होती है, मेरे होंठ बुदबुदाने लगते हैं और मेरी आंखों में आंसू छलकने लगते हैं। आह, यह सिर्फ मेरे साथ ही नहीं होता, बल्कि यही हाल बहुतों का भी होने लगता है। ('दि फाइव डायलाग्स-प्लेटो' से)

गांधीजी कांग्रेस में पहली बार आये। उन्होंने फौरन ही इस संस्था का पूरा संविधान बदल डाला। उन्होंने कांग्रेस को लोकतंत्रात्मक और इसे जनता की संस्था बना दिया। वैसे तो यह पहले भी लोकतंत्रात्मक थी, लेकिन यह मत देने तक सीमित थी और यह अधिकार भी सिर्फ ऊंचे वर्ग के लोगों को मिला हुआ था। इसमें किसान भी आये। अपने नये शक्ल में अब यह किसानों की एक बहुत बड़ी संस्था मालूम पड़ने लगी। इसमें मध्यम वर्ग के भी लोग शामिल होने लगे, जिनका जोर था। इसे किसानों की संस्था के रूप में विकसित होना था। इसमें औद्योगिक मजदूर भी शामिल हुए, लेकिन वह व्यक्तिगत हैसियत से शामिल हुए। वह अलग से कोई संगठित रूप में नहीं आये।

इस संस्था की बुनियाद क्रियाशीलता थी। यहां इसका मकसद भी था। यह कार्रवाई शांतिपूर्ण तरीकों पर आधारित थी। अब तक जो रवैया था, वह सिर्फ बहस करना और रिजोल्यूशन पास करना था या फिर तोड़-फोड़ की कार्रवाई होती थी। इन दोनों ही कामों को फिलहाल बंद कर दिया गया। तोड़-फोड़ की कार्रवाई की खास तौर से निंदा की गयी क्योंकि यह कांग्रेस की बुनियादी नीति के खिलाफ था। संघर्ष करने का एक नया तरीका खोज निकाला गया। यह तरीका वैसे तो बिल्कुल शांतिपूर्ण था, लेकिन इसमें उन बातों

के सामने सिर नहीं झुकायेंगे, जिन्हें गलत समझा गया। इस तरह इसमें उन सारी तकलीफों और मुसीबतों को स्वेच्छापूर्वक बर्दाश्त करने की रजामंदी थी, जो ऐसा करने से पैदा होती। गांधी जी एक अजीब किस्म के शांतिवादी थे क्योंकि किस्मत के सामने या जिस किसी बात को वह बुरा समझते थे, उसके सामने सिर झुकाने की भावना उनमें बिल्कुल भी नहीं थी। उनमें डटकर मुकाबला करने की ताकत थी, लेकिन इनका तरीका शांतिपूर्ण और विनम्रता से भरा हुआ था। उनकी यह कार्रवाई दोहरी थी। इसमें, बेशक, विदेशी हुकूमत को चुनौती देना और उसकी खिलाफत करना शामिल था। लेकिन इसमें वह भावना भी थी कि जिसने हमें अपनी सामाजिक बुराइयों के खिलाफ लड़ने की प्रेरणा दी। यूं तो कांग्रेस का बुनियादी लक्ष्य हिंदुस्तान की आजादी और इसके लिए शांतिपूर्ण तरीकों का इस्तेमाल करना था, लेकिन इसके अलावा कांग्रेस का मुख्य कार्य था कौमी एकता। इसमें अल्पसंख्यकों के मसलों को हल करना, दलित वर्ग को ऊपर उठाना और छुआछूत के कलंक को खत्म करना भी शामिल था।

गांधी जी ने यह देखकर कि अंग्रेजी हुकूमत की बुनियाद उसका डर, रौबदाब, मन या बेमन से आम लोगों या कुछ ऐसे वर्ग के लोगों का उसके साथ सहयोग करना है, जिनका स्वार्थ इस हुकूमत से जुड़ा हुआ है, तो उन्होंने इसी बुनियाद पर चोट की। उन्होंने कहा कि खिताबों को छोड़ो। हालांकि उनके कहने पर बहुत थोड़े ही लोगों ने अपने अपने खिताब छोड़े और ऐसे लोगों की तादाद थोड़ी ही रही तो भी अंग्रेजी हुकूमत के खिताबों के बारे में लोगों में जो आम इज्जत थी, वह समाप्त हो गयी और ये खिताब बेइज्जती का बायस बन गये। नये मानदंड और मूल्य तय किये गये और वायसराय के दरबार और राजा-महाराजाओं की शान-शौकत, जो काफी असर डालती थी, अब चारों तरफ जनता की गरीबी और दुख-तकलीफ के बीच बेहद फूहड़, घटिया और लज्जाजनक लगने लगी। अमीर लोग अब अपनी दौलत की शान रखने, दिखाने में हिचकने लगे। बहुत-से लोगों ने, कम से कम ऊपरी तौर से, अपना रहन-सहन सादा बना लिया और पोशाक के मामले में उनमें और मामूली आदमियों में कोई फर्क नहीं जान पड़ता था।

कांग्रेस के पुरानी पीढ़ी के नेताओं ने, जो एक बिल्कुल जुदा और चैन की जिंदगी में पले थे, इस बदलाव में अपने को ढालना आसान नहीं समझा और जनता में इस उभार को देखकर वे परेशान हो उठे। लेकिन विचारों और भावनाओं की यह लहर इतनी जबरदस्त थी कि सारा मुल्क इसके चपेटे में आ गया और इसका असर इन पर भी हुआ। कुछ थोड़े-से लोग अलग-थलग हो गये। इनमें मौलाना मोहम्मद अली जिन्ना भी थे। उन्होंने कांग्रेस को हिंदू-मुस्लिम सवाल पर राय में फर्क की वजह से नहीं छोड़ा, बल्कि इस वजह से छोड़ा कि वह कांग्रेस की इस नयी और अधिक विकसित विचारधारा से अपना मेल नहीं बिठा सके। इससे भी ज्यादा बड़ी वजह यह थी कि उनको कांग्रेस में शामिल होने वाली भीड़

से चिढ़ थी, जिसमें लोग सलीके से कपड़े नहीं पहने होते थे और जो हिंदुस्तानी में ही बोलते थे। राजनीति के बारे में उनका ख्याल कुछ ऐसा था कि इसमें ऊंचे वर्ग के लोग ही हिस्सा ले सकते हैं और ये लोग ही विधान सभाओं की कमेटियों में बैठने के लायक होते हैं। कुछ वर्षों तक उन्होंने इस राजनीति में अपने को बिल्कुल अकेला पाया और वह अपने को इतना ज्यादा अकेला महसूस करने लगे कि हमेशा के लिए हिंदुस्तान छोड़ने का इरादा कर बैठे और बाद में वह इंग्लैंड में बस गये और वर्षों तक वहीं रहे।

कहा जाता है और मैं सोचता हूं कि इसमें सच्चाई भी है कि हिंदुस्तान के लोगों की आदत खामोश जिंदगी बसर करने की होती है। जो जातियां काफी पुरानी हैं, उनका अपना जिंदगी के बारे में यही रवैया बन जाता है, चिंतन-मनन की लंबी परंपरा भी शायद इसी ओर ले जाती है। लेकिन गांधी जी में खामोशी के इस सिद्धांत का उल्टा दूसरा ही रूप है। वह ऊर्जा और क्रिया के जैसे समुद्र हैं। वह आगे बढ़ने के लिए उकसाते हैं। वह ऐसे शास्त्र हैं, जो न सिर्फ अपने को आगे बढ़ाता है, बल्कि अपने साथ बाकी लोगों को भी आगे ले जाता है। जहां तक मैं जानता हूं, हिंदुस्तान के लोगों में खामोश रहने की आदत को छुड़ाने और उसे बदलने के लिए जितना संघर्ष गांधी जी ने किया, उतना किसी ने नहीं किया।

उन्होंने हम लोगों को गांवों में भेजा। कर्म के इस नये मसीहा के अनगिनत संदेशवाहकों की गतिविधियों से गांवों में खलबली-सी मच गयी। किसान झकझोर उठा और वह अपनी खामोश झोपड़ियों में से निकल कर बाहर झांकने लगा। हम लोगों पर इसका असर कुछ जुदा हुआ, लेकिन यह काफी गहरा रहा। असलियत यह थी कि हमने गांव में रहने वालों को पहले पहल नजदीक से मिट्टी की कच्ची झोपड़ियों में नंगे, कुचैले, भुखमरी से जूझते हुए देखा। हमने हिंदुस्तान की आर्थिक स्थिति को किताबों और बड़े बड़े काबिल लोगों के भाषणों के बजाय गांवों में इन दौरों से जाना। हमने अपने मन में पहले से जो खाका बना रखा था, उसमें इन दौरों से और भी इजाफा हुआ और पूरी तस्वीर सामने आ गयी। इस तरह ऐसी हालत हो गयी कि हम अपनी जिंदगी के पुराने ढर्रे और पुराने आदर्शों की ओर वापस नहीं लौट सकते थे, भले ही आगे चलकर हमारे विचारों में चाहे जो भी तब्दीली आती।

आर्थिक, सामाजिक और दूसरे मामलों में गांधी जी के विचार बहुत ही पक्के थे। उन्होंने अपने इन विचारों को कांग्रेस पर लादने की कोशिश नहीं की। यह जरूर है कि उन्होंने अपनी विचारधारा का लगातार विकास किया और इस दौर में कभी कभी अपने लेखों के मार्फत फेर-बदल भी की। बहुत-से लोगों ने उनके विचारों को उस तरह नहीं माना, जिस तरह उन्होंने रखे। और कुछ लोगों का तो उनके सोचने के तरीके से बुनियादी तौर पर मतभेद था। लेकिन उस वक्त की परिस्थितियों के अनुकूल होने की वजह से वह जिस

बदली हुई शक्ल में कांग्रेस में आये, उस रूप में बहुत-से लोगों ने उन कई विचारों को मंजूर कर लिया। उनके विचार दो मामलों में साफ नहीं थे, लेकिन इसके बावजूद उनका काफी असर हुआ। एक तो यह कि हर काम की बुनियादी कसौटी यह समझना कि इससे आम जनता को कितना फायदा होता है और दूसरा यह कि साधनों का एक खास महत्व होता है, लक्ष्य चाहे जितना भी सही क्यों न हो, साधनों को कभी भी नजरंदाज नहीं किया जा सकता। इसकी वजह यह है कि साधनों का असर हमारे लक्ष्य पर पड़ता है और ये हमारे लक्ष्य में अदल-बदल कर देते हैं।

गांधी जी बुनियादी तौर से एक धार्मिक आदमी थे, वह अपने हृदय से हिंदू थे। लेकिन धर्म के बारे में उनकी अवधारणा का किसी रूढ़िवादी मान्यता या रीति-रिवाज या कर्मकांड से कोई भी संबंध नहीं था। बुनियादी तौर पर उसका संबंध तो नैतिक कानून के बारे में उनके अटूट विश्वास से था, जिसे वह सत्य का कानून या प्रेम कहते हैं। उनके लिए सत्य और अहिंसा एक ही चीज या एक ही चीज के दो अलग अलग पहलू हैं और वह लगभग इन्हीं शब्दों को एक-दूसरे के स्थान पर इस्तेमाल करते हैं। उनका दावा है कि वह हिंदू धर्म की मूल भावना को अच्छी तरह समझते हैं। और वह ऐसी हर बात या हर काम को नामंजूर कर देते हैं, जो उनकी आदर्शवादी व्याख्या से कि इसे ऐसा होना चाहिए, मेल नहीं खाती है। उनका कहना है कि ये चीजें बिगड़ा हुआ रूप हैं या ये बाद में जोड़ दी गयी हैं। उनका कहना है, "मैं रीति-रिवाजों को मानने के लिए तैयार नहीं हूं, जो मेरी समझ के बाहर हैं या नैतिक आधार पर जिनकी मैं पुष्टि नहीं कर सकता।" और इस तरह वह अमली तौर पर अपनी पसंद का रास्ता चुनने के लिए आजाद हैं। वह हर किसी रास्ते को बदलने के लिए और उससे अपना मेल बिठाने और अपनी जिंदगी और काम के अपने जीवन दर्शन का विकास करने के लिए आजाद हैं। लेकिन उनकी एक ही शर्त है कि वह नैतिक कानून को जिस रूप में समझते हैं, वह उसी रूप में उनके हर काम की कामयाबी की कसौटी है। यह जीवन दर्शन सही है या गलत, इस पर बहस की जा सकती है, लेकिन वह हर बात में, खासतौर से उन बातों में जो उनसे ताल्लुक रखती हैं, इसी बुनियादी पैमाने को लागू करने पर जोर देते हैं—वह हर चीज को अपने से शुरू करते हैं और उनकी कथनी और करनी में चोली-दामन का साथ होता है। इसलिए चाहे जो भी होता है, वह अपनी निष्ठा को कभी नहीं छोड़ते और उनकी जिंदगी और उनके कामों में हमेशा पूरा तालमेल रहता है। जब जब उन्हें जाहिरा तौर पर नाकामयाबी हुई है, तब तब वह इन नाकामयाबियों के बावजूद ऊंचे उठते हुए दीखते हैं।

हिंदुस्तान के बारे में उनके विचार क्या थे, जो वह अपनी ख्वाहिश और आदर्शों के अनुसार हिंदुस्तान को ढालने के लिए बताना चाह रहे थे? "मैं ऐसा हिंदुस्तान चाहता हूं, जिसमें गरीब से गरीब आदमी यह महसूस कर सके कि यह मेरा मुल्क है, इसके निर्माण

करने में मेरी भी आवाज कारगर है, एक ऐसा हिंदुस्तान जिसमें जनता में कोई ऊंचा या निचला वर्ग नहीं रहेगा, एक ऐसा हिंदुस्तान जिसमें सभी संप्रदायों के लोग आपस में पूरी मुहब्बत के साथ रहेंगे—ऐसे हिंदुस्तान में छुआछूत या शराबखोरी के लिए, जो कि एक कलंक है, कोई भी जगह नहीं होगी...औरतों को भी वही अधिकार होंगे जो आदमियों के हैं—मैं ऐसे ही हिंदुस्तान का सपना देखता हूं।" उन्हें अपनी हिंदू विरासत पर गर्व था। इसलिए उन्होंने हिंदू धर्म को सार्वभौम स्वरूप देने की कोशिश की और सत्य के दायरे में सभी धर्मों को शामिल कर लिया। उन्होंने अपनी सांस्कृतिक विरासत को संकीर्ण बनाने से इंकार कर दिया।

उन्होंने लिखा कि हिंदुस्तानी संस्कृति न तो सिर्फ हिंदू है, न मुसलमानी और न कोई और। यह इन सबका एक संगम है। वह आगे लिखते हैं, "मैं चाहता हूं कि मेरे घर में सभी दिशाओं की संस्कृति की हवा जितनी हो सकती है, उतनी ज्यादा से ज्यादा आजादी के साथ बहती रहे, लेकिन यह मैं नहीं चाहता कि कोई मुझे बिल्कुल ही बहा ले जाये। मैं दूसरे लोगों के घरों में भिखारी, गुलाम या अनचाहे आदमी की तरह रहने के लिए तैयार नहीं हूं।" उन पर आधुनिक विचारधाराओं का असर तो हुआ, लेकिन उन्होंने अपने पैरों को उखड़ने नहीं दिया और वह बड़ी मजबूती से अपनी धरती पर पैर जमाये रहे।

इस तरह उन्होंने हम लोगों की आध्यात्मिक एकता को बनाये रखने के लिए चोटी पर बैठे पश्चिमी सभ्यता से प्रभावित कुछ मुट्ठी भर लोगों और जनसाधारण के बीच बन रही दीवार को तोड़ने, पुरानी सूखी जड़ों में से निकलने वाली नयी जड़ों को ढूंढ़ने और उन पर नव-निर्माण करने, जनता को उसकी गहरी नींद में पड़े सोते रहने, हाथ पर हाथ रखकर बैठे रहने देने के बजाय उसे जगाने और सक्रिय बनाने का काम शुरू किया।

उनका झुकाव एक ही ओर था, लेकिन इसके अनेक पहलू थे। उन्हें इन कामों में जुटे देखकर लोगों के मन में यही छाप पड़ती थी कि वह जनता के हैं, उनमें और जनता के बीच एक ही समुदाय की भावना पैदा हो गयी है। हिंदुस्तान के ही नहीं बल्कि दुनिया भर के ऐसे लोगों और उनके बीच एक हैरतअंगेज एकता हो गयी है, जिनका एक हक छीन लिया गया है और जो गरीबी से मारे हुए हैं। उनमें इन गिरे हुए लोगों को उठाने की लगन के आगे बाकी और दूसरी चीजों की तरह धर्म का गौण स्थान है।.... उन्होंने कहा कि उनकी सबसे बड़ी इच्छा, 'हर एक की आंखों के आंसू पोंछना है'।

गजब की ताकत वाले इस आदमी ने, जिसमें भरपूर आत्मविश्वास था, जिसने हर एक के लिए बराबरी और आजादी की हिमायत की और इसके लिए गरीब से गरीब आदमी जिसका पैमाना रहा, जब हिंदुस्तान की जनता को मोहित किया और चुंबक की तरह अपनी ओर खींच लिया तो यह कोई ताज्जुब नहीं है। जनता ने ऐसा अनुभव किया कि वह उसके भविष्य को उतना ही सुहावना बना देंगे, जितना इतिहास था और वह मौजूदा अंधेरे में

से उसे निकाल ऐसी जिंदगी की ओर ले जायेंगे, जो भरी पूरी और आशापूर्ण होगी। ऐसा अनुभव जन-साधारण को ही नहीं, बल्कि बुद्धि-वर्ग और अन्य लोगों को भी हुआ, जिनके दिमाग में अक्सर खलबली पैदा हो जाती है और जो उलझन में पड़ जाते थे। ऐसे लोगों को अपनी जिंदगी के ढर्रे में किसी भी तरह तब्दीली लाना औरों से ज्यादा मुश्किल लगता था। उन्होंने इस तरह न सिर्फ उन लोगों में जो उनके अनुयायी थे, बल्कि अपने विरोधियों में और इसके अलावा उन लोगों में भी, जिनका किसी भी तरफ झुकाव नहीं था और जो सोचने और काम करने के बारे में कुछ भी तय नहीं कर पा रहे थे, एक मनोवैज्ञानिक क्रांति पैदा कर दी।

कांग्रेस पर गांधी छाये हुए थे, लेकिन उनका यह असर एक खास तरह का था क्योंकि कांग्रेस एक सक्रिय, विद्रोहपूर्ण और बहुपक्षीय संस्था थी, जिसमें लोगों की तरह तरह की राय थीं और जो आसानी से इस या उस तरफ नहीं ले जाई जा सकती थीं। गांधी जी औरों की इच्छाओं को पूरी करने के लिए कभी कभी झुक जाते थे, कभी कभी तो उन्होंने ऐसे फैसलों को भी स्वीकार किया, जो उनके खिलाफ पड़ते थे। जिन मसलों को उन्होंने अहम समझा, उन मामलों में वह अडिग थे। कई एक मौकों पर उनमें और कांग्रेस के बीच दरार पड़ गयी। लेकिन वह हमेशा हिंदुस्तान की आजादी और सैनिक राष्ट्रीयता के प्रतीक थे, जो लोग हिंदुस्तान को गुलाब बनाये रखना चाहते थे, उनके वह कट्टर खिलाफ थे। इस तरह का प्रतीक होने की वजह से लोग उनके चारों ओर इकट्ठा हो गये और उन्होंने उनका नेतृत्व स्वीकार किया, हालांकि ये लोग बाकी मामलों में उनसे सहमत नहीं थे। जब कोई सक्रिय संघर्ष नहीं छिड़ा होता, तब इन लोगों ने उनके नेतृत्व को हमेशा की तरह स्वीकार नहीं किया, लेकिन जब यह संघर्ष लाजिमी हो गया तब यह प्रतीक सबसे ज्यादा अहम बन गया और बाकी हर बात गौण हो गयी।

इस तरह सन् 1920 में नेशनल कांग्रेस और बहुत हद तक सारे मुल्क ने एक ऐसा रास्ता चुना, जो बिल्कुल नया था और उसका बार बार ब्रिटिश सरकार के साथ संघर्ष हुआ। नये साधनों और नयी परिस्थितियों, दोनों में, जो अब पैदा हो चुकी थीं, यही संघर्ष बीज की तरह था। लेकिन इस सबके पीछे कोई राजनीतिक चालें या पैंतरे नहीं थे, बल्कि हिंदुस्तान की जनता को मजबूत बनाने की ख्वाहिश थी क्योंकि इसी ताकत से वह आजादी हासिल कर सकती और उसे कायम रख सकती थी। एक के बाद दूसरा सविनय आंदोलन हुआ और इसमें लोगों को बेहद मुसीबतें उठानी पड़ीं। इन मुसीबतों को खुद न्यौता दिया गया था और इसलिए इनसे ताकत मिलती थी। ये मुसीबतें उस किस्म की नहीं थीं, जो गैर रजामंद आदमी को दबोच लेती हैं और जिसके बाद मायूसी और पस्त हिम्मती छा जाती है। जो लोग इस आंदोलन में नहीं थे, उन्हें भी मुसीबतें उठानी पड़ीं, वह भी सरकार के भयंकर दमन के व्यापक जाल में फंस गये। कुछ लोग जो इस आंदोलन में थे, उन्होंने भी

हार मान ली और झुक गये। लेकिन बहुत से लोग सच्चे और अडिग बने रहे। इन लोगों को जो तजुर्बे हुए, उनकी वजह से वह और ज्यादा पक्के हो गये। कांग्रेस कभी भी, यहां तक कि जब उनके दिन बुरे थे उन दिनों में भी, किसी भी बड़ी ताकत या विदेशी हुकूमत के सामने नहीं झुकी। वह आजादी के लिए हिंदुस्तान की जनता की तड़प और विदेशी हुकूमत के लिए उसकी खिलाफत का प्रतीक बनी रही। यही वजह थी कि हिंदुस्तान की विशाल जनता की उसके साथ हमदर्दी थी और नेतृत्व के लिए उसी की तरफ देखती थी, भले ही इसमें बहुत-से ऐसे आदमी भी रहे हों, जो काफी कमजोर रहे हों या जो अपने अपने हालात की वजह से खुद कुछ भी न कर सकते हों। एक लिहाज से कांग्रेस एक पार्टी थी, साथ ही वह कई पार्टियों का मिला-जुला एक प्लेटफार्म भी थी, लेकिन चूंकि यह हमारे मुल्क की विशाल जनता की दिली ख्वाहिश की नुमाइंदगी करती थी, इसलिए असल में यह कुछ और भी थी। उसके रजिस्टर में मेंबरों की संख्या बहुत बड़ी थी, लेकिन उसकी व्यापकता इस सूची से बहुत कम झलकती थी। इसका मेंबर होना लोगों की मेंबर बनने की मर्जी पर नहीं, बल्कि दूर दूर के गांवों में हम लोगों के पहुंचने पर निर्भर था। हम अक्सर (जैसा कि आज भी है) एक गैर कानूनी संस्था रहे हैं—कानून की निगाह में हमारा कोई अस्तित्व नहीं रहा है। यहां तक कि पुलिस हमारी किताबों और कागजों को भी उठा ले गयी है।

हिंदुस्तान में ब्रिटिश सरकार के साथ लोगों के असहयोग का आम रवैया उस वक्त भी बना रहा, जब कोई भी सविनय आंदोलन नहीं हो रहा था, हालांकि तब वह आक्रामक नहीं होता था....।

नौजवानों का फर्ज

मैं समझता हूं कि आप सब यहां इसलिए इकट्ठा हुए हैं कि आप मौजूदा हालात से खुश नहीं हैं और आप इनको बदल देना चाहते हैं। चूंकि आप यह मानते हैं कि इस दुनिया में, जो सारी मुमकिन दुनियाओं में सबसे अच्छी दुनिया है, जो कुछ है वह उनके अकेले के लिए ही नहीं जो सबसे ज्यादा ताकतवर हैं। चूंकि आप अपने नौजवान कंधों पर इस मुल्क का, हमारी अपनी इस दुनिया का, दुख और तकलीफों का बोझ महसूस करते हैं। चूंकि आप यह महसूस करते हैं कि जो जवानी और जोश आप में है, उससे आप इन दुखों के बोझ को अगर दूर नहीं कर सकते तो कम जरूर कर सकते हैं। अगर यह बात आपको यहां लाई है, तब आपका इकट्ठा होना एक अच्छी बात है और आप की मीटिंग से और बहस-मुबाहिसे से कुछ अच्छी बात निकलेगी जो हमेशा के लिए और पक्की होगी। लेकिन अगर आप मौजूदा हालत पर खुश हैं और आप में इस वजह से कुछ काम करने की तड़प नहीं है, अगर यह तड़प आपको कुछ काम करने के लिए नहीं उकसाती, तब आपमें और बूढ़े लोगों की मीटिंग में क्या फर्क है, जो बड़ी बड़ी बातें करते हैं, बहस-मुबाहिसे करते हैं लेकिन काम रत्ती भर नहीं करते? दुनिया को वे लोग नहीं बदला करते, जो हमेशा आराम चाहते हैं और जिन्होंने अपने को उन सारे लोगों की समझ का मसीहा समझ लिया है जो दुनिया को बदल देते हैं। क्रांति वे लोग नहीं लाते, जिनकी जिंदगी ऐशो-आराम की होती है, जो जी-हजूरी करते फिरते हैं और जिन्हें दुनिया की हर चीज मयस्सर होती है। दुनिया उन लोगों से बदलती है और प्रगति करती है, जो इन सबसे अलग हैं और जो मौजूदा या पहले से चली आ रही ढेर सारी बुराइयों को और अन्याय को बर्दाश्त करने के लिए तैयार नहीं हैं। थोड़ी-बहुत सुरक्षा और स्थायित्व समाज की बुनियाद होती है। सुरक्षा और स्थायित्व के बिना कोई समाज नहीं रह सकता है और न सामाजिक जीवन। हमारे मौजूदा समाज में कितने लोगों को सुरक्षा और स्थायित्व हासिल है? आप जानते हैं कि लाखों लोगों को यह हासिल नहीं है, उनके पास गुजर-बसर के लिए जरूरत की मामूली चीजें भी नहीं हैं। उनसे सुरक्षा की बात करना मखौल करना है। जब तक जनता को समाज में सुरक्षा हासिल नहीं होती तब तक आपका समाज स्थायी नहीं रह सकता। इसीलिए आप इतिहास

---

12 दिसंबर, 1928 को पूना में बंबई प्रेसीडेंसी यूथ कांफ्रेंस में दिये गये अध्यक्षीय भाषण से। 'दि बांबे क्रानिकल' में 13 दिसंबर, 1928 को प्रकाशित। *सेलेक्टेड वर्क्स,* वाल्यूम 3, पृष्ठ 203-20 से संकलित

में एक के बाद एक दूसरी क्रांति होते देखते हैं। ये क्रांतियां इसलिए नहीं होतीं कि कुछ लोग या कोई व्यक्ति खून-खराबा होते देखना चाहता है, अराजकता या अव्यवस्था का शौकीन होता है, बल्कि ये इसलिए होती हैं कि वे ढेर सारे लोग ज्यादा से ज्यादा सुरक्षा चाहते हैं। इस दुनिया में हमें सच्ची सुरक्षा और सच्चा स्थायित्व तभी हासिल हो सकता है, जब कुछ चंद जमात के लोग नहीं, बल्कि बहुत बड़ी तादाद में आम लोग खुशहाल हों।

मुमकिन है कि यह वक्त दूर हो, लेकिन समाज हमेशा से और कभी कभी अपनी आंखें बंद कर इसी को हासिल करने के लिए जद्दोजहद कर रहा है। यह संघर्ष जितना ज्यादा होता है, उतना ही ज्यादा स्वस्थ और ताकतवर समाज को बनाने की प्रेरणा होगी। अगर यह प्रेरणा बिल्कुल ही खत्म हो जाये, तब समाज गतिहीन और बेजान हो जाता है और धीरे धीरे नष्ट हो जाता है।

जब तक दुनिया पूर्ण नहीं हो जाती, तब तक स्वस्थ समाज में क्रांति के बीज बने रहने चाहिए। इसमें क्रांति और शांति बारी बारी से होती रहनी चाहिए। नौजवानों का यह फर्ज है कि समाज को गति देते रहें। उन्हें तमाम बुराइयों के खिलाफ विद्रोह का झंडा उठाना चाहिए। उन्हें चाहिए कि वे बूढ़े लोगो को रोकें, जो अपनी निष्क्रियता के बोझ से सामाजिक विकास और आंदोलन को दबा देते हैं।

आप मुझसे इत्तफाक रखते हैं, यह जानकर मुझे खुशी होती है, लेकिन अगर आप इसके बाद सोचते और काम करते तो इससे कोई फायदा नहीं। मैं तो इससे ज्यादा यह चाहता हूं कि आप दुनिया की मौजूदा हालत पर सच्चे दिल से समझें, आप में इसमें सुधार करने की इच्छा पैदा हो और क्या करना है, किस तरह करना है, उस बारे में जानने की ख्वाहिश पैदा हो। मैं जो कहता हूं अगर आप उसे गलत समझते हैं, तब आप उसे एकदम नामंजूर कर दीजिए। इसी तरह आप उन चीजों को भी नामंजूर कर दीजिए, जिन्हें आप समझते हैं कि वे गलत हैं या मौजूदा हालात को देखते मौजूं नहीं हैं, भले ही उन पर परंपरा, रूढ़ियों या धर्म का कैसा भी मुलम्मा क्यों न चढ़ा हो। क्योंकि जैसा चीनी कहते हैं, 'धर्म तो अनेक हैं, लेकिन तर्क तो एक है।'

आज की दुनिया में हम क्या देखते हैं? बेशुमार आदमियों की तकदीर में बेहद मुसीबतें हैं। जहां कुछ थोड़े-से लोग ऐशो-आराम की जिंदगी में रह रहे हैं, वहां बहुतों को रोटी और कपड़ा तक नहीं मिलता और उन्हें विकास के लिए कोई अवसर भी प्राप्त नहीं है। युद्ध और लड़ाइयां दुनिया को तबाह करती हैं और जो ताकत समाज में एक बेहतर व्यवस्था कायम करने में लगनी चाहिए, वह ज्यादातर आपसी होड़ और विनाश करने में खर्च हो रही है। अगर दुनिया की यह हालत है, तब हम अपने बदनसीब मुल्क के बारे में क्या कहें? विदेशी हुकूमत ने उसे एकदम कंगाल और मुसीबतजदा बना दिया है और पुरानी

सड़ी-गली रूढ़ियों और ख्यालों से चिपके रहने की वजह से उसकी जिंदगी का सारा रस सूख चुका है।

जाहिर है कि दुनिया में कोई बहुत बड़ी खराबी है और लोगों को यह शक होने लगता है कि इस अव्यवस्था और दुख के पीछे क्या कोई खास मकसद है? ढाई हजार बरस पहले राजकुमार सिद्धार्थ ने, जो बाद में महान बुद्ध कहलाए, इसी दुख को भोगा था और व्यथित होकर अपने से यह सवाल किया था :

यह कैसे हो सकता है, ब्रह्मा सृष्टि का निर्माण करे और उसे दुखी रखे? सर्वशक्तिमान ही ऐसा करता है तो वह शुभ नहीं और यदि उसमें शक्ति नहीं, तो वह ईश्वर ही क्या? लेकिन चाहे कोई मकसद हो या नहीं हो, इंसान का तुरंत यह फर्ज हो जाता है कि वह इस दुख को कम करे और एक ज्यादा अच्छा समाज बनाने में मदद करे और एक ज्यादा अच्छे समाज का लाजिमी तौर पर यह मकसद है कि मुल्क के ऊपर दूसरे मुल्क का, आदमी के ऊपर आदमी की सारी प्रभुता को खत्म कर दे।

आपने अक्सर ब्रिटिश साम्राज्यवाद को बुरा-भला कहा है क्योंकि आप उसके नीचे मुसीबतें उठा रहे हैं, लेकिन क्या आपने इस बात पर गौर किया है कि यह तो सारी दुनिया में हो रहा है और इसमें आपकी आवाज पर बेशक सबसे ज्यादा एतराज है और आपकी आवाज सबसे ज्यादा चोट करने वाली है। क्या आपने इस बात पर भी गौर किया है कि विश्वव्यापी साम्राज्यवाद समाज की एक ऐसी व्यवस्था का प्रत्यक्ष नतीजा है, जो आज दुनिया के ज्यादातर हिस्सों में आयी हुई है और जिसे पूंजीवाद कहते हैं। अभी आपकी और मेरी समस्या अपने मुल्क के लिए सियासी आजादी हासिल करना है, लेकिन यह उस समस्या का सिर्फ एक हिस्सा भर है जो हमारे सामने है। जब तक पूंजीवाद को जड़ से उखाड़ नहीं फेंक दिया जाता, तब तक कुछ थोड़े-से लोग मानव जाति का शोषण करते रहेंगे और उसे सताते रहेंगे। बहुत मुमकिन है कि हममें से बहुत-से लोग उनमें जा मिलें जो लोगों का शोषण करते हैं, लेकिन इससे बहुतों के लिए आजादी नहीं हासिल होगी। इसलिए हमारा मकसद सभी तरह के साम्राज्यवाद को नष्ट करना और एक दूसरे आधार पर समाज का फिर से निर्माण करना होना चाहिए। यह आधार सहयोग का होना चाहिए और यह समाजवाद का दूसरा नाम है। इसलिए हमारा राष्ट्रीय लक्ष्य कोआपरेटिव सोशलिस्ट कामनवेल्थ की स्थापना करना होना चाहिए और हमारा अंतर्राष्ट्रीय आदर्श सोशलिस्ट राष्ट्रों का एक विश्वसंघ बनाना होना चाहिए।

हमें अपने मकसद की ओर कदम बढ़ाने के पहले दो तरह के विरोधियों का, सियासी और सामाजिक विरोधियों का, मुकाबला करना होगा। हमें अपने विदेशी हुक्मरानों के साथ साथ हिंदुस्तान में सामाजिक प्रतिक्रियावादियों को अपने बस में करना होगा। हम हिंदुस्तान में पुराने जमाने में अजीब-सी बातें देख चुके हैं कि राजनैतिक उग्रपंथी सामाजिक मामलों

में कभी कभी प्रतिक्रियावादी हो जाते हैं और राजनैतिक नरम दल वाले लोग आमतौर पर सामाजिक मामलों में काफी ज्यादा उदार बन जाते हैं। लेकिन मुल्क की सियासी जिंदगी को सामाजिक और आर्थिक जिंदगी से अलग करना नामुमकिन है और आप समाज के एक हिस्से का इलाज कर सारे समाज को ठीक नहीं कर सकते। समाज के रोगी हिस्से का जहर समाज के बाकी हिस्से की ओर फैलता जाता है और बीमारी जड़ पकड़ लेती है। इसलिए आपका राजनैतिक और सामाजिक जीवन दर्शन पूर्ण होना चाहिए और आपके कार्यक्रम में राष्ट्रीय कार्यकलाप का हर पक्ष शामिल रहना चाहिए।

यह बात आज साफ है कि जो लोग हिंदुस्तान को गुलाम बनाये रखना चाहते हैं, उनका सामाजिक प्रतिक्रियावादियों के साथ रोजी रोटी का संबंध है। हो सकता है कि इस पर पहले कुछ शक रहा हो। इस जग-जाहिर सच्चाई के लिए अगर कोई सबूत चाहिए तो वह पिछले महीने की घटनाएं पेश कर चुकी हैं। आपने साइमन कमीशन देखा और आपने इसके जबरदस्त बायकाट में हिस्सा लिया। आपने यह भी देखा कि किस तरह कुछ लोगों और कुछ दलों ने इस कमीशन का साथ दिया और मुल्क की ख्वाहिश के खिलाफ इसका खैर मखदम करने के लिए शरीक हुए। ये कौन-से लोग हैं? ये कौन-सी पार्टियां हैं? आप लाजिमी तौर पर पायेंगे कि ये लोग सामाजिक प्रतिक्रियावादी हैं, सांप्रदायिक हैं, जो आम जनता का हक मारकर अपने लिए खास रियायतें और हक चाहते हैं।

सियासी ताकतों और सामाजिक प्रतिक्रियावादी ताकतों के गठबंधन की इससे भी ज्यादा मार्के की मिसाल सामाजिक सुधार के बारे में हिंदुस्तान की मौजूदा सरकार का नजरिया है। जनता के प्रतिनिधियों ने समाज के नुकसानदेह रीति-रिवाजों से छुटकारा पाने के लिए जो कोशिशें की हैं, उनके रास्ते में सरकार ने रुकावटें पैदा कर दी हैं और हमारा समाज आमतौर पर सरकार की खिलाफत की वजह से काफी तेजी से तरक्की नहीं कर सकता और न मौजूदा बदलते हालात के मुताबिक अपने को ढाल ही सकता है। हिंदुस्तान की ब्रिटिश हुकूमत खुद-ब-खुद हिंदुओं और मुसलमानों के रीति-रिवाजों की सरपरस्त बन गयी है। हाल में पब्लिक सेफ्टी बिल पर असेंबली में बहस के वक्त सरकारी पक्ष के मेंबरों को हिंदू और इस्लामी समाज के आदर्शों की खूबियों की लच्छेदार भाषा में तारीफ करते और भर्राए गले से यह बताते देखकर कितनी दया आ रही है कि सोशलिस्ट और कम्युनिस्ट विचारधाराओं के फैलने से भयंकर सर्वनाश हो जायेगा। ऐसा लगने लगा था कि असेंबली में शुद्धि और तबलीग की पैरवी करने वाले लोग सरकारी सीटों पर बैठे ब्रिटिश मेंबरों को जीत लेंगे, हालांकि यह समझ में नहीं आ रहा था कि वे लोग सबसे ज्यादा तरजीह किस बात के लिए दे रहे थे। कोई भी इस अजीबोगरीब नजारे को नहीं भूल सकता कि हिंदुस्तान के ईसाई हुक्मरान अपने को किस तरह हिंदू धर्म और इस्लाम की एक बहुत बड़ी ढाल साबित कर रहे थे।

पुराने जमाने में इंसान की आजाद रहने की ख्वाहिश को कुंद करने के लिए धर्म का सहारा लिया जाता रहा है। बड़े बड़े राजा-महाराजाओं और शहंशाहों ने अपने फायदे के लिए इसका इस्तेमाल किया और आम जनता को यह यकीन करने पर मजबूर कर दिया कि शासन करने का उनका अधिकार एक दैवी अधिकार है। पुजारी और दूसरे विशिष्ट वर्ग के लोगों ने अपने अधिकारों के दैव-सिद्ध होने का दावा किया। धर्म की मदद से आम जनता को यह बताया गया कि उनकी मुसीबतें तो उनकी किस्मत या पिछले जन्म के पापों का नतीजा हैं। महिलाओं को नीचा दर्जा दिया गया और उन्हें अब भी नीचा दर्जा दिया जाता है। धर्म के नाम पर बहुत-सी जगहों पर पुराने जमाने के बदशीपन की (बदनसीबी) बची-खुची परंपरा—पर्दा प्रथा मानने पर मजबूर किया जाता है। दलित और पददलित वर्ग के लोग दुनिया से चिल्ला-चिल्लाकर कहते हैं कि उन्हें दबाकर रखने और ऊपर उठने से रोकने के लिए धर्म का किस बुरी तरह से इस्तेमाल किया जा रहा है। धर्म सत्तावाद का, निरीह आत्मसमर्पण का मूल आधार रहा है। चूंकि हमारे शासक इस बात को जानते थे और चूंकि उनकी हुकूमत सत्तावाद के इस आदर्श पर मुनहसर है, इसलिए वह हिंदुस्तान में इसे और ज्यादा लागू करने की कोशिश करते रहते हैं। अगर बुद्धिजीवियों द्वारा पुराने रीति-रिवाजों के बारे में विद्रोह होता है, तब सत्तावाद की बुनियाद ही ढह जाती है और यह अपने साथ ब्रिटिश हुकूमत की नींव को भी ले बैठेगी।

आजकल हिंदुस्तान में और बेशक सारी दुनिया में सियासी और सामाजिक सुधारों के बारे में बहुत-से तर्क-वितर्क और बहस हो रही हैं। इन सब तर्कों से दो परस्पर विरोधी विचारधाराएं सामने आती हैं। एक तो है सुधारवादी विचारधारा, जो आज सत्ता में या विशेष पदों पर बैठे लोगों की सहमति से धीरे धीरे सुधार करने में यकीन करती है। यह विचारधारा धीरे धीरे विकास की प्रक्रिया में विश्वास करती है। सियासी क्षेत्र में यह रजामंदी से या ब्रिटिश हुकूमत की सहमति से डोमीनियन हुकूमत में यकीन करती है। आर्थिक क्षेत्र में यह पूंजीपतियों और जमींदारों से उनकी सहमति से धीरे धीरे ताकत हासिल करने में यकीन करती है, जो हालांकि खुशी खुशी नहीं होगी और पूरी भी नहीं होगी। शुद्ध सामाजिक क्षेत्र में सुधार, विशेष अधिकार वाले लोगों को धीरे धीरे हटा कर किया जायेगा। दूसरी विचारधारा क्रांतिकारी है, जो तेजी से परिवर्तन चाहती है और जो इस बात में यकीन नहीं करती कि जिनके हाथ में सत्ता है, वे उसे तब तक नहीं छोड़ेंगे जब तक उन्हें ऐसा करने के लिए मजबूर नहीं कर दिया जाये। रजामंदी की बात यहां भी आती है, लेकिन यह खुशी खुशी नहीं है और जोर-जबरदस्ती से हारे लोगों की रजामंदी है....।

अगर आपमें से कोई यह यकीन करता है कि हम मीठी मीठी बातों और तर्क से उन लोगों के हाथ से सत्ता छीन लेंगे, जिनके पास यह आज है तो मैं जो कह सकता हूं वह यह कि हमने इतिहास से कोई भी सबक नहीं सीखा और न हिंदुस्तान की हाल की घटनाओं

पर कोई गौर ही किया है। हमारे सामने समस्या सत्ता को जीतने की है....।

हालात को देखते हुए असली सच्चाई है संगीन और डंडा। आप किस तरह ठंडे लोहे और बेजान लकड़ी के टुकड़ों से बहस या मीठी मीठी बातें कर सकते हैं? अगर आप इनको जीतना चाहते हैं, तब आपको इनका सामना दूसरे तरीकों से करना चाहिए, आपको अपने सामने संगीनों और डंडों के मुकाबले ऐसे तरीकों का इस्तेमाल कर करना चाहिए, जो इनसे ज्यादा बड़े और ताकतवर हों।

कहा जाता है कि सरकार को कानून और व्यवस्था कायम रखनी चाहिए। अगर इस काम में बेतहाशा उथल-पुथल होती है, लोगों की मौतें होती हैं और वे घायल होते हैं, तब इससे उसके लिए क्या फर्क पड़ता है? हर हिंदुस्तानी जानता है कि कानून और व्यवस्था के नाम पर कितने अत्याचार किये गये और कितने किये जा रहे हैं। लेकिन हममें बहुतों को अभी भी कोई परवाह नहीं है। कानून और व्यवस्था प्रतिक्रियावादियों, अत्याचारियों और उन लोगों का आखिरी बहाना होती है, जिनके पास सत्ता है और जो उसे छोड़ने से इंकार कर देते हैं। जब तक आजादी नहीं मिलती, किसी भी तरह का कानून और व्यवस्था नहीं रह सकती। फ्रांस के एक दार्शनिक पूर्दो ने कहा था—आजादी व्यवस्था के बाद नहीं आती, उसका जन्म तो व्यवस्था से पहले होता है।

मैं जिस सूबे का हूं, उसके गवर्नर ने हाल में अपनी कौम के रिवाज के मुताबिक अवध के तालुकदारों को नसीहत दी। उन्होंने कहा कि अपने दोस्तों का चुनाव समझदारी से करो। मैं दिल से यही सलाह आपको देता हूं, हालांकि मेरी और आपकी पसंद गवर्नर हेली साहब की पसंद से मुख्तलिफ हो। जब आप अपने साथियों का चुनाव करें, तब आपको यह देखना होगा कि मुल्क को ताकत देने वाले कौन-से तत्व हैं, वह कौन-सी पार्टियां हैं, जिन्हें हिंदुस्तान के आजाद होने से फायदा होगा और वह कौन-सी हैं, जो हमारे इस मुल्क का शोषण होते रहने से फायदा उठायेंगी। आप इनमें से पहले बताये लोगों को चुनें और बाकी लोगों को खुश करने या उन्हें अपनी तरफ मिलाने में अपना वक्त और ताकत जाया नहीं करें। सबसे अहम बात तो यह है कि मुल्क की आम जनता—किसानों और उद्योगों के मजदूरों को—अपना साथी बनायें और जब आप आजाद हिंदुस्तान की कोई तस्वीर अपने दिमाग में सोचें, तब उसे इन लोगों के नजरिये से सोचें...

यहां पर जितने लोग इकट्ठा हैं, उन सबके लिए आजादी प्यारी है। यहां ऐसे बहुत-से लोग भी होंगे, जिन्हें जिंदगी की जरूरत की चीजें मयस्सर हैं, और जिन्हें रोजाना रोटी के लिए मशक्कत नहीं करनी पड़ती। हालांकि हमारे जिस्म को भी आजादी नहीं होने की वजह से तकलीफें उठानी पड़ती हैं, लेकिन आजादी की हमारी चाह जिस्म से ज्यादा दिमाग के लिए है। लेकिन हमारे इस मुल्क की आम जनता के लिए मौजूदा हालत का मतलब है भूख और बेहद गरीबी, खाली पेट और बेसहारा लोग। उनके लिए जिस्म की आजादी अहम

है और उन लोगों के लिए आजादी का संघर्ष इसलिए करना चाहिए, जिससे उन्हें खाना, कपड़ा और जिंदगी की जरूरत की चीजें मुहैया की जा सकें...।

हिंदुस्तान में आप नौजवानों के आंदोलन के अगुआ रहे हैं और आपने एक ताकतवर और जानदार संगठन कायम कर लिया है। लेकिन याद रखिए कि संस्थाएं और संगठन इंसान का साधन हैं। ये संस्थाएं और संगठन खुद कुछ नहीं कर सकतीं। ये तभी हरकत करती हैं, ये तभी जानदार होती हैं, जब उन्हें आदर्शों की बुनियाद पर आगे बढ़ाया जाता है। आप अपने सामने ऊंचे आदर्श रखें। निकम्मे समझौते कर उन्हें नीचे न होने दें। अपने चारों ओर नजर दौड़ायें, मुल्क में लाखों आदमी खेतों और फैक्टरियों में अपना पसीना बहाते हैं। हिंदुस्तान की सरहदों के पार देखें, जहां आपकी तरह दूसरे लोग भी उन्हीं समस्याओं से जूझ रहे हैं जैसी आपकी हैं। यह मुल्क आपकी मातृभूमि है, जो बहुत प्राचीन है। आप इसकी संतान हैं। आप इसकी आजादी के लिए लड़ें और राष्ट्रीय बनें। लेकिन इसके साथ साथ आप अंतर्राष्ट्रीय बनें, रिपब्लिक आफ यूथ के मेंबर बनें, जो सीमाओं या सरहदों या राष्ट्रों में फर्क नहीं जानता और दुनिया को हर तरह की गुलामी और अन्याय से मुक्ति दिलाने के लिए काम करता है। बरसों पहले फ्रांस के किसी आदमी ने कहा था, 'बड़े बड़े काम करने के लिए इंसान को इस तरह की जिंदगी बितानी चाहिए, जैसे वह कभी भी नहीं मरेगा।' हममें कोई भी मौत को नहीं टाल सकता, लेकिन नौजवान तो कभी भी इसकी परवाह नहीं करता। बूढ़े लोगों को जितने बरस जीना है, उतने बरस के लिए वे काम करते हैं, लेकिन नौजवान तो हमेशा हमेशा के लिए काम करते हैं।

कौमी झंडा फहराने पर

हिंदुंस्तान का कौमी झंडा मैंने अभी फहराया। आखिर इस झंडे का क्या मतलब है? यह हिंदुस्तान की आजादी का एक प्रतीक है, लेकिन यह हिंदुस्तान की एकता का भी प्रतीक है। याद रखिए कि जब किसी मुल्क का झंडा फहराया जाता है तो वह तब तक नहीं झुकता, जब तक कि उस मुल्क का एक भी आदमी जिंदा रहता है। आज हम सब यहां एक खास मौके पर इकट्ठा हुए हैं। आज राष्ट्रीय कांग्रेस का एक बहुत ही अहम जलसा होने जा रहा है और वह हिंदुस्तान की आजादी की लड़ाई में एक बड़ा कदम उठाने जा रही है। आज जब आपने इस झंडे को खड़ा किया, तब आपके दिल में यह ख्वाहिश हुई होगी कि हम इसे झुकने नहीं देंगे। मैं चाहता हूं कि आप सब यह प्रण करें कि हम पूरी ताकत से इस झंडे की हिफाजत करेंगे और यह कि हम आजादी हासिल करने के लिए अपनी जान की कुरबानी करने के लिए तैयार हैं।

आज आप जिस झंडे के नीचे खड़े हैं और जिसको आपने सलामी दी है, वह किसी एक जमात का झंडा नहीं है। यह इस मुल्क का झंडा है। अब तक अगर आप मुल्क की भलाई का ख्याल न कर किसी जमात के लिए काम करते आये हैं तो आप गलती पर थे। जो भी इस झंडे के नीचे खड़ा है वह न हिंदू है, न मुसलमान, बल्कि वह हिंदुस्तानी है। हमारे जिन स्वयं सेवकों ने आज इस झंडे को सलामी दी है, उन्हें चाहिए कि वह इसकी इज्जत रखने के लिए अपनी जान तक देने के लिए तैयार रहें। मैं आपको एक बार फिर यह याद दिला दूं कि यह झंडा फहराया जा चुका है, जब तक एक भी हिंदुस्तानी जिंदा है, चाहे मर्द हो या औरत, यह झंडा कभी भी न झुकने पाये।

कौमी झंडा फहराने के बाद दिया गया भाषण, इंडियन नेशनल कांग्रेस का अधिवेशन, लाहौर, 29 दिसंबर, 1929, 'दि ट्रिब्यून' में 31 दिसंबर, 1929 को प्रकाशित, *सेलेक्टेड वर्क्स,* भाग 4, पृष्ठ 184 से संकलित

तीन बड़े सवाल

हिंदुस्तान आज दुनिया के आंदोलन का एक हिस्सा है। इस आंदोलन में न सिर्फ चीन, तुर्की, फारस और मिस्र, बल्कि रूस और पश्चिम के मुल्क भी शामिल हैं। हिंदुस्तान इस आंदोलन से अपने को अलग नहीं रख सकता। हमारी अपनी समस्याएं हैं, जो मुश्किल हैं और पेचीदा भी। उनसे हम भाग नहीं सकते और न उन समस्याओं का बहाना बना सकते हैं, जो दुनिया पर असर डाल रही हैं...।

मजहबी कट्टरपन और अंधविश्वास के लिए मेरे दिल में कोई जगह नहीं है। मुझे खुशी है कि यह कम होता जा रहा है। मुझे संप्रदायवाद से भी कोई मुहब्बत नहीं है, जो चाहे किसी भी शक्ल में हो। मुझे यह समझ में नहीं आता कि राजनैतिक या आर्थिक अधिकार मजहब या संप्रदाय के आधार पर क्यों हो। अपने अपने मजहब को मानने की आजादी, अपनी अपनी तहजीब को बनाये रखने के हक को तो मैं अच्छी तरह समझता हूं। इन अधिकारों को, खास कर हिंदुस्तान में, जारी रखने में कोई दिक्कत नहीं होनी चाहिए। हमें तो सिर्फ वह तरीका खोजना है, जिससे हम उस डर और अविश्वास को दूर कर सकें जो आज हमारे मन में घर कर चुका है। हर गुलाम कौम राजनीति के लिए डर और नफरत, इन दो तत्वों को चुनती है। हम काफी अरसे से गुलाम रहे हैं। इसलिए इनसे छुटकारा पाना कोई आसान बात नहीं है।

मैं हिंदू पैदा हुआ हूं, लेकिन मैं नहीं कह सकता कि मेरा अपने को हिंदू कहना या हिंदुओं की तरफ से बोलना कहां तक मुनासिब है। लेकिन इस मुल्क में पैदाइश को अभी अहमियत दी जाती है। इसलिए इसी पैदाइश के अधिकार के बल पर मैं हिंदुओं के नेताओं से यह कहने की जुर्रत करता हूं कि अगर वे औरों के मुकाबले पहले अपने को उदार बनायें तो यह उनके लिए फख्र की बात होगी।...

मुझे यह कहने में कोई झिझक नहीं कि मैं सोशलिस्ट और रिपब्लिकन हूं। मेरा राजा-महाराजाओं में और व्यवस्था में बिल्कुल भी यकीन नहीं रहा, जो उद्योगों के आधुनिक राजे-महाराजे पैदा करती है। लोगों की जिंदगी और किस्मत पर पुराने जमाने के राजा-महाराजाओं से ज्यादा इनका अधिकार है। ये लोग वैसे ही लुटेरे हैं, जैसे पुराने सामंत

लाहौर में 29 दिसंबर, 1929 को इंडियन नेशनल कांग्रेस के अधिवेशन में अध्यक्षीय भाषण से। *सेलेक्टेड वर्क्स,* भाग 4, पृ. 185-88, 192-93 पर पुनः प्रकाशित

लोग होते थे। मैं मानता हूं कि नेशनल कांग्रेस जैसी किसी भी संस्था के लिए, और खास कर मौजूदा हालात में, एक भरपूर समाजवादी कार्यक्रम को अपनाना शायद मुमकिन नहीं हो सके। लेकिन हमें यह समझ लेना चाहिए कि समाजवादी विचारधारा समाज में धीरे धीरे सारी दुनिया में, हर समाज में घर कर चुकी है और अगर कहीं कोई मतभेद है तो सिर्फ इस बात को लेकर है कि इसे पूरी तरह अपनाने के लिए हम कितनी रफ्तार से चलें और कौन-से तरीके अपनाये जायें। हिंदुस्तान को भी, अगर वह अपने यहां गरीबी और असमानता को खत्म करना चाहता है, इसी रास्ते पर चलना पड़ेगा। हो सकता है कि इसके लिए वह अपना ही कोई तरीका ढूंढ़ निकाले और इन आदर्शों में अपनी कौम की खासियत के मुताबिक फेर-बदल कर ले।

हमारे सामने तीन बड़े सवाल हैं—अल्पसंख्यक लोग, देशी रियासतें और मजदूर-किसान। अल्पसंख्यक लोगों के सवाल पर मैं पहले ही कह चुका हूं। सिर्फ इतना ही फिर कहूंगा कि हमें अपनी कथनी और करनी दोनों से उन्हें यह यकीन दिलाना होगा कि उनकी संस्कृति और परंपराएं महफूज रहेंगी।

देशी रियासतें हिंदुस्तान में भी पुराने जमाने की अजीबो-गरीब यादगार हैं। इनके बहुत-से राजे-महाराजे, जैसा कि हम देखते हैं, अब भी हुकूमत करना अपना ईश्वरीय हक समझते हैं चाहे वे किसी की कठपुतली ही बन कर क्यों न रहें, और उनका ख्याल है कि रियासत उनकी अपनी जायदाद है, जिसे वे मर्जी के मुताबिक लुटा सकते हैं। इनमें कुछ ऐसे भी हैं, जो अपनी जिम्मेदारी समझते हैं और जिन्होंने जनता की सेवा करने की कोशिश भी की है और लेकिन इनमें बहुत-से लोग ऐसे हैं, जिन्होंने अपने को सुधारने की कभी कोई कोशिश नहीं की। शायद हमारा इनको बुरा कहना ठीक भी नहीं है क्योंकि ये तो नफीस रिवायत से पैदा हुए हैं और आखिर में इस रिवायत को हटना ही होगा। इन राजा-महाराजाओं में से एक महाराजा ने तो साफ साफ हमें यह बता भी दिया कि अगर इंग्लैंड और हिंदुस्तान के बीच जंग होती है, तब वह इंग्लैंड का साथ देगा और अपने मुल्क के खिलाफ लड़ेगा। इसी बात से जाना जा सकता है कि वह अपने मुल्क को कितना प्यार करता है, इस पर भी अगर उनका दावा यह है कि उनके इस दावे को अंग्रेज सरकार ने भी माना है कि अपनी अपनी रैयतों की वही नुमाइंदगी कर सकते हैं और उनकी रैयत में से किसी को भी अपनी बात कहने का हक नहीं है, तो इसमें हमें कोई ताज्जुब नहीं होना चाहिए। ये रियासतें बाकी हिंदुस्तान में अलग नहीं रह सकतीं और उनके राजे-महाराजों को भी वही दिन देखने पड़ेंगे जैसे उनके जैसे लोग देख चुके हैं, बशर्ते वे अपनी इन कमजोरियों को पहचान लें, जो उनमें बुनियादी तौर पर रही हैं। इन रियासतों के बारे में फैसला करने का उन्हीं को हक है, जो वहां रहते हैं। इनमें इन रियासतों के राजे-महाराजे भी आते हैं। यह कांग्रेस, जो लोगों के खुद फैसला करने के हक की पैरवी करती है, इन रियासतों में

रहने वाले लोगों के इस हक से इंकार नहीं कर सकती। फिलहाल जो ऐसा करने के लिए तैयार हैं, कांग्रेस उन सभी राजे-महाराजाओं के साथ बातचीत करने के लिए तैयार है, और ऐसे तरीके भी तय करना चाहती है, जिससे यह तब्दीली एकदम न हो। लेकिन इन रियासतों की जनता को किसी भी हालत में नजरंदाज नहीं किया जा सकता।

हमारा तीसरा मसला सबसे बड़ा मसला है। हिंदुस्तान का मतलब है किसान और मजदूर। हम इनको जितना ऊपर उठायेंगे, इनकी मांगों को जितना पूरा करेंगे, हमें अपने काम में कामयाबी भी उतनी ही मिलेगी। हमारे कौमी आंदोलन की ताकत हम इसी बात से नाप सकते हैं कि हम इन लोगों में से कितनों को अपने साथ मिला सके हैं। हम उन्हें अपने साथ तभी मिला सकते हैं, जब हम उनके हितों का समर्थन करें। उनकी भलाई ही असल में मुल्क की भलाई है। कांग्रेस ने अक्सर उनकी भलाई की ख्वाहिश भर की है और उसने इससे आगे कुछ नहीं किया है। लोग कहते हैं कि कांग्रेस को पूंजीपति और मजदूर, जमींदार और काश्तकार के बीच तराजू के पलड़े बराबर रखने चाहिए। लेकिन इस तराजू का एक तरफ का पलड़ा तो बेहद नीचे की ओर झुका रहा है और मौजूदा हालत को कायम रखने का मतलब है बेइंसाफी और शोषण को कायम रखना। इसे दुरुस्त करने का बस एक ही रास्ता है कि एक वर्ग पर दूसरे वर्ग के इजारे को खत्म कर दिया जाये। इस सामाजिक और आर्थिक तब्दीली को आल इंडिया कांग्रेस कमेटी ने अपने एक रिजोल्यूशन में मंजूर किया है, जो कुछ महीने पहले बंबई में पास हुआ था। मैं उम्मीद करता हूं कि यहां कांग्रेस इस पर अपनी आखिरी मुहर लगा देगी और इन मसलों को हल करने के लिए ऐसे कामों का एक प्रोग्राम तैयार करेगी, जो तुरंत शुरू किये जा सकते हैं।

इस बारे में कांग्रेस को कुल मिलाकर शायद ज्यादा कामयाबी न मिले, लेकिन उसे अपना मकसद हमेशा सामने रखना और उसके लिए काम भी करना होगा। सवाल किसी एक मालिक या जमींदार से मजदूरी या इनाम लेने का नहीं है। उद्योग-धंधों या खेती के मामले में उद्योगपति या जमींदार को माई-बाप मानकर चलना एक तरह की खैरात को मानना है, जो तमाम तकलीफों की जड़ है, जो असली बुराई को दूर नहीं कर सकती। ट्रस्टीशिप की नयी थ्योरी भी बिल्कुल बेकार है, जिसकी भद्र लोग वकालत करते हैं। ट्रस्टीशिप के मायने हैं कि अच्छा या बुरा करने की ताकत उन लोगों के हाथों में ही रहे, जो खुद ही अपने को ट्रस्टी कहते हैं। और उन्हें अपनी मर्जी के मुताबिक इस ताकत का इस्तेमाल करने दिया जाये। अगर कोई सच्चा ट्रस्टी है तो वह कौम होती है, कोई एक शख्स या जमात अपने को ट्रस्टी नहीं कह सकता। बहुत-से अंग्रेज बड़ी ईमानदारी के साथ अपने को हिंदुस्तान का ट्रस्टी कहते हैं। आप देखते हैं कि उन्होंने हमारे मुल्क की क्या हालत कर डाली है।

हमें यह तय करना है कि किन लोगों के फायदे के लिए किसी उद्योग धंधे को चलाया

जाना है या जमीन से अनाज पैदा किया जाना है। आज जमीन से जो ढेरों अनाज पैदा होता है, वह किसानों या मजदूरों के लिए नहीं होता जो वहां काम करते हैं। उद्योग-धंधों का मकसद खासतौर से यही समझा जाता है कि उनसे लखपति और करोड़पति पैदा हों। फसल कितनी ही अच्छी क्यों न हो, मुनाफा कितना ही ज्यादा क्यों न हो, लेकिन हमारे मुल्क के लोगों के मिट्टी के घर और टूटी-फूटी झोपड़ियां, यहां के नंगे, कुचैले लोग, अंग्रेजी हुकूमत और हमारी मौजूदा सामाजिक व्यवस्था की बेसाख्ता तस्वीर पेश करते हैं।

पूर्ण स्वराज की शपथ

26 जनवरी, 1930, इतवार को पूर्ण स्वराज के दिन सार्वजनिक सभाओं में मंजूर किये जाने के लिए वर्किंग कमेटी की ओर से निम्नलिखित प्रस्ताव जारी किया जाता है। यह प्रस्ताव प्रांतों में, सार्वजनिक सभाओं में वहीं की भाषा में पढ़ा जाये और इन सभाओं में जो लोग शामिल हों, उन्हें इस प्रस्ताव को अपने अपने हाथ उठाकर मंजूर करने के लिए कहा जाये। प्रांतीय कमेटियां इस प्रस्ताव को तुरंत अनुवाद करा लें और इसका अपने अपने प्रांतों में व्यापक प्रचार करें।

हमारा यह विश्वास है कि दूसरे मुल्क के लोगों की तरह हिंदुस्तान के लोगों को भी यह हक हासिल है और जो किसी भी हालत में उनसे छीना नहीं जा सकता कि वे आजाद रहें, उन्हें अपनी मेहनत की कमाई हासिल हो और उन्हें जिंदगी में अपनी जरूरत की चीजें मुहैया हों, जिससे उन्हें अपनी तरक्की का पूरा पूरा मौका मिलता रहे। हमारा यह भी विश्वास है कि अगर कोई सरकार किसी कौम से उनके ये हक छीनती है और उन पर जुल्म करती है, तो उस कौम को यह भी हक हासिल है कि वह उस सरकार को बदल दे या फिर उसे मिटाकर रख दे। हिंदुस्तान में सरकार ने हिंदुस्तानियों से न सिर्फ उनकी आजादी छीन ली है, बल्कि वह अपने को जनता के शोषण पर कायम किये हैं और उसने हिंदुस्तान को आर्थिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक दृष्टि से तबाह कर रखा है। इसलिए हमारा यह विश्वास है कि हिंदुस्तान को चाहिए कि वह अंग्रेजों से अपने सारे ताल्लुक खत्म कर दे और पूर्ण स्वराज या मुकम्मिल आजादी हासिल करे।

हिंदुस्तान को आर्थिक दृष्टि से पूरी तरह तबाह कर दिया गया है। हम लोगों से हमारी आमदनी से भी बहुत ज्यादा टैक्स लिया जाता है। हमारी रोजाना की औसत आमदनी सात पैसे है, जो दो पेंस से भी कम है और हम जो भारी टैक्स देते हैं, उसका 20 फीसदी तो किसानों से मालगुजारी के तौर पर और 3 फीसदी नमक कर से आता है, जिसका ज्यादा बोझ गरीबों को उठाना पड़ता है।

देहातों में हाथ की कताई जैसे उद्योग खत्म कर दिये गये हैं। इसका नतीजा यह हुआ

यह प्रस्ताव महात्मा गांधी और जवाहरलाल नेहरू दोनों ने मिलकर तैयार किया और यह इलाहाबाद से 17 जनवरी, 1930 को कांग्रेस की वर्किंग कमेटी की ओर से जारी किया गया। *सेलेक्टेड वर्क्स,* वाल्यूम 4, पृष्ठ 215-17 से संकलित

है कि किसान साल में कम से कम चार महीने बेकार रहता है और दस्तकारियों के न होने से उसका दिमाग कुंद रहता है और जो उद्योग तहस-नहस कर डाले गये हैं, उनकी जगह दूसरे मुल्कों की बनिस्बत किसी भी तरह के उद्योग शुरू नहीं किये गये हैं। हिंदुस्तान से बाहर जाने वाले और बाहर से यहां आने वाले माल पर जो जकात ली जाती है, वह ऐसी कायम की गयी है और पौंड और रुपये की दर ऐसी बांधी गयी है कि उससे किसानों पर और भी बोझ लद जाता है। हमारे यहां जो माल बाहर से आता है, उसमें ज्यादा हिस्सा इंग्लिस्तान में बने माल का होता है। और जो जकात आने वाले माल पर ली जाती है और जो आमदनी होती है और जिसे किसानों पर बोझ को कम करने के लिए इस्तेमाल किया जाना चाहिए, वह हिंदुस्तान में रूस के मुकाबले 44 गुना कम रखी गयी है, इसी तरह यह दर अमेरिका और जर्मनी में मौजूदा दर से क्रमशः 24 और 8 गुना कम रखी गयी है। पौंड और रुपये की दर तो मनमानी से कायम की गयी है, जिससे इस मुल्क के करोड़ों रुपये बाहर खिंचते चले जाते हैं।

राजनैतिक दृष्टि से हिंदुस्तान का दर्जा जितना अंग्रेजी राज में गिर गया है, उतना पहले कभी नहीं गिरा था। जो भी सुधार किये गये बताये जाते हैं, उनसे यहां के लोगों को असली राजनैतिक अधिकार नहीं मिला है। हममें बड़े से बड़े आदमी को विदेशी हुक्मरानों के सामने झुकना पड़ता है। हमें आजादी से अपनी राय जाहिर करने और संगठित होने का अधिकार हासिल नहीं है और हमारे बहुत-से देशवासियों को जलावतन में अपनी जिंदगी काटनी पड़ती है और वे स्वदेश वापस नहीं लौट सकते। हमारी हुकूमत करने की ताकत का खून होता है और लोगों को छोटे छोटे दिहाड़ी ओहदों और मुहर्रिरियों पर ही संतोष करना पड़ता है।

सांस्कृतिक दृष्टि से हमारे यहां तालीम का जो तरीका है, उसने तो हमारी जड़ ही काट दी है और हमारी तालीम का नतीजा यह हुआ है कि हम उन्हीं जंजीरों को मुहब्बत से गले लगाते हैं, जो हमें बांधे हुए हैं।

आध्यात्मिक दृष्टि से अगर देखा जाये तो हथियारों को हमसे जबरदस्ती छीन लेने का नतीजा यह हुआ कि हम नामर्द हो गये हैं और विदेशी सरकार ने अपना कब्जा कायम रखने के लिए जो विदेशी फौज यहां रख छोड़ी है और जिसके जरिये हमारे दिलों में विदेशी हुकूमत का मुकाबला करने का ख्याल पीस डाला गया है, उसके रहने की वजह से हमारे दिलों में यह ख्याल बैठ गया है कि हम अपना काम खुद नहीं चला सकते और न विदेशी हमले का सामना ही कर सकते हैं और यहां तक कि हम चोरों, डाकुओं और बदमाशों से अपने घरों और बच्चों की रक्षा नहीं कर सकते।

हमारी यह पक्की धारणा है कि जिस हुकूमत ने हमारे मुल्क की यह चौतरफी बरबादी कर डाली है, उसकी मातहती में अब रहना इंसान और ईश्वर की दृष्टि में पाप करना है।

लेकिन हम इस बात को मानते हैं कि अपनी स्वाधीनता को प्राप्त करने का सबसे अच्छा साधन हिंसा नहीं है। इसलिए हम अपने को इस प्रकार तैयार करेंगे कि जहां तक हमसे बन पड़ेगा, हम ब्रिटिश सरकार से अपनी मर्जी से किसी भी तरह का कोई ताल्लुक नहीं रखेंगे और सत्याग्रह के लिए तैयारी करेंगे, जिसमें टैक्स न देना भी शामिल है। हमको इस बात का पूरा यकीन हो गया है कि अगर हम खुद अपनी तरफ से मदद करना छोड़ दें और टैक्स देना बंद कर दें और इसके साथ ही साथ सरकार की ओर से छेड़े और सताये जाने पर भी अहिंसा पर दृढ़ रहें तो इस अमानुषिक हुकूमत का अंत अवश्य हो जायेगा। इसलिए हम गंभीरतापूर्वक अब यह निश्चय करते हैं कि पूर्ण स्वराज कायम करने के लिए समय समय पर कांग्रेस जो आदेश देगी, हम उस पर अमल करेंगे।

'इंकलाब जिंदाबाद'

आज जब मैं तुम्हें चिट्ठी लिखने बैठा तो मुझे बाहर कुछ शोर सुनाई पड़ा, जैसे दूर कहीं बादल गड़गड़ा रहे हों। मैं शुरू में तो कुछ समझ नहीं सका, लेकिन बाद में यह आवाज कुछ जानी पहचानी-सी लगी और मुझे ऐसा लगा कि जैसे ऐसी ही आवाज मेरे दिल में भी उठ रही है। धीरे धीरे यह आवाज पास आती सुनाई पड़ी और साफ होती गयी। थोड़ी देर में मुझे कुछ भी शक नहीं रहा कि यह कैसी आवाज है। इंकलाब जिंदाबाद। इंकलाब जिंदाबाद।। सारी जेल इस ललकार से गूंज उठी और हम सबके हृदय हरे हो गये, मैं नहीं जानता कि जो ये नारे लगा रहे हैं, वे कौन लोग हैं। क्या यह वे लोग हैं, जो शहर में रहते हैं या ये गांवों के किसान हैं। न मैं यही जानता हूं कि ये नारे आज किस मौके पर लगाये जा रहे हैं, लेकिन ये जो भी लोग हों, उन्होंने हमारे दिलों में उमंग भर दी है और हमने मन ही मन उन्हें अपना जवाब और अपनी शुभकामनाएं भेज दी हैं।

हम 'इंकलाब जिंदाबाद' का नारा क्यों लगाते हैं? हम क्रांति और परिवर्तन किस लिए चाहते हैं? इसमें कोई शक नहीं कि भारत में आज बहुत बड़े परिवर्तन की जरूरत है। लेकिन वे सारे परिवर्तन, जो हम चाहते हैं, अगर हो भी जायें, और भारत को आजादी भी मिल जाये तो भी हम निष्क्रिय होकर नहीं बैठ सकते। दुनिया की कोई चीज, जिसमें जान होती है, परिवर्तन के बिना नहीं रह सकती। कुदरत की हर चीज में रोज-ब-रोज और मिनट मिनट पर परिवर्तन होता रहता है। सिर्फ उसी चीज में परिवर्तन नहीं होता, जो बेजान होती है। ऐसी चीज निष्क्रिय हो जाती है। ताजा पानी हमेशा बहता रहता है और जब कोई उसे रोक देता है तब वह ठहर जाता है और धीरे धीरे गंदला हो जाता है। उसमें बदबू आने लगती है। यही हाल मनुष्य की जिंदगी और राष्ट्र की जिंदगी का होता है। हम चाहें या ना चाहें, हम बूढ़े होते जाते हैं। बच्चियां छोटी छोटी लड़कियां और छोटी छोटी लड़कियां बड़ी बड़ी लड़कियां, फिर युवतियां और अंत में बूढ़ी औरतें हो जाती हैं। हमें इन परिवर्तनों को झेलना पड़ता है। लेकिन बहुत-से ऐसे भी लोग हैं, जो यह मानने को तैयार नहीं हैं कि यह दुनिया बदलती भी रहती है। वे सोचना बंद कर देते हैं और अपने दिमाग पर ताला लगा देते हैं और कोई भी नया विचार नहीं आने देते। उन्हें सोचने-विचारने

---

7 जनवरी, 1931 को सेंट्रल जेल, नैनी से इन्दिरा नेहरू को लिखे एक पत्र से। *ग्लिम्प्सेज आफ वर्ल्ड हिस्ट्री,* पृष्ठ 8-9 से

से जितना डर लगता है, उतना किसी और से नहीं लगता है। नतीजा क्या होना है? यह दुनिया इन लोगों के बिना भी बदलती रहती है और चूंकि ये लोग और इन जैसे लोग अपने को बदलती परिस्थितियों के मुताबिक नहीं ढालते, इसलिए समय समय पर बड़े बड़े विस्फोट होते हैं। बड़ी बड़ी क्रांतियां होती हैं, जैसे एक-सौ चालीस साल पहले फ्रांस में एक महान क्रांति हुई या अभी तेरह साल पहले रूस में एक क्रांति हो चुकी है। इसी तरह, अपने देश में हम एक क्रांति के बीच से गुजर रहे हैं। बेशक, आजादी चाहते हैं, लेकिन हम इससे ज्यादा कुछ और भी चाहते हैं। हम उन जगहों को साफ कर देना चाहते हैं, जहां पानी ठहर गया है और यह चाहते हैं कि सभी जगह साफ और ताजा पानी आता रहे। हमें अपने मुल्क से गंदगी को, गरीबी को और मुसीबतों को निकाल फेंकना चाहिए। हमें चाहिए कि जहां तक हो सके हम इन लोगों के दिमाग में लगे जालों को भी साफ कर दें, जिसकी वजह से ये लोग कुछ भी सोच नहीं पाते और उस महान कार्य में सहयोग नहीं दे पाते, जो हम सभी के सामने है। यह कार्य एक महान कार्य है और हो सकता है कि इसे पूरा करने में काफी वक्त लग जाये। इसलिए, आओ हम जोर से धक्का लगाकर इसे कुछ आगे तो बढ़ा दें—इंकलाब जिंदाबाद।

हम उस क्रांति के दरवाजे पर खड़े हैं, जो हमारे मुल्क में हो रही है। भविष्य क्या रंग लायेगा हम इस बारे में कुछ नहीं कह सकते। लेकिन हमने जो मेहनत की है, उसका फल तो आज काफी मात्रा में हम देख ही रहे हैं। भारत की स्त्रियों को देखो, वे कितने गर्व के साथ इस लड़ाई में हम सबके आगे आगे चल रही हैं। ये महिलाएं कोमल लेकिन बहादुर हैं और कोई ऐसी ताकत नहीं है, जो इन्हें रोक सके। देखो, आगे बढ़ने के लिए ये किस तरह हमारा रास्ता पुख्ता कर रही हैं। कहां गया वह पर्दा, जो हमारी इन बहादुर और सुंदर स्त्रियों को छिपाकर रखता था, जो इनके और मुल्क के लिए एक शाप था। क्या यह तेजी से दूर नहीं होता जा रहा, जिससे यह अजायबघर की चीज बन जाये, जहां हम अपने पुराने जमाने की बची-खुची चीजों को रखते हैं।

बच्चों को, लड़के-लड़कियों को, बानर सेना और बालक-बालिकाओं की सभाओं को देखो। इनमें से बहुत-से बच्चों की माताओं और पिताओं ने कभी अपनी जिंदगी बुजदिलों और गुलामों की तरह बितायी होगी। लेकिन क्या कोई यह शक करने की हिम्मत भी कर सकता है कि हमारी पीढ़ी के बच्चे किसी भी गुलामी और बुजदिली को बरदाश्त करेंगे?

इस तरह परिवर्तन का चक्र घूम रहा है, जो नीचे थे वे ऊपर आ रहे हैं और जो ऊपर थे वे अब नीचे जा रहे हैं। कभी हमारे मुल्क में ऐसा वक्त था कि परिवर्तन होता था। लेकिन इस बार हम लोगों ने ऐसा धक्का दिया है कि अब कोई भी इसे नहीं रोक सकता।

इंकलाब जिंदाबाद

आजादी की लड़ाई का तरीका

हम दुनिया की एक ऐसी हुकूमत से लड़ रहे हैं, जो सबसे ज्यादा ताकतवर कही जाती है। हम निहत्थे हैं, लेकिन हमारे नेता ने हमें एक ऐसा हथियार दिया है, जो अहिंसात्मक है, लेकिन इसने हमारे दुश्मनों के छक्के छुड़ा दिये हैं। जाती तौर पर मुझे यह मानने में कोई झिझक नहीं है कि मैं दूसरे हथियारों का भी इस्तेमाल करूंगा। मुझे शर्म इस बात पर आती है कि मेरा मुल्क गुलाम है। लेकिन हमें चाहिए कि हम पहले यह अच्छी तरह सोच-समझ लें कि इस लड़ाई में हम किस हथियार का इस्तेमाल करेंगे और वह कितना कारगर होगा। हमें यह भी देखना होगा कि हमारा मुल्क क्या कर सकता है और क्या नहीं कर सकता। इन्हीं सब बातों का ख्याल करते हुए हमने अहिंसा का हथियार चुना है और समूची दुनिया ने अब यह मान लिया है कि हमने अपने इस हथियार से बड़ी से बड़ी कामयाबी हासिल की है। हमारे तजुर्बे ने हमें कायल कर दिया है कि हमारा यह अनोखा हथियार बाकी हथियारों के मुकाबले काफी कारगर है।

लेकिन जहां हमने इस तरीके को अख्तियार करने की बात तय की है, वहां कुछ ऐसे भी लोग हैं, जिन्होंने एक दूसरा ही रास्ता चुना है। ये हमारे साथी बड़े बहादुर हैं। जब मैं यह देखता हूं कि मैं तो रिहा हो चुका हूं, लेकिन मेरे साथी-संगी जेलों में पड़े सड़ रहे हैं, तब मुझे बेहद तकलीफ और शर्म महसूस होती है। हम अपने सभी साथियों को जेलों से नहीं छुड़ा सके। यह मत समझिए कि इसकी वजह यह है कि हमें उनसे कोई हमदर्दी नहीं है। यह तो हमारी कमजोरी है। हमारे अंदर उनको छुड़ाने के लिए ताकत नहीं है। लेकिन जिस दम हममें ताकत आ जायेगी, हमारा इन साथियों के लिए जो फर्ज है उसे पूरा करने से हम कभी नहीं चूकेंगे।

मेरे इन बहादुर साथियों में से एक को हाल ही में गोली से उड़ा दिया गया। उसका नाम है चंद्रशेखर आजाद। दस बरस पहले वह बनारस के एक स्कूल में पढ़ने वाला महज पंद्रह साल का लड़का था। उसने पढ़ना छोड़ दिया और हमारे इस असहयोग आंदोलन

---

15 मार्च, 1931 को बंबई में दिये गये एक भाषण से उद्धृत। 'दि बांबे क्रानिकल' में 16 मार्च, 1931 को प्रकाशित। *सेलेक्टेड वर्क्स,* वाल्यूम 4, पृष्ठ 495 से संकलित। जवाहरलाल नेहरू ने अपने भाषण में चंद्रशेखर आजाद का उल्लेख किया है। उनकी मृत्यु 27 फरवरी, 1931 को इलाहाबाद में पुलिस के साथ एक मुठभेड़ में हुई थी।

में शरीक हो गया। वह जेल गया। 'महात्मा गांधी की जय' का नारा लगाने पर उसे कोड़े लगाये गये, लेकिन उसने अपनी गलती नहीं कबूल की। उसने बार बार 'महात्मा गांधी की जय' का नारा लगाया। वह जितनी बार नारा लगाता, उतनी बार उसके नाजुक से बदन पर कोड़ा पड़ता। जब तक वह बेहोश नहीं हो गया तब तक वह यही नारा लगाता रहा। इस लड़के की इस बहादुरी की कौन तारीफ नहीं करेगा। उसने हम से जुदा एक दूसरा ही तरीका इस्तेमाल किया। उसे इसके नतीजे का कोई डर नहीं था। उसने आखिर में इसके लिए बड़े से बड़ा जो हर्जाना देना था, वह दिया। आप यह कभी मत सोचें कि हम लोग जो ऐसे लोगों से जुदा दूसरा तरीका अपनाए हुए हैं, इन लोगों के मुकाबले कोई ज्यादा अच्छे हैं।

भगत सिंह को फांसी होने पर

मैं इन दिनों बिल्कुल खामोश रहा। मैं सोचता था कि मेरे मुंह से कोई ऐसी बात न निकल जाये, जिससे इन लोगों की सजा को कम करने के बारे में आखिरी फैसला करते वक्त कोई बखेड़ा खड़ा हो। मैं खामोश जरूर था, लेकिन मेरा खून खौल रहा था और अब सब कुछ खत्म हो गया। हममें से कोई भी उसे बचा नहीं पाया। हम उसे बेहद प्यार करते थे। उसकी गजब की बहादुरी और कुरबानी हिंदुस्तान के नौजवानों का हौसला बढ़ाती थी। हिंदुस्तान आज फांसी के तख्ते से अपनी प्यारी संतान को भी नहीं छुड़ा सकता।

हर जगह हड़ताल होगी और मातम मनाया जायेगा। सारा मुल्क अपनी इस बेबसी पर रंज करेगा, लेकिन उस आदमी के लिए फख्र भी करेगा, जो अब हमारे बीच नहीं है। हो सकता है कि हम भूल जायें, लेकिन जब भी इंग्लैंड की सरकार हमारे साथ कोई बात करेगी और कोई समझौता करना चाहेगी, तब हमेशा हम दोनों के बीच भगत सिंह की लाश सामने होगी।

---

24 मार्च, 1931 को जारी वक्तव्य। 'दि बांबे क्रानिकल' में 25 मार्च, 1931 को प्रकाशित। *सेलेक्टेड वर्क्स,* भाग 4 में पृ. 500 पर संकलित। भगत सिंह, राजगुरु और सुखदेव को 23 मार्च, 1931 को फांसी दी गयी थी।

रास्ते में एक सभा

रात हो चुकी थी। दिल्ली पहुंचकर ट्रेन पकड़नी थी, इसलिए हम लोग रोहतक-दिल्ली सड़क पर तेजी से जा रहे थे। मुझे बार बार झपकी आ जाती थी। अचानक हमारी गाड़ी रुक गयी। हमारे सामने रास्ते में आदमियों और औरतों की भीड़ जमा थी। उनमें से कुछ के हाथों में टार्च थी। वे हमारे पास आये। जब उन्हें यकीन हो गया कि हम लोग कौन हैं, तब उन्होंने हमें बताया कि वे यहां पर दोपहर से ही बैठे हमारा इंतजार कर रहे हैं। ये लोग हट्टे-कट्टे जाट थे, जिनमें कई छोटे छोटे जमींदार थे। उनसे बातचीत किये बगैर आगे बढ़ना मुश्किल था। हम गाड़ी से बाहर निकले और घुप अंधेरे में इन लोगों में शामिल हो गये। ये लोग करीब एक हजार रहे होंगे।

किसी ने आवाज लगायी, 'कौमी नारा'। इस पर इन एक हजार लोगों ने जोरदार आवाज में 'तीन बार' जवाब दिया 'वंदेमातरम'। और उसके बाद 'भारत माता की जय' और कई दूसरे नारे सुनने को मिले।

"यह सब किस बारे में है?" मैंने उनसे कहा, "वंदेमातरम और यह भारत माता की जय, यह सब क्या है?"

सब चुप। उन्होंने मेरी ओर देखा और फिर वे सब एक-दूसरे की तरफ देखने लगे। मुझे लगा कि वे मेरे इस सवाल से कुछ परेशान से हैं। मैंने उनसे अपना यह सवाल फिर किया, "ये नारे लगाने से आपका क्या मतलब है?" वे फिर भी चुप रहे। उस इलाके में कांग्रेस का कार्यकर्ता झुंझला रहा था। उसने मुझे इस बारे में कुछ बताने की कोशिश की, लेकिन मैंने ज्यादा नहीं बोलने दिया।

"यह माता कौन है? आप सब किसकी जय बोल रहे हैं?" मैंने जोर देकर पूछा। फिर भी वे चुप रहे। वे भौंचक्के-से थे। ये अजीबो-गरीब सवाल उनसे पहले कभी नहीं किये गये थे। वे हर बात को मान लेते थे, जब उनसे नारे लगाने के लिए कहा जाता, तब बिना कुछ समझने की कोशिश किये वे नारे लगाने लगते थे। अगर कांग्रेस के लोग उनसे जोर से और पूरी ताक़त से नारा लगाने के लिए कहें तो वे ऐसा क्यों करें? यह नारा एक अच्छा नारा था। इससे उनमें जोश पैदा होता और शायद इससे उनके विरोधियों में

चुनाव प्रचार के दौरान 16 सितंबर, 1936 को लिखे एक लेख से। यह अंग्रेजी में पहले पहल त्रिवेणी, मद्रास में छपा था। *सेलेक्टेड वर्क्स,* वाल्यूम 7, पृ. 348-50 से संकलित

घबराहट होती थी।

मैं फिर भी अपने सवाल पर अड़ा रहा, तब एक आदमी ने बड़ी हिम्मत बांधकर कहा कि माता का मतलब धरती है। इस किसान का इशारा जमीन की तरफ था, जो उसकी असली मां और उसका सहारा होती है।

"कौन-सी धरती?" मैंने फिर पूछा, "वह धरती जो तुम्हारे गांव की है, पंजाब की है या यह सारी दुनिया की धरती?" वे मेरे इस घुमा-फिराकर पूछे गये सवालों से चकरा गये और परेशानी महसूस करने लगे। और उसके बाद कई लोग एक साथ बोल पड़े कि इसके बारे में मैं उन्हें कुछ बताऊं। वे कुछ भी नहीं जानते थे और हर बात को समझना चाहते थे।

मैंने उन्हें बताया कि भारत पहले क्या था। मैंने उन्हें हिंदुस्तान के बारे में बताया कि वह दूर दूर तक उत्तर में कश्मीर और हिमालय से लेकर दक्षिण में लंका तक हिंदुस्तान तक फैला हुआ है, इसमें पंजाब, बंगाल, बंबई और मद्रास जैसे बड़े बड़े सूबे हैं। इस लंबे-चौड़े मुल्क में उन जैसे लाखों किसान हैं, जिनके सामने भी वही सवाल, वही मुश्किलें, बेइंतिहा गरीबी और दुख-तकलीफें हैं, जो उनके सामने हैं। लंबा-चौड़ा यही मुल्क हम सबके लिए, जो यहां रहते हैं, हिंदुस्तान है, भारत माता है। हम सब इसके बच्चे हैं। भारत माता कोई औरत नहीं है, जो रंगीन तस्वीरों में सुंदर और उदास दिखाई जाती है और जिसके लंबे लंबे केश जमीन पर छूते दिखाये जाते हैं।

भारत माता की जय। हम किसकी जय पुकारते हैं? क्या उस काल्पनिक स्त्री की, जिसका कोई वजूद ही नहीं है। तो फिर क्या यह हिंदुस्तान के पहाड़ों, नदियों, रेगिस्तानों, पेड़-पौधों और पत्थरों की जय है? 'नहीं', उन्होंने जवाब दिया, लेकिन वे मुझे कोई पुख्ता जवाब नहीं दे सके।

मैंने उनसे कहा, "निश्चय ही हम हिंदुस्तान के लाखों-करोड़ों लोगों की जय मनाते हैं, जो उसके गांवों और शहरों में रहते हैं।" मेरा जवाब उन्हें अच्छा लगा और उन सबने महसूस किया कि यही ठीक है।

"ये लोग कौन हैं? बेशक आप और आपके जैसे बहुत-से लोग। और इसलिए जब 'भारत माता की जय' का नारा लगाते हैं, तब आप अपनी और इस सारे हिंदुस्तान में बसने वाले हमारे भाइयों और बहनों की जय का नारा लगाते हैं। याद रखिए कि आप ही भारत माता हैं और यह जय आपकी जय है।" वे बड़े ध्यान से ये बातें सुन रहे थे और ऐसा लग रहा था जैसे इन किसानों के भोले-भाले जहन में कोई रोशनी-सी उतर रही है। उनके लिए यह एक ताज्जुब की बात थी कि जो नारा वे अब तक लगाते चले आ रहे थे, वह उन्हीं के बारे में था। जी हां, वे रोहतक जिले के एक गांव के गरीब जाट किसानों के बारे में था। यह उन्हीं की जय थी। तब फिर आइए, हम सब मिल एक बार फिर यह नारा एक दूसरे की शुभकामना करते हुए लगायें—'भारत माता की जय'।

देशी रियासतें और आजादी की लड़ाई

हिंदुस्तान में करीब छह सौ देशी रियासतें हैं—कुछ बड़ी, कुछ छोटी और कुछ इतनी छोटी हैं कि उन्हें नक्शे में नहीं दिखाया जा सकता। इनमें आपस में बड़ा फर्क है। कुछ रियासतें उद्योग धंधों और शिक्षा के मामले में काफी बढ़ी-चढ़ी हैं और कुछ में वहां के राजा-महाराजा या उनके दीवान बड़े लायक हैं। बहरहाल, इनमें वहुत-सी ऐसी हैं, जो दकियानूसी, बदइंतजामी और मनमानी का गढ़ बनी हुई हैं, जहां बेलगाम खुदमुख्त्यारी की ताकत का इस्तेमाल कभी कभी ऐसे लोग करते हैं, जो काफी गिरे हुए होते हैं। ये राजे-महाराजे या इनके दीवान चाहे अच्छे हों या बुरे, सारी बुराई की जड़ तो यह व्यवस्था है। यह व्यवस्था दुनिया के बाकी हिस्सों में मिट चुकी है और अगर इसे यूं ही रहने दिया गया होता तो हिंदुस्तान से भी इसका नामोनिशान बहुत पहले मिट गया होता। इस व्यवस्था के नष्ट होने तथा विकसित न होने के चिह्न साफ नजर आने लगे थे, लेकिन इसके बावजूद अंग्रेजी साम्राज्यवाद ने सहारा देकर उसे कृत्रिम रूप से बनाये रखा है। हालांकि महान क्रांतियों ने दुनिया को झकझोर कर रख दिया है तथा इसे बदल डाला है, लेकिन यह हिंदुस्तान में अंग्रेजी हुकूमत की संतान के रूप में अभी बनी हुई है और साम्राज्यवादी ताकतें इसे पाल-पोस रही हैं। बड़े बड़े साम्राज्य ढह गये हैं, राजा-महाराजाओं और छोटे-बड़े सभी शासक लुप्त हो चुके हैं। इस व्यवस्था में खुद का न कोई असर रह गया है और न ताकत ही, लेकिन यह अंग्रेजी साम्राज्यवाद है जिसका बोलबाला है। हम हिंदुस्तानियों के लिए यह व्यवस्था साम्राज्यवाद का रूप है। इसलिए जब टकराव होता है, तब हमें यह जान लेना चाहिए कि हमारी खिलाफत कौन कर रहा है।

हमें इन रियासतों के खुदमुख्त्यार होने और अंग्रेजी हुकूमत के साथ हुए इनके समझौतों की बातें बतायी जाती हैं और कहा जाता है कि ये करार और समझौते तोड़े नहीं जा सकते हैं, न इनके खिलाफ हुआ जा सकता है और इसलिए इन्हें हमेशा के लिए इसी तरह बने रहना चाहिए। हमने हाल में देखा कि जब बड़ी बड़ी अंतर्राष्ट्रीय संधियां और करार साम्राज्यवाद के उद्देश्यों से मेल नहीं खाते, तब उनका क्या हश्र होता है। हमने इन संधियों

आल इंडिया स्टेट्स पीपुल्स कांफ्रेंस, लुधियाना में 15 फरवरी, 1939 को दिये अध्यक्षीय भाषण से, अंग्रेजी में 'दि ट्रिब्यून' में 16 फरवरी, 1939 को प्रकाशित। *सेलेक्टेड वर्क्स,* वाल्यूम 9 में पृ. 420-22, 424-428, 430 पर पुनः प्रकाशित

को रद्द होते, दोस्तों और करार करने वाले मुल्कों को बेशर्मी से एक-दूसरे का साथ छोड़ते और धोखा देते तथा इंग्लैंड और फ्रांस को वायदा तोड़ते देखा। इससे लोकतंत्र और आजादी को चोट पहुंची और इसलिए किसी ने कुछ नहीं कहा। लेकिन जब दकियानूसी ताकतों, तानाशाही और साम्राज्यवाद की हार होने लगती है, तब बात अहम हो जाती है और इन संधियों को बरकरार रखने की पूरी कोशिश की जाती है, चाहे ये कितनी ही पुरानी क्यों न हों और इनसे जनता का चाहे जितना भी नुकसान क्यों न होता हो। सौ-सवा सौ बरस पुराने करारों को तामील करने के लिए कहना बहुत ही बेतुकी बात है, जिनको करने से पहले जनता से न तो कोई राय ली गयी और जिनमें जनता का कोई दखल नहीं रहा। हम किसी भी ऐसे करार या संधि को नहीं मानते और न हम इनको कभी मंजूर करेंगे। हम जिस ताकत को मानते हैं, और जो सबसे बड़ी और आखिरी ताकत है, वह है जनता की इच्छा और आखिर में जो चीज अहम है, वह है जनता की भलाई।

हाल ही में इन रियासतों की आजादी के बारे में एक नयी थ्योरी ढूंढ़ निकाली गयी है। यह थ्योरी उसी ताकत ने गढ़ी है, जो इन रियासतों को अपने फौलादी पंजे में जकड़े हुए है और जिसने इनको गुलाम बना रखा है। इस थ्योरी की ताईद न तो इतिहास करता है और न संवैधानिक कानून और अगर हम इन रियासतों के पैदा होने के बाबत सोच-विचार करें, तब पता चलेगा कि इनमें से बहुत रजवाड़े असल में सिर्फ सामंती सरदार हैं। लेकिन चूंकि इन रियासतों की तहजीब और वाकयात जग जाहिर है, इसलिए हमें कानूनी पचड़ों में जाने की जरूरत नहीं। हमारी तहजीब की वजह से अंग्रेजी ताकत को इनको अपने अधीन पूरी तौर से गुलाम बनाये रखने में मदद मिलती है और उसका थोड़ा-सा भी इशारा इनके लिए हुक्म बन जाता है, जिसकी ये उदूली खतरा मोल लेकर ही कर सकते हैं। हिंदुस्तान की सरकार का पोलिटिकल डिपार्टमेंट इनकी डोरी अपने हाथ में रखता है और ये कठपुतलियों की तरह उसके इशारों पर नाचती हैं। इन रियासतों में तैनात रेजिडेंट असली मालिक होता है। कुछ दिनों से अंग्रेज अफसरों को इन रियासतों में दीवान वगैरह रखने का चलन हो चला है...।

इन रियासतों में कोई आजादी नहीं है और न यह वहां आने वाली ही है क्योंकि यह भौगोलिक दृष्टि से नामुमकिन है और यह समूचा और आजाद हिंदुस्तान के सिद्धांत के खिलाफ है...

जाहिर है कि अगर टकराव को जनता और राजे-रजवाड़ों के बीच सीमित रखा जाय, तब इन रियासतों की समस्या का हल आसान हो जायेगा। अगर इन रजवाड़ों को यूं ही रहने दिया जाय, तब इनमें बहुत-से जनता के साथ हो जायेंगे और अगर ये ऐसा करने में तनिक भी झिझके, तब नीचे से आनेवाला जनता का दवाब इन्हें अपने सोचने के तरीके को बदलने के लिए मजबूर कर देगा। अगर उन्होंने ऐसा नहीं किया, तब उनका वजूद

ही खतरे में पड़ जायेगा और एक ही चारा बच रहेगा कि इनको बिल्कुल हटा दिया जाये। कांग्रेस और जुदा जुदा प्रजा मंडलों ने अब तक हर कोशिश की है कि ये राजे-महाराजे अपनी प्रजा के साथ हो लें और अपने यहां जवाबदेह सरकारें बना लें। इनको यह सोचना चाहिए कि उनके ऐसा न करने से उनकी जनता का आजादी हासिल करना नहीं रुक सकता, इस बारे में उनके खिलाफ जाना उनके और उनकी जनता के बीच एक ऐसी दीवार खड़ी कर देगा, जो कभी लांघी नहीं जा सकेगी और तब उनके और उनकी जनता के बीच समझौता होना बहुत मुश्किल हो जायेगा। पिछले सौ-एक बरसों में दुनिया का नक्शा कई बार बदला है, बड़े बड़े साम्राज्य मिटे और नये नये मुल्क बने। आज भी, हम खुद अपनी आंखों से इस नक्शे का बदलना देख रहे हैं। क्या कोई मसीहा चाहिए, जो दावे के साथ यह कह सके कि हिंदुस्तान में रियासतों की यह हुकूमतें मिटेंगी, जैसे यह अंग्रेज हुकूमत मिटेगी, जिसने इनकी अब तक हिफाजत की है...

मुझे अफसोस के साथ कहना पड़ता है कि इन राजा-महाराजाओं में से बहुत से अब भी अपने पुराने तौर-तरीकों से चिपके हुए हैं और अपने में तब्दीली लाने की कोई ख्वाहिश भी नहीं करते। वह इतिहास के इस सबक को फिर से दुहरा रहे हैं कि जब कोई संस्था अपना काम पूरा कर चुकती है और दुनिया को उसकी कोई जरूरत नहीं रहती, वह टूटना शुरू हो जाती है और अपना विवेक और सारी क्षमता खो देती है। वह बदलते हुए हालात के मुताबिक अपने को ढाल नहीं सकती। जो मिटना शुरू हो गया है, उसको पकड़कर बनाये रखने की नाकामयाब कोशिश में वह अपनी उस ताकत को भी खो बैठती है, जो वह बनाये रख सकती थी। अंग्रेजी सल्तनत और उसके हाकिमों का एक लंबा और शानदार दौर रहा है और सारी उन्नीसवीं सदी में और उसके बाद भी वह दुनिया पर छाये रहे। लेकिन आज उन्हें हम कमजोर, बेदिमाग कौम देख रहे हैं। उनमें सिलसिलेवार समझने व काम करने की काबलियत नहीं रह गयी है, वह स्वार्थों को पूरा करने में लगे हुए हैं। इस तरह वह दुनिया में अपनी इज्जत खो रहे हैं और अपनी हुकूमत की इमारत की शान को मिट्टी में मिला रहे हैं। ऐसा ही उन वर्गों के साथ भी हो रहा है, जो अपना काम पूरा कर चुके हैं और जो अपनी उपयोगिता खत्म हो चुकने के बाद भी आज टिके हुए हैं। जब अपनी प्रतिष्ठा और परंपरा तथा अभ्यास के बावजूद अंग्रेज शासकवर्ग खुले तौर से खत्म हो रहा है, तब हम अपने हिंदुस्तानी रजवाड़ों के बारे में क्या कहें, जो कई पीढ़ियों से पतन और गैर-जिम्मेदारी के माहौल में पलते आ रहे हैं। सरकारी कामों के लिए कुछ दूसरे तरह की जानकारी का होना जरूरी है। पोलो के खेल में घोड़ों को किस तरह साधा जाता है, कुत्तों की नस्ल की पहचान किस तरह की जाती है या बड़ी तादाद में भोले-भाले जानवरों को मारने में महारत किस तरह हासिल की जाये...।

क्या कोई अब भी इस मत पर अड़ा रहेगा कि इन रियासतों में मनमानी और भ्रष्ट

शासन चलते रहना चाहिए? क्या कोई अब भी यह बात करता रहेगा कि यह सब बातें खत्म नहीं होनी चाहिए और इसके बदले आजाद हुकूमत नहीं होनी चाहिए? अगर ऐसा है, तो जब तक शांतिपूर्ण संस्थाओं और एक विवेकपूर्ण और आत्मनिर्भर जनमत के विकास के लिए पूरा पूरा मौका नहीं दिया जाता, तब तक यह परिवर्तन स्वाभाविक रूप से कैसे लाया जा सकता है? चाहे प्रगति किसी भी तरह क्यों न हो, सबसे पहली जरूरत है कि हर नागरिक को बोलने और काम की आजादी हो। अगर यह कहा जाये कि इन रियासतों में लोग वहां के अफसरों के हुक्म के मुताबिक प्रशासन को संस्थाओं के दमन और जनसभाओं पर रोक और ऐसे तरीकों को बर्दाश्त करें, जो आमतौर पर गुंडों के लिए इस्तेमाल किये जाते हैं तो यह हिंदुस्तान के लिए जिल्लत है। क्या ये रियासतें बड़े बड़े जेलखानें बनी रहेंगी, जहां इंसान की आत्मा को कुचल देने की हर कोशिश की जाती है और जनता की दौलत का इस्तेमाल दरबारों में शानशौकत और ऐशो आराम के लिए किया जाता है और आम जनता भूखों मरती है, अनपढ़ और पिछड़ी बनी रहती है। क्या ब्रिटिश साम्राज्यवाद के संरक्षण में हिंदुस्तान में मध्य युग की स्थिति बनी रहेगी?

ये बड़ी बड़ी रियासतों की सरकारें एक तरह से अंग्रेजी साम्राज्यवाद की बड़ी ही लायक शागिर्द हैं। उन्होंने इनसे दूसरी और बातों के साथ साथ जनता के आंदोलनों को रोकने के लिए सांप्रदायिक मतभेद का इस्तेमाल करने का हुनर सीख लिया है। त्रावणकोर में एक जबरदस्त जन आंदोलन की खिलाफत की जा रही है और इसे यह कहकर बदनाम करने की कोशिश की जा रही है कि यह एक सांप्रदायिक आंदोलन है, जिसमें ज्यादातर ईसाई लोग हैं, कश्मीर में जनता के आंदोलन को सांप्रदायिक कहा जाता है क्योंकि उसमें लोग ज्यादातर मुसलमान हैं, हैदराबाद में इसे सांप्रदायिक कहा जाता है क्योंकि वहां हिंदू ज्यादा हैं। इन तमाम आंदोलनों की ओर से जो मांगें पेश की गयीं, पूर्णतया राष्ट्रीय, वह जैसी कि असल में हैं और उनमें किसी तरह का सांप्रदायिक झुकाव या रंग नहीं है, लेकिन उन्हें बदनाम करने और उनकी खिलाफत करने के लिए कोई बहाना खोज निकालना जरूरी था और सांप्रदायिकता का बहाना बड़ा ही कारगर है।

हिंदुस्तान में हैदराबाद और कश्मीर दो खास रियासतें हैं। हमें उम्मीद थी कि ये रियासतें अपने अपने यहां आजाद संस्थाएं और जवाबदेह सरकार बनाकर बाकी रियासतों के लिए मिसाल पेश करेंगी। अफसोस की बात है कि ये दोनों रियासतें राजनैतिक और सामाजिक दोनों ही दृष्टियों से बहुत ज्यादा पिछड़ी हुई हैं। हैदराबाद में ज्यादातर लोग हिंदू और शासक मुसलमान हैं। कश्मीर में ज्यादातर लोग मुसलमान हैं, लेकिन वहां का महाराजा हिंदू है। इस तरह दोनों रियासतों में एक जैसी समस्याएं हैं और दोनों की पृष्ठभूमि भी एक जैसी है—लोगों की बेहद गरीबी, निरक्षरता, उद्योग धंधों की कमी और साधनों का अविकसित होना। लोगों की गरीबी और बदनसीबी के ठीक उल्टे यहां के नवाब और महाराजा हिंदुस्तान

में सबसे ज्यादा मालदार हैं...

इन दो बड़ी रियासतों में ऐसे हालात रहें, यह अफसोस की बात है। इन दोनों रियासतों में जन आंदोलनों का उभरना और घर घर तक फैलना एक स्वाभाविक बात थी। यह सबसे पहले कश्मीर में और उसके बाद हैदराबाद में हुआ। इन आंदोलनों में वहां की बहुसंख्यक जनता का, कश्मीर में मुसलमानों और हैदराबाद में हिंदुओं का, शामिल होना एक लाजिमी बात थी। अगर इस हालत में शुरू में थोड़ा-बहुत सांप्रदायिक रंग दिख पड़ा तो इसमें अचरज की बात नहीं थी, लेकिन इसके बावजूद ऐसा नहीं रहा कि ये जन आंदोलन नहीं रहे, जो जनता की भावनाओं का इजहार करते। इनका एक ही राष्ट्रीय मकसद था कि सबको राहत मिले और सबकी तरक्की हो। इन आंदोलनों को सांप्रदायिक बताकर इनकी बदनामी करना, जानबूझ कर खुद को अंधा बनाना है और असलियत की अनदेखी करना है। इन रियासतों में अगर अल्पसंख्यक इनको बदनाम करने में शामिल होते हैं, तो वह खुद अपने पैरों पर कुल्हाड़ी मारते हैं। इसका मतलब यह होता है कि वह आजादी और तरक्की के खिलाफ हैं और कुछ थोड़ी-बहुत रियासतों से खुश हैं, जिनके बारे में यह यकीन किया जाता है कि ये रियासतें यहां के मौजूदा हुक्मरानों ने दी हैं...।

हममें से कोई संघर्ष नहीं चाहता, लेकिन इस जमाने में जब कि बहुत-सी चीजें टूट रही हैं, हर कदम पर हम संघर्ष के बीच घिर जाते हैं, अव्यवस्था छाने लगती है और दुनिया में फिर मारकाट का जंगली शासन होने लगता है। हम हिंदुस्तान में यह अव्यवस्था नहीं चाहते क्योंकि यह आजादी की शुरुआत नहीं है। हमें इस बात का पूरा अहसास है कि हमारी ताकत बढ़ रही है। हमें इस बात का भी अहसास है कि इसके साथ साथ तोड़-फोड़ और विघटन, सांप्रदायिकता और प्रांतवाद, गैर जिम्मेदारी और तंगदिली की ताकतें भी सिर उठा रही हैं। हमें यह याद रखना चाहिए कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद भीतर से तो कमजोर पड़ रहा है, लेकिन वह अब भी एक जबरदस्त विरोधी ताकत है और आजादी हासिल करने के लिए हमें काफी जद्दोजहद करनी पड़ेगी। हमारी आज की जिंदगी तकलीफों और नाकामयाबियों से भरी पड़ी है। कल की दुनिया के सामने अंधेरा ही अंधेरा नजर आ रहा है। इसलिए हम या दुनिया में दूसरे लोग भविष्य को आसान नहीं समझ सकते। हालांकि हमारे चारों और अंधेरा ही अंधेरा है, तो भी हिंदुस्तान में आशा की झलक दिखाई देती है। इनमें से सबसे अधिक किरणें इन देशी रियासतों की नवजाग्रत जनता की ओर से आ रही हैं। हमारी बहुत बड़ी जिम्मेदारी है, जो हम यहां की जनता के संघर्ष का बोझ उठाने की सोच रहे हैं। इस जिम्मेदारी को ईमानदारी की जरूरत है। बड़ी जबान से काम नहीं चलेगा। यह तो अक्सर कमजोरी की निशानी होती है, इसका इस्तेमाल काम के एवज में होता है। आज काम करने की जरूरत है। हमें सोच-समझकर कारगर कदम उठाने होंगे और ऐसे काम करने होंगे, जो हमें अपने मकसद तक जल्दी पहुंचा सकें, जिससे विघटन

की शक्तियां नाकाम हो जायें और जिनसे हम अपने सपनों के सुनहरे हिंदुस्तान का निर्माण कर सकें...

इन रियासतों में जनता की आजादी काफी बड़ा काम है, लेकिन यह काम सारे हिंदुस्तान की आजादी का एक हिस्सा है। जब तक हमें यह आजादी नहीं मिल जाती, तब तक यह हमारे लिए एक आंदोलन है...।

हमारा रास्ता क्या हो?

इस नाजुक दौर में, जबकि बड़े बड़े मुल्कों की तकदीर का कोई भरोसा नहीं रह गया है और विश्वयुद्ध मानवता के लिए खतरा बन गया है, हिंदुस्तान के लोग हाथ पर हाथ रख बड़ी बड़ी घटनाओं को सिर्फ तमाशबीन बनकर चुपचाप बैठे देखते नहीं रह सकते। औरों की तरह वह भी उनमें अपना फायदा या नुकसान देखते हैं। उन्हें यह तय करना होगा कि आजादी के लिए किस तरह बखूबी काम किया जाये, जो हमें बहुत प्यारी रही है...।

कांग्रेस ने वह सिद्धांत साफ साफ तय कर दिया है, जिनके मुताबिक हमें विश्व संकट और विश्वयुद्ध के वक्त काम करना चाहिए। हमें इस सिद्धांत को बराबर अपने सामने रखना है। हाल की घटनाओं और वाक्यात के मोड़ को देखते हुए उस सिद्धांत को अमल में लाने की घड़ी तेजी से चलती चली आ रही है। जब कोई निश्चित नीति अपनायी जाती है और ठोस कार्यवाही करना जरूरी हो जाता है, तब सिर्फ विरोध प्रकट कर नकारात्मक रुख अपनाना या सिद्धांतों की सिर्फ घोषणा करना काफी नहीं होता। राष्ट्रीय मामलों में विरोध जाहिर करने की स्थिति को हमारा आंदोलन बहुत पहले पार कर चुका था और हमने ठोस कार्रवाई शुरू की। विदेशी मामलों में हम अभी विरोधपूर्ण रवैये की स्थिति से गुजर रहे हैं। आज हिंदुस्तान की आवाज की एक कीमत है और अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में उसे गौर से सुना जाता है। इसलिए यह जरूरी है कि हम इन हालात के मुताबिक अपनी नीति को ढालें और अपने राष्ट्रीय आंदोलन को इसके साथ जोड़ दें।

मुल्क की आजादी के लिए संघर्ष करने के दौरान लाजिमी तौर से हम साम्राज्यवाद के विरोधी हो गये हैं और हमने न सिर्फ हिंदुस्तान में विदेशी हुकूमत की, बल्कि सिर्फ साम्राज्यवाद की भी खिलाफत की है। हमें फासिज्म साम्राज्यवाद का विकसित रूप लगा है, जो उससे ज्यादा खतरनाक है और इसलिए हमने फासिज्म को बुरा कहा है। हम इन्हें एक-दूसरे का जोड़ीदार समझते हैं। इन दोनों ने मिलकर आजादी की भावना को कुचला है और शांति और प्रगति के रास्ते में रुकावटें डाली हैं। हमने महसूस किया कि सारी दुनिया में फासिज्म और साम्राज्यवाद का आजादी और लोकतंत्र के साथ टकराव हो रहा है, इसलिए

लंदन में 29 सितंबर, 1938 को लिखे एक लेख से, अंग्रेजी में 'नेशनल हेराल्ड' में 6 अक्तूबर, 1938 को प्रकाशित। *सेलेक्टेड वर्क्स,* वाल्यूम 9 में पृ. 166-71 पर पुनः प्रकाशित

हम धीरे धीरे प्रगति और आजादी की ताकतों के समर्थक होते गये हैं। हमने साम्राज्यवाद और फासिज्म के हमलों को बुरा कहा, जो अबीसीनिया, स्पेन और चीन में हुए हैं।

फासिज्म ने सभी प्रगतिशील तत्वों को कुचला है और बेरहमी और हैवानियत की नयी मिसाल कायम की है। उसे जंगलीपन में शोहरत मिली और उसने खुल्लमखुल्ला विश्वयुद्ध का एलान किया। साम्राज्यवादी ताकतें लोकतंत्र की तो बातें करती हैं, लेकिन उन्होंने फासिज्म की मदद की व उसे बढ़ावा दिया। उन्होंने उसकी सहायता की है, जिससे उसका और ज्यादा विकास हो सके। अंतर्राष्ट्रीय नैतिकता का ह्रास हुआ, शांति के लिए सामूहिक कोशिशों को दरकिनार किया गया। मुल्कों के बीच एक-दूसरे को बेशर्म हो लूटने-खसोटने की प्रवृत्ति पैदा हुई और उसे बरदाश्त किया गया। लेकिन यह स्पष्ट था कि हमलावर को सिर्फ सामूहिक कार्रवाई से रोका जा सकता था और तभी शांति कायम की जा सकती थी। हिंसा और हमले को रोकने का शांति आधार नहीं हो सकती क्योंकि जब जब आत्मसमर्पण किया गया, तब तब हमला और धौंसपट्टी बढ़ती गयी और विश्वयुद्ध के बादल दुनिया पर छाते चले गये। जो ताकतें शांति में यकीन करती थीं, उनके लिए इस हमले को रोकना और शांति कायम करना कोई मुश्किल काम नहीं था, बशर्ते वे सब एक होकर काम करतीं क्योंकि फासिस्ट हमलावरों के मुकाबले उनकी ताकत कहीं ज्यादा थी। लेकिन जो ताकतें शांति और लोकतंत्र की बातें करती थीं, उनमें से बहुत-सी ताकतें साम्राज्यवादी थीं और उन्हें फासिज्म से हमदर्दी थी और उन्होंने उसे बढ़ावा भी दिया।

फासिज्म को आगे विकसित करने और इस तरह विश्वयुद्ध को, दुनिया को विश्वयुद्ध तक ले जाने में अंग्रेजी सरकार का खासतौर से हाथ रहा है। उसने मंचूरिया पर हमले को बरदाश्त किया। उसने अबीसीनिया को धोखा देनेवालों का साथ दिया और दबे हाथों स्पेन में भी फासिस्ट बागियों का साथ दिया। फासिज्म और नाजिज्म को लगातार बढ़ावा देते रहना उनकी एक आम पालिसी थी। स्पेन में उसे इसलिए कामयाबी नहीं मिली कि वहां के लोग उनकी झांसापट्टी में नहीं आये और उन लोगों ने अपनी आजादी के लिए बड़े हौसले और पक्के इरादे से संघर्ष किया।

चेकोस्लोवाकिया में पिछले हफ्तों में जो घटनाएं हुई हैं, उन पर आसानी से यकीन नहीं होता। इन घटनाओं से इंग्लैंड और फ्रांस की सरकारों का यह रवैया जाहिर हो गया है कि वे नाजी जर्मनी की ताकत और इज्जत बढ़ाने के लिए किस हद तक गुजर सकती हैं और अपने मकसद को पूरा करने के लिए वे मध्य यूरोप में लोकतंत्र का विनाश और एक ऐसे बहादुर और दोस्ती रखने वाले मुल्क पर अपनी ताकत का इस्तेमाल और उसके टुकड़े टुकड़े तक कर सकती हैं, जिसने उनकी बातों पर यकीन किया था। इतना विश्वासघात और बुराई का काम करने के बाद भी शांति नहीं हुई, बल्कि हमें युद्ध के कगार पर पहुंचा दिया गया। अगर इंग्लैंड, फ्रांस, रूस और दूसरी और ताकतों ने मिलकर एक मिला-जुला

जवाहरलाल नेहरू
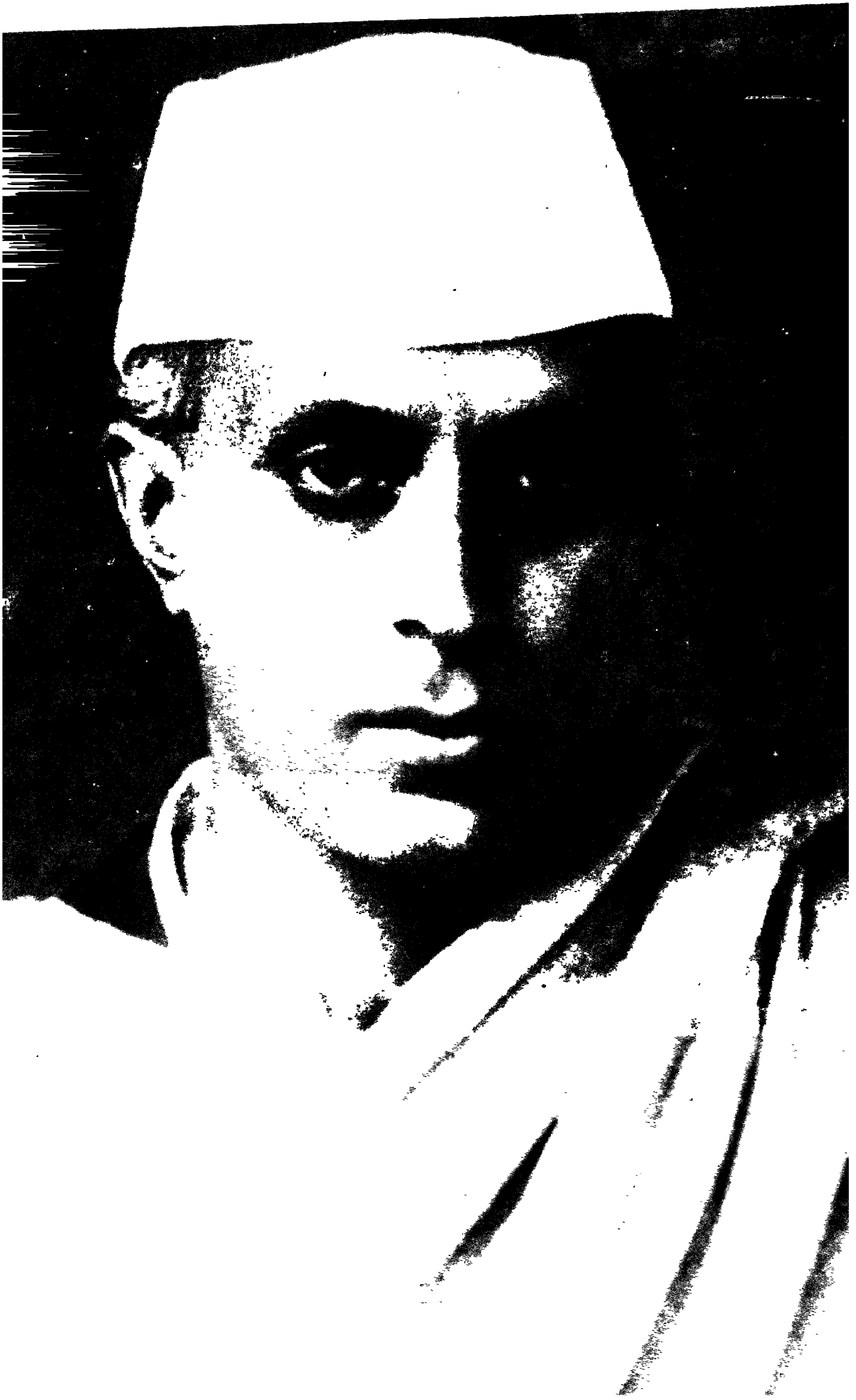
अमृतसर के सन् 1919 के कांग्रेस अधिवेशन में आये कुछ प्रतिनिधि। कुर्सी पर, बीच में अध्यक्ष मोतीलाल नेहरू। उनके बायें वाले गंगाधर तिलक और दायें स्वामी श्रद्धानन्द, एनी बेसेंट और मदन मोहन मालवीय, नीचे बायीं तरफ जवाहरलाल नेहरू

ब्रसेल्स में फरवरी, 1927 में कांग्रेस आफ आप्रेस्ट नेशन्स की अध्यक्षता करते हुए जवाहरलाल नेहरू। उनके दायें हैं जापान में समाजवादी आंदोलन के एक प्रमुख नेता ऐनकात्यामा
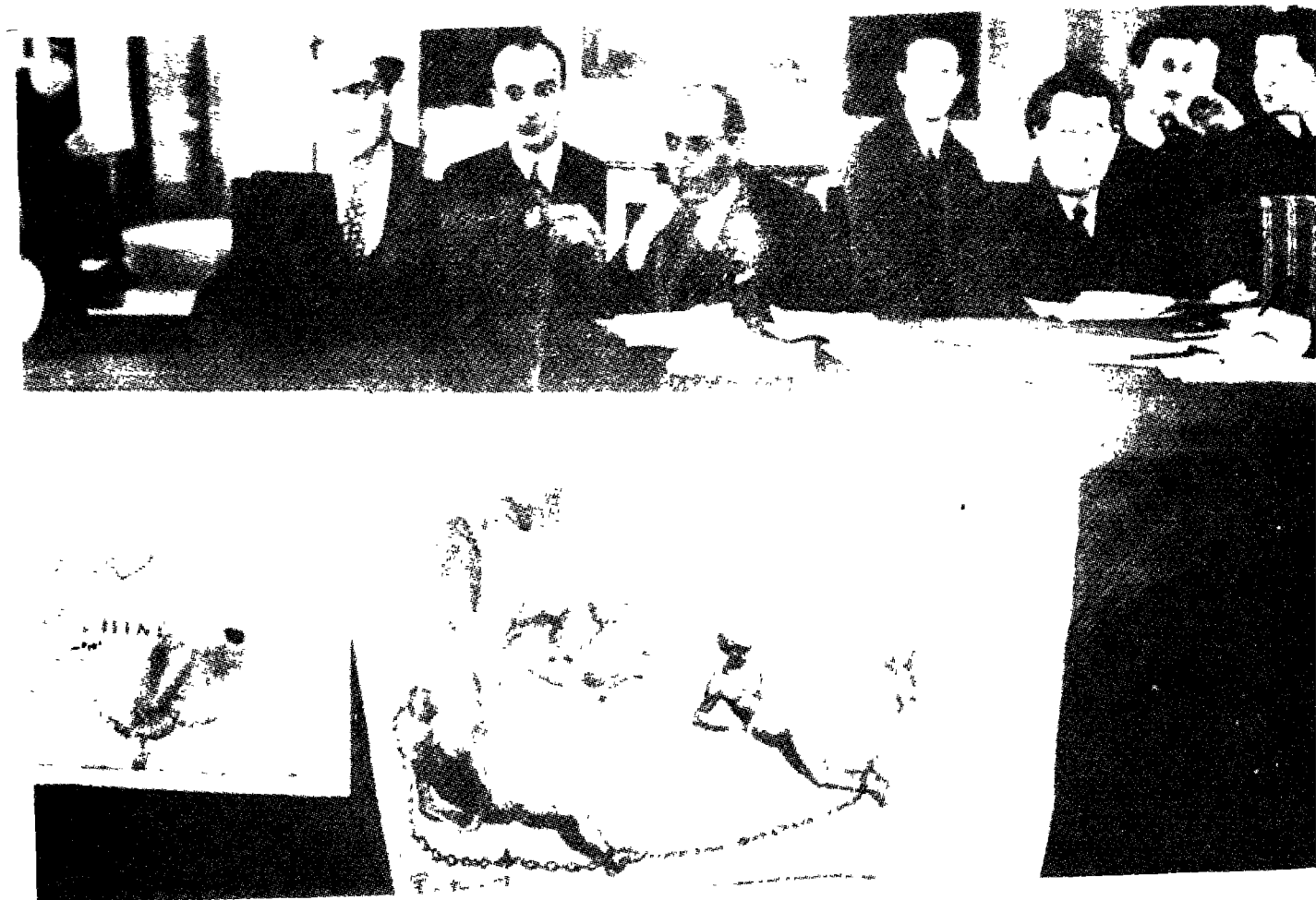
मोतीलाल नेहरू और जवाहरलाल नेहरू, 1929, लाहौर

29 दिसंबर, 1929 को लाहौर में राष्ट्रीय ध्वाजारोहण
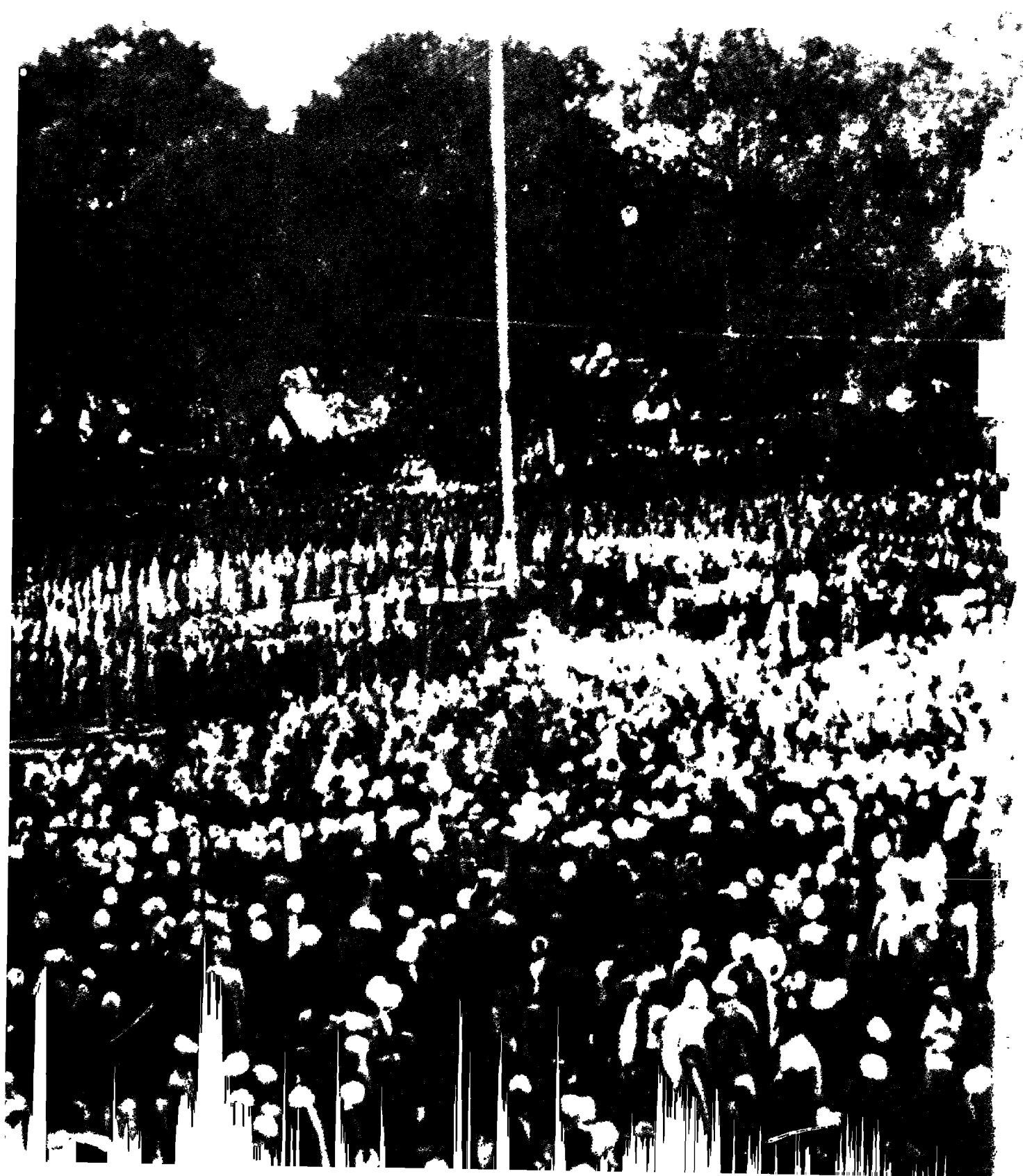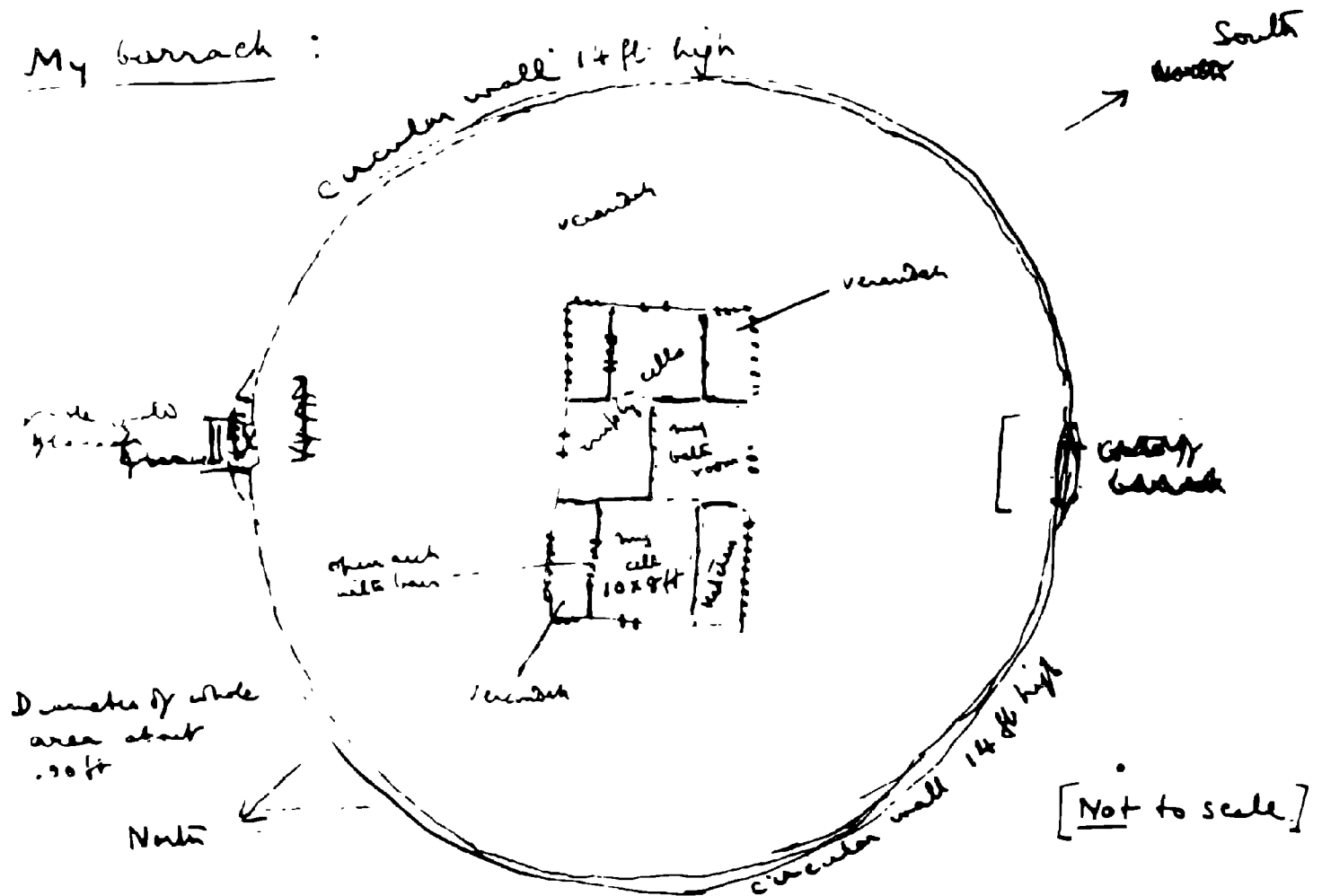
सेंट्रल जेल, नैनी में बैरक नं. 6 का रेखाचित्र। बैरक का यह रेखाचित्र जवाहरलाल नेहरू ने बनाया था। वह 14 अप्रैल, 1930 से अक्तूबर, 1930 और 19 अक्तूबर, 1930 से 25 जनवरी, 1931 में दुबारा गिरफ्तार होने पर इसी बैरक में रखे गये थे

अपनी मां और कमला नहरू को बाहर छोड़ते हुए, जो उन्हें सेंट्रल जेल, नैनी में देखने आयी थीं
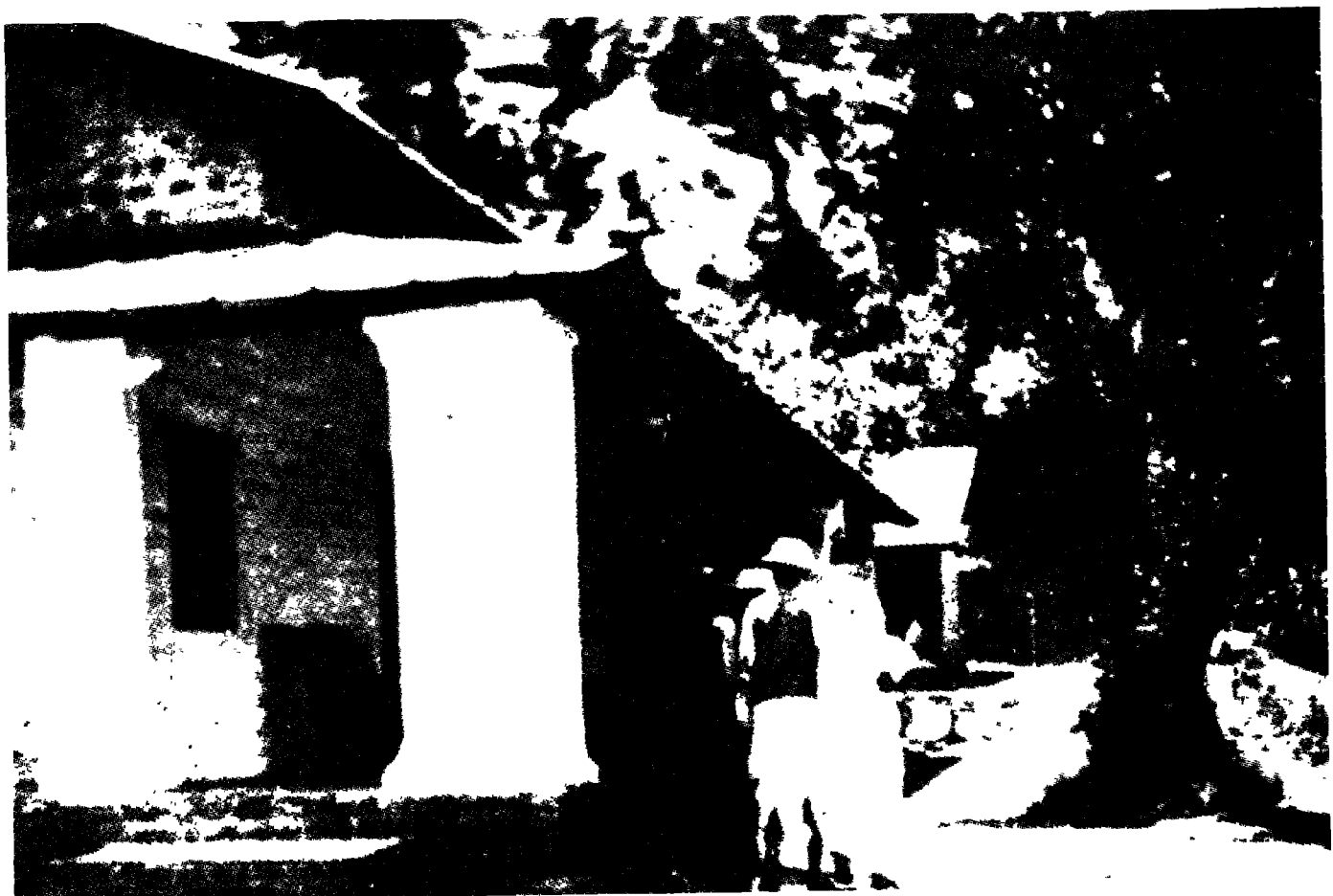
इलाहाबाद में जनवरी, 1931 में कांग्रेस वर्किंग कमेटी की एक बैठक के बाद अगली पंक्ति में बायें से दायें हैं—महादेव देसाई, डा. राजेन्द्र प्रसाद, शार्दूल सिंह कवीश्वर, सरदार वल्लभभाई पटेल, डा. एम.ए. अंसारी, जवाहरलाल नेहरू, मदन मोहन मालवीय, मौलाना अबुल कलाम आज़ाद, जे.एम. सेनगुप्त, पंडित बेन कैप्टेन और पंडित बेन पटेल

कमला नेहरू और इन्दिरा के साथ, 1930-31

गांधी जी और मौलाना आज़ाद के साथ, 1935, वर्धा

मार्च, 1936 में कराची में

विश्व भारती में 1936 में हिंदी भवन के उद्‌घाटन के अवसर पर। कुर्सी पर उनके बायें हैं रवींद्रनाथ ठाकुर और नीचे दायीं तरफ बैठे हैं सी.एफ. एन्ड्रूज

23 अप्रैल, 1936 को कांग्रेस के लखनऊ अधिवेशन में अध्यक्ष के रूप में। उनके दायें हैं सम्पूर्णानन्द
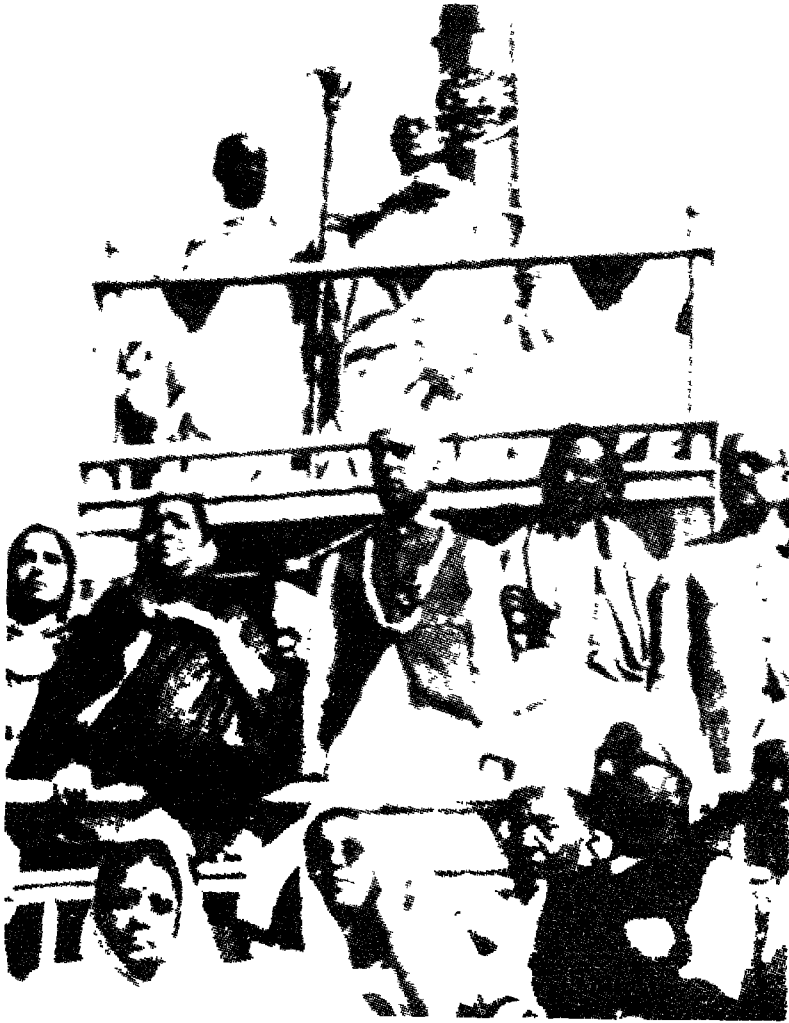
19 फरवरी, 1938 को कांग्रेस के हरिपुर अधिवेशन में कांग्रेस के अध्यक्ष सुभाष चन्द्र बोस सलामी लेते हुए

27 दिसंबर, 1936 को कांग्रेस के फाजीपुर अधिवेशन के अध्यक्ष के रूप में जुलूस में एक बैलगाड़ी पर जाते हुए

17 जुलाई, 1939 को स्पेनिश रिपब्लिकन के समर्थन में लंदन में ट्राफलगर स्क्वायर में आयोजित सभा को संबोधित करते हुए

जुलाई, 1938 में स्पेन में गृह युद्ध के दौरान स्पेनिश रिपब्लिकन फाइमे के साथ बातचीत करते हुए। उनके पीछे बायीं ओर खड़े हैं वी. के. कृष्ण मेनन

नहस पाशा और वफ्द पार्टी के अन्य नेताओं के साथ, जिसने मिस्र में स्वतंत्रता आंदोलन का नेतृत्व किया था। यूरोप से वापस आते हुए जवाहरलाल नेहरू मिस्र में एलेक्जेंडिया में रुके और वहां 6 नवंबर, 1938 को वफ्द पार्टी के नेताओं से मिले

सितंबर, 1939 में चीन में
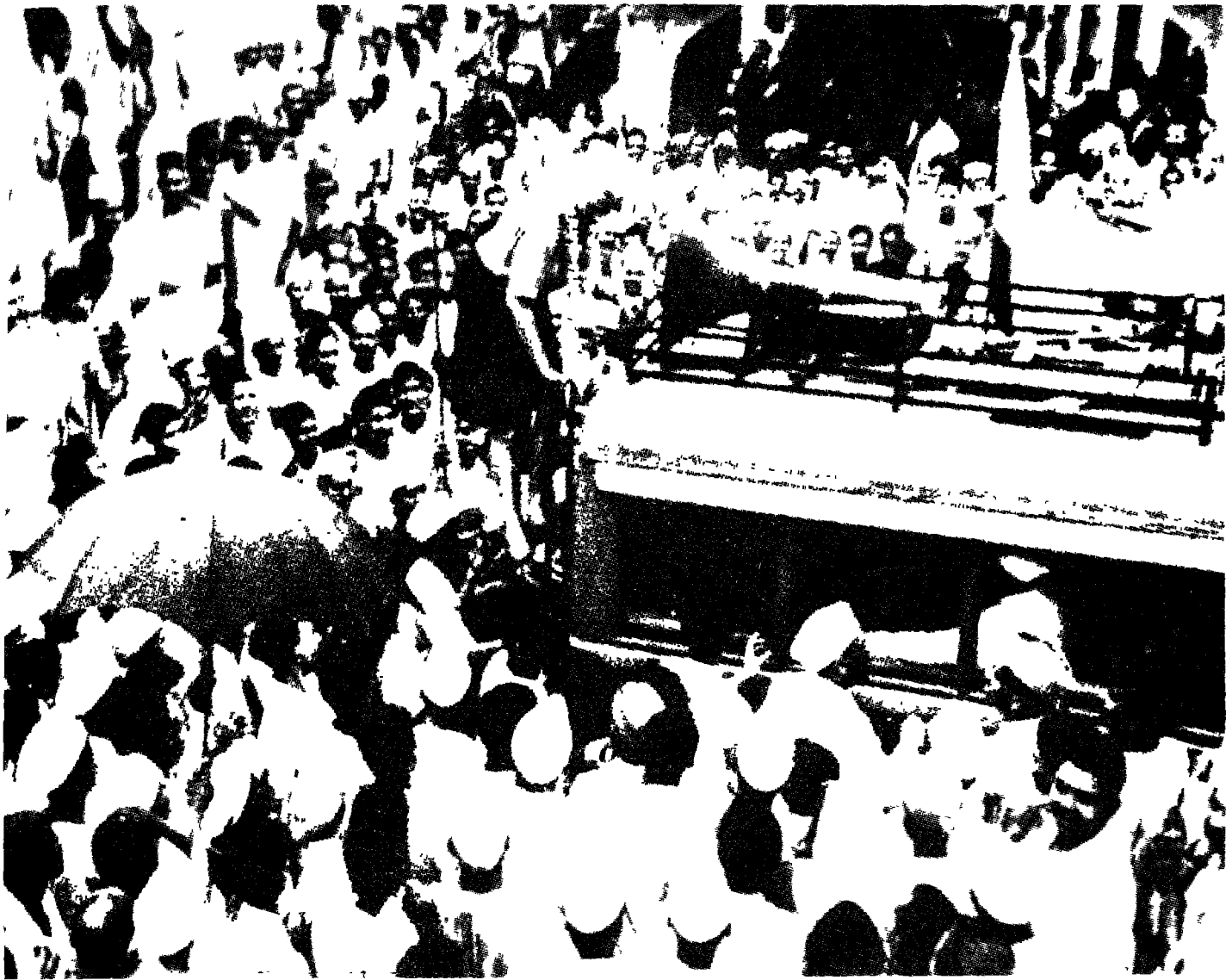
1940 में कानपुर में कांग्रेस वालंटियरों की रैली में

अप्रैल, 1940 में इलाहाबाद में कांग्रेस वालंटियर्स कैंप में

9 अगस्त, 1942 को बंबई में आल इंडिया कांग्रेस कमेटी की बैठक में गांधी जी के साथ

आजाद हिंद फौज के अफसरों की पैरवी के लिए जाते समय, जिनके खिलाफ नवंबर-दिसंबर, 1946 में दिल्ली में लाल किले में मुकदमा चलाया गया था। उनके दायें हैं तेज बहादुर सप्रू और कैलाश नाथ काटजू, जो जवाहरलाल नेहरू के साथ आई.एन.ए. डिफेंस कमेटी के मेंबर थे
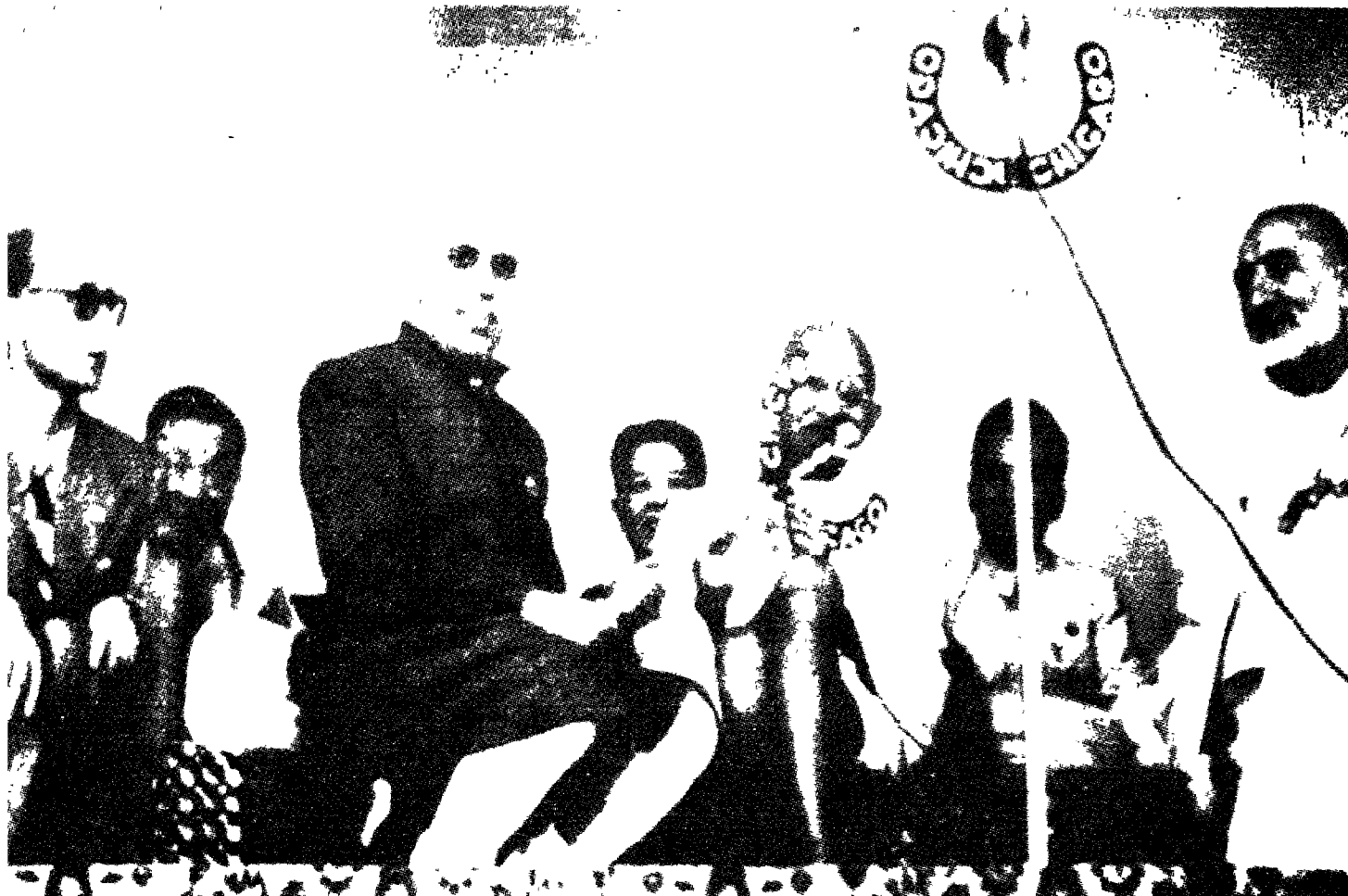
एशियन रिलेशन कांफ्रेंस में गांधी जी और खान अब्दुल गफ्फार खां के साथ। यह कांफ्रेंस दिल्ली में 1947 में 23 मार्च से 2 अप्रैल तक हुई थी

मई, 1946 में शिमला में गांधी जी और खान अब्दुल गफ्फार खां के साथ

14 अगस्त, 1947 को संविधान सभा में 'ट्रायस्ट विथ डेस्टिनी' भाषण देते हुए

शांति मोर्चा बनाया होता, तब शांति कायम की जा सकती थी क्योंकि उनकी संगठित शक्ति कहीं ज्यादा थी, जिसके सामने चुनौती देने की हिम्मत जर्मनी नहीं कर सकता था। लेकिन अंग्रेज सरकार ने रूस का साथ देने से इंकार कर दिया और हिटलर को यह यकीन हो जाने दिया कि वह अकेले ही चेकोस्लोवाकिया को रौंद सकता है और दूसरी ताकतें तमाशा देखेंगी। जब कभी समझौता करने के लिए कोई बातचीत हुई, तब उन्होंने रूस की अनदेखी की और चेकोस्लोवाकिया को कुचलने में हिटलर के साथ मिलकर काम किया। उन्होंने शांति के लिए कोशिश करने में रूस का हाथ बंटाने के बजाय हिटलर को यूरोप में पुरअसर बनाकर जोखिम लेना ठीक समझा...।

ये ताकतें एक ऐसे कगार पर पहुंच गयी हैं जहां से लौटना शायद मुमकिन न हो, लेकिन आज भी उनकी फासिस्टों को समर्थन देने वाली नीति में अभी तक कोई खास परिवर्तन नहीं हुआ है। अगर लड़ाई छिड़ती है, तब ये ताकतें लोकतंत्र की बातें करेंगी और अगर ये सरकार में बनी रहती हैं, तब ये अब भी साम्राज्यवादी फासिस्ट तरीके से काम करेंगी और अगर मौका मिला तो उसी लोकतंत्र को धोखा भी देंगी। जिस किसी ने उसकी पिछले दिनों की कार्रवाइयों पर नजर रखी है, वह न तो इस बात पर शक कर सकता है, न उस पर भरोसा ही रख सकता है।

लेकिन चाहे युद्ध हो या शांति रहे, चेकोस्लोवाकिया का भविष्य दुनिया के लिए और उन लोगों के लिए बुनियादी तौर पर खास मायने रखता है, जो लोकतंत्र और आजादी की हिमायत करते हैं। इसी मुद्दे पर फासिज्म और गैर फासिज्म ताकतों के बीच यह अहम लड़ाई होती रही है और आगे भी होगी। इसके नतीजे का काफी दूर दूर तक असर पड़ेगा। हिंदुस्तान के लोगों को इसमें दिलचस्पी होनी चाहिए क्योंकि उन पर जरूर असर पड़ेगा...

अगर यह खतरा आता है, तब कोई भी मुल्क या आदमी तटस्थ या दर्शक बनकर चुप नहीं रह सकता। तब हमें लोकतंत्र के पक्ष में अपना पूरा जोर लगाना होगा, जिससे हम अपनी आजादी के लिए काम कर सकें। ऐसा नहीं करना शायद फासिज्म और प्रतिक्रियावादी ताकतों के लिए फायदेमंद साबित हो।

किसी मुल्क की नीति को शक्ल देने या उसे सही या गलत दिशा में मोड़ने की ताकत सरकार में होती है। लेकिन जब संकट की घड़ियां आती हैं, जंग होती है, युद्ध की संभावनाएं बढ़ती हैं, तब जनशक्तियां जाग्रत होती हैं, उनका विकास होता है और वह बुनियादी तब्दीली पैदा कर देती हैं। वे सरकारों को उलट देती हैं और उन्हें एक खास ढंग से काम करने के लिए मजबूर कर देती हैं। यही वे प्रगतिशील शक्तियां हैं, जिन्हें हम अपने चारों ओर उभरते देख रहे हैं। अगर यह संकट जंग या कोई दूसरी शक्ल अख्तियार करता है, तब ये शक्तियां और भी ज्यादा उभरेंगी। हमें इन शक्तियों पर नजर रखनी है, इन शक्तियों

का खैर-मखदम करना है और इनका साथ देना है...।

साम्राज्यवादी और प्रतिक्रियावादी सरकार युद्ध के समय अपने स्वार्थ को पूरा करने के लिए लोकतंत्र के नारे का इस्तेमाल करती हैं, उससे खतरे भी हैं...पिछली लड़ाई में अंग्रेज सरकार ने जिन लच्छेदार जुमलों और नारों का इस्तेमाल किया था, क्या हम उन्हें भूल गये हैं? जाहिर है, हम फिर इन जुमलों के झांसे में नहीं आ सकते और साम्राज्यवादी स्वार्थों को पूरा करने के लिए अपना इस्तेमाल नहीं होने दे सकते। पिछले महायुद्ध में जो भीषण मारकाट हुई और हमने अपनी आंखों के सामने जो कुछ होते देखा, उसे हम फिर नहीं होने देंगे।

सच तो यह है कि हम पिछली बातों को नहीं भूल सकते और ये हमेशा हमें यह याद दिलाती रहेंगी कि हमें क्या नहीं करना चाहिए। इसी तरह यह भी सच है कि आज हम इस मुद्दे को ज्यादा अच्छी तरह समझने लगे हैं, जनता में इस बारे में अधिक चेतना हुई है और वह अब ज्यादा सतर्क है। सोवियत संघ का वजूद और स्पेन में लोकतंत्र के लिए संघर्ष का होना कोई मामूली बात नहीं है। लेकिन कौन कह सकता है कि अधिकांश जनता दुबारा बहकावे में नहीं आ जायेगी, बुरे मकसद के लिए उसकी दिलेरी, त्याग और उनके आदर्शवाद का इस्तेमाल नहीं किया जायेगा और जंग में मारकाट होने के बाद वही तबाही, वही अन्याय, साम्राज्यवाद और फासिज्म का दौर नहीं शुरू हो जायेगा।

इस खतरे को किस तरह टाला जा सकता है और जब बहुत से मुद्दे दांव पर लग गये हों, तब चुपचाप दर्शक की तरह किस तरह रहा जा सकता है? इस सवाल का जवाब देना उस आदमी के लिए टेढ़ी खीर है, जिसे आजादी, लोकतंत्र, विश्वशांति और व्यवस्था से थोड़ा भी लगाव है। हिंदुस्तान में हमारे लिए यह कम मुश्किल नहीं है। हमें आजादी की लड़ाई में चेकोस्लोवाकिया के साथ दिल से हमदर्दी है। हम दुनिया में इस मुल्क की अहमियत समझते हैं। हम उन महत्वपूर्ण नतीजों को भी अच्छी तरह समझते हैं, जो इसके बाद हमारे सामने आयेंगे। हम अपनी इस लड़ाई में अपनी पूरी ताकत से चेकोस्लोवाकिया की मदद करना चाहते हैं क्योंकि ऐसा करने से हम सारी दुनिया में आजादी और लोकतंत्र की रक्षा करने में मदद कर रहे होंगे। हम फासिज्म से लड़ना चाहते हैं। लेकिन हम साम्राज्यवाद द्वारा अपना शोषण नहीं होने देंगे, हम किसी बाहरी ताकत को भी अपने ऊपर जंग थोपने नहीं देंगे। हम सदियों से चले आ रहे अन्याय को या इसके आधार पर किसी व्यवस्था को बरकरार रखने के लिए अपनी कुर्बानी नहीं देंगे। हम आजादी के लिए अपनी लड़ाई जारी रखेंगे। हम उसे नजरंदाज नहीं कर सकते। हमारे काम करने के तरीके को नारे नहीं तय कर सकते, जो सुनने में बड़े प्यारे लगते हैं, लेकिन इनमें कोई सच्चाई नहीं होती। इसी तरह हमारे काम करने के तरीके को गोलमोल ढंग से किये गये वायदे भी तय नहीं कर सकते, जो अक्सर तोड़ दिये जाते हैं। क्या कोई ताकत हमसे लोकतंत्र की बहाली

के लिए लड़ने के लिए कहने की जुर्रत करेगी और हमें बाद में लोकतंत्र देने के लिए इंकार कर सकती है?

परिस्थिति बड़ी गंभीर है और यह सवाल पेचीदा है। लेकिन इसका जवाब दिया जाना चाहिए और साफ साफ दिया जाना चाहिए। कांग्रेस अपने रिजोल्यूशनों में पहले ही बता चुकी है कि इसका जवाब क्या होना चाहिए...।

युद्ध हो या चाहे वह स्थिति हो, जिसे शांति कहा जाता है क्योंकि यह शांति तो एक लगातार संघर्ष है और यह युद्ध की शुरुआत होती है, हमारा मकसद साफ होना चाहिए और हमें इसके लिए संघर्ष करना चाहिए। हम इस बात की भी इजाजत नहीं दे सकते कि जैसी भी आजादी हमें मिली हुई है उसे थोथे नारों की आड़ में या फौजी जरूरतों के नाम पर वापस ले लिया जाय और हमें अपने मकसद से मोड़ दिया जाय। हमारा मकसद साम्राज्यवाद से समझौता नहीं है। हमारा मकसद साम्राज्यवाद को खत्म करना है। हमें एक असली लीग आफ नेशन्स चाहिए, जो हथियारों और हवाई जहाजों के इस्तेमाल पर रोक लगाये रखे और आजादी और सामाजिक न्याय के आधार पर सामूहिक सुरक्षा प्रदान कर सके। अगर मैं अंग्रेज होता तो युद्ध या शांति के मामले में पहले तो मैं मौजूदा ब्रिटिश सरकार पर कभी यकीन नहीं करता, दूसरे मैं यह कभी हामी नहीं भरता कि वह अपने फायदे के लिए अपने मन के मुताबिक मेरा इस्तेमाल करे या मुझसे नाजायज काम कराये। शांति और लोकतंत्र की बहाली के बारे में उसकी तमाम दलीलें महज धोखाधड़ी है और झांसापट्टी के अलावा कुछ भी नहीं है। फ्रांस, सोवियत संघ और अमेरिका के साथ सहयोग कर वह शांति रखना तय कर सकती थी। जहां तक लोकतंत्र का सवाल है, उसने मध्य यूरोप में इसकी हत्या करने में कोई कोर कसर नहीं उठा रखी। मेरी यह मांग है कि यह सरकार हटाई जाये। जब तक यह सरकार रहेगी, तब तक मुझे इससे गद्दारी का खतरा बना रहेगा।

लेकिन मैं हिंदुस्तानी हूं और इसलिए मुझे हिंदुस्तान तक महदूद रहना चाहिए। अब समय हो गया है, हमारी आजादी के मसले पर गौर किया जाना चाहिए और अंतिम रूप से इसका फैसला कर देना चाहिए। इस बारे में बहुत देर हो चुकी है। अगर जनता के हर वर्ग को खुद फैसला करने का हक है तो हिंदुस्तान की सैंतीस करोड़ जनता काफी लंबे अरसे से इंतजार कर रही है। इस सवाल को हल करने का इसके अलावा कोई दूसरा तरीका नहीं है कि आजादी के हमारे हक को कबूल किया जाये और यह भी कि एक संविधान सभा गठित कर दी जाये....। यहां तक कि इंग्लैंड में भी ज्यादातर लोग यह महसूस करने लगे हैं कि राजनीति की दृष्टि से और दूसरे नजरिये से भी समझदारी यही है कि हम हिंदुस्तान को दोस्त और आजाद मुल्क का दर्जा देकर उसे अपने साथ बनाये रखें, बजाय यह कि हिंदुस्तान उनकी हमेशा खिलाफत और संकट के समय उन्हें कमजोर करता रहे। हम आजादी

और लोकतंत्र के लिए काम कर रहे हैं और हमें इसी के लिए संघर्ष करना है। आजादी और लोकतंत्र के इस जमाने की शुरुआत के रूप में हिंदुस्तान में मुकम्मिल आजादी की लहर होनी चाहिए।

लेकिन हम लोग संकट के दौर में हैं, लंबी-चौड़ी स्कीम कोई एक दिन में तैयार नहीं हो सकती। जो काम तुरंत हो सकता है, वह यह कि हिंदुस्तान की आजादी के हक को स्वीकार किया जाना चाहिए और यह बात भी स्वीकार की जानी चाहिए कि प्रौढ़ मताधिकार के आधार पर चुनी गयी संविधान सभा उसका संविधान तैयार करेगी। इस संविधान सभा के लिए चुनाव का ब्यौरा तैयार करने के लिए जनता के प्रतिनिधियों की एक कमेटी बनायी जानी चाहिए। इस दौरान तुरंत ऐसे कदम उठाये जाने चाहिए, जिससे सरकार के इरादे की लोगों को ज्यादा से ज्यादा जानकारी मिल सके और जनता में सरकार की साख जम सके। हिंदुस्तान और इंग्लैंड के बीच व्यापार और आर्थिक संबंधों के सवाल पर बातचीत दोस्ती के माहौल में इसी पृष्ठभूमि में की जायेगी...जब हिंदुस्तान को आजादी मिलने के बारे में यकीन हो जायेगा और यह भी यकीन हो जायेगा कि यहां लोकतंत्रात्मक राज्य की स्थापना के लिए काम हो रहा है, तब वह दूसरे मुल्कों में आजादी और लोकतंत्र के लिए शक्ति का आधार बन जायेगा और हिंदुस्तान, युद्ध हो या शांति, दोनों ही हाल में लोकतंत्र की बहाली के लिए अपना पूरा जोर लगा देगा...। वह चेकोस्लोवाकिया की रक्षा करने, फासिज्म का मुकाबला करने, पिछली और मौजूदा पीढ़ी के अत्याचारों को समाप्त करने और एक सच्ची विश्व व्यवस्था की बुनियाद रखने में खुशी खुशी हाथ बंटायेगा। तब हिंदुस्तान और इंग्लैंड शांति और मानवता के कल्याण के लिए एक-दूसरे के साथ सहयोग करेंगे, लेकिन शर्त यही है कि इंग्लैंड भी आजादी और न्याय के रास्ते पर चलता रहे।

अलग अलग रास्ते

यह कहना गलत है कि ब्रिटेन और हिंदुस्तान के रास्ते अलग अलग होने की वजह कोई ऐसी बात है, जो हिंदुस्तान में हुई है। इसकी वजह यह है कि इनके रास्ते तो पहले से ही अलग अलग हैं। जब तक इंग्लैंड एक प्रमुख साम्राज्यवादी ताकत और हिंदुस्तान उसकी मर्जी के मुताबिक उसका गुलाम रहेगा, तब तक यह होना लाजिमी है। ऐसे में ताल्लुकात सिर्फ जोर-जबरदस्ती के बल पर रह सकते हैं और जब जोर-जबरदस्ती होती है, तब हाथ में हाथ डालकर एक साथ आगे नहीं बढ़ा जा सकता। ऐसी हालत में एक ही बात हो सकती है कि प्रमुख दल दूसरे दल को जंजीरों से बांधकर खींचता रहे, उसे उसकी मर्जी के खिलाफ घसीटता रहे या फिर ऐसा करते करते जंजीर ही टूट जाये।

इस तरह हमारे रास्ते अलग अलग दिशाओं की ओर जाते हैं। इसका नतीजा होता है लगातार रस्साकशी। यह आपसी टकराव कभी तो दिमागी रहता है, कभी खुलकर गरमागर्मी की नौबत आती है और कभी यह विद्रोह की शक्ल ले लेता है। सन् 1857 में एक खूनी बगावत हुई थी और इसे बेरहमी से कुचल दिया गया था। इसके बाद भी यह टकराव जारी रहा, कभी बहुत तेज और कभी धीमा। हालांकि यह जाहिरा तौर पर उभरकर ज्यादा सामने नहीं आया। इसने एक राष्ट्रीय आंदोलन के संगठन की शक्ल ले ली। कुछ दिनों तक इस आंदोलन का रवैया नरम रहा और उसके बाद जब आम जनता की असली भावनाओं को व्यक्त करने का दौर शुरू हुआ, तब यह रवैया कड़ा होता गया। प्रभुसत्ता के खिलाफ दूसरे विद्रोह की शक्ल बनी। यह शांतिपूर्ण था। इसमें हिंसा के किसी भी मायने के लिए कोई भी जगह नहीं थी। यह पिछले सभी विद्रोहों के मुकाबले ज्यादा ताकतवर और व्यापक था। हिंदुस्तान के करोड़ों लोगों ने अपने दिल से डर को निकाल फेंका। ये लोग सदियों की अपनी गुलामी, गरीबी और शोषण से तंग आ चुके थे। इन्होंने साम्राज्यवाद को चुनौती देकर आजादी की मांग की।

इन करोड़ों लोगों की जिंदगी में बहुत-से उतार-चढ़ाव आये। इन्होंने तरह तरह की तकलीफें झेलीं और दुख उठाये, लेकिन इन्होंने कभी मुंह नहीं मोड़ा। यह टकराव कई रूपों में हुआ। इसी बीच दुनिया खुद अपने विनाश की ओर बढ़ने लगी। हिंदुस्तान की समस्याओं

---

10 अगस्त, 1940 को लिखे एक लेख से। इसके कुछ अंश सबसे पहले 'एशिया' में उसके नवंबर, 1940 के अंक में प्रकाशित हुए। इसे *सेलेक्टेड वर्क्स,* भाग 11 में फिर से प्रकाशित किया गया

को व्यापक धरातल पर और उन कठिनाइयों के संदर्भ में देखा जाने लगा, जो दुनिया पर हावी थीं। इससे हालांकि हमारा नजरिया और भी व्यापक हुआ और हम और भी ज्यादा गहराई में जाने लगे और हालांकि हमने भविष्य में भी झांकने की कोशिश की तो भी यह समस्या खासतौर से हिंदुस्तान के राष्ट्रवाद बनाम ब्रिटेन के साम्राज्यवाद के बीच की रही। हमारे लिए पहली जरूरत थी हिंदुस्तान का गुलामी से छुटकारा और उसका स्वाधीन होना, जिससे हम भी दुनिया के आजाद मुल्कों की तरह अपनी जिम्मेदारी निभा सकें। इस सबको देखते हुए, साम्राज्यवाद से चिपके रहते हुए आजादी और लोकतंत्र की बातें करना हमें सिर्फ एक दिखावा और मजाक जैसा लगा।

हम फासिज्म और नाजिज्म को एक अभिशाप मानते हैं। मध्य यूरोप में युद्ध का जो आतंक रहा, उसने हिंदुस्तान पर जबरदस्त असर डाला है। फिर भी हमें तो वह आतंक याद आता है, जो हमने हिंदुस्तान में अपनी आंखों देखा है। हम इसे कैसे भूल सकते हैं। हमने रोजाना अपने आदमियों को अपनी आंखों जलील किये जाते और उनका शोषण होते देखा। यह सब देखकर हमें बेहद सदमा पहुंचा। हालांकि यह तयशुदा बात है कि फासिज्म और नाजिज्म बुरे हैं, लेकिन हम न इतने ज्यादा समझदार हैं और न इतने ज्यादा होशियार हैं कि हम यह कह सकें कि आखिरकार इन सबके मुकाबले साम्राज्यवाद ज्यादा बुरा नहीं है।

यूरोप में जंग छिड़ी और हमें पता लगा कि इस जंग में हिंदुस्तान भी शामिल कर लिया गया है। यह घोषणा हिंदुस्तान के किसी भी नुमाइंदे से बगैर पूछे या सरकारी तौर पर उसे इत्तिला दिये गये बगैर की गयी। आप कांग्रेस को गैर सरकारी संस्था कह सकते हैं, लेकिन वहां केंद्रीय असेंबली थी, प्रांतीय सरकारें थीं, जिनके बारे में कहा जाता रहा कि इन्हें स्वायत्तता मिली हुई है। इनमें से किसी को कुछ भी तो नहीं बताया गया, न ही इनसे कोई राय मांगी गयी।

लोकतंत्र की पवित्रता की दुहाई दी गयी और मुल्क में जगह जगह आजादी का प्रचार किया गया। यह सब सुनने में अच्छा लगा। लेकिन हमने यह बातें पहले भी सुनी हैं और इसके बाद की घटनाओं को खुद भोगा है। हम आसानी से बहकावे में नहीं आ सके। हम चौकस थे। हमने बार बार चेतावनी दी थी, लेकिन इसके बावजूद जिस तरह से यह जंग हमारे ऊपर थोपी गयी, उससे हम दुहरे चौकस थे। क्या यह आजादी और लोकतंत्र हमारे लिए भी था या सिर्फ उन तकदीर वालों के लिए था, जो यूरोप और उसके आसपास के मुल्कों में रहते थे? क्या इसका मतलब यह था कि साम्राज्यवाद यहां से और सभी जगहों से खत्म हो जायेगा?

हमने ब्रिटिश सरकार से पूछताछ की। हमने उससे जानकारी चाही, जिससे हम अपना रास्ता चुन सकें। हमारी पूछताछ को बेकार की बात और गुस्ताखी समझा गया। फिर भी

जो जवाब इस सरकार ने दिये उनसे काफी कुछ और साफ साफ यह लगा कि जहां तक उनका ताल्लुक है, हिंदुस्तान में साम्राज्यवादी ढांचे को खत्म करने का न तो कोई इरादा है और न ही कोई संभावना, जनता के नुमाइंदों को शासन की बागडोर सौंपने का सवाल ही नहीं है। नेशनल कांग्रेस ने अपने लिए कोई चीज नहीं मांगी थी। इसने ऊंचे ऊंचे पदों पर नौकरियां दिये जाने की मांग नहीं की क्योंकि वह उन्हें मांगे बगैर हासिल कर सकती थी। उसने हिंदुस्तान के लिए आजादी की घोषणा करने और आजाद हिंदुस्तान के लिए संविधान बनाने के लिए जनता के चुने हुए प्रतिनिधियों की संविधान सभा के बनाये जाने की मांग की थी और अल्पसंख्यकों के अधिकारों की रक्षा के लिए पूरी पूरी सुरक्षा की मांग की थी।

हिंदुस्तान के लोगों के दिल और दिमाग में एक संघर्ष था। वहां फासिज्म और नाजिज्म के लिए बेहद नफरत थी और उनकी जीत के लिए कोई तमन्ना नहीं थी। अगर यह यकीन दिलाया गया होता कि यह जंग दुनिया में एक नयी व्यवस्था और असली आजादी के लिए लड़ी जा रही है, तब हिंदुस्तान इस जंग में अपना पूरा समर्थन देगा। लेकिन साम्राज्यवाद और हम एक-दूसरे के लिए जाने-पहचाने थे। यह पहचान बहुत पुरानी थी। हमारा एक-दूसरे के साथ कई पीढ़ियों का संपर्क था। हम एक-दूसरे को अच्छी तरह जानते थे, एक-दूसरे पर शक और एक-दूसरे से नफरत करते थे। वहां एक सौ अस्सी बरस से चली आ रही दुश्मनी, शोषण, कड़वाहट, वायदे पूरे न किये जाने और तोड़फोड़ व प्रतिक्रियावादी आंदोलनों को बढ़ावा देने और हिंदुस्तान की राष्ट्रीय एकता को खत्म करने की कोशिशों का माहौल था। इन ढेर सारी अड़चनों को पार करना या अपने अपने दिलों में पैदा हुई गांठों को दूर करना हमारे लिए कोई आसान काम नहीं था। फिर भी हमने कहा कि हम इन्हें दूर करेंगे। लेकिन जब तक जनता को कोई बड़ा मनोवैज्ञानिक धक्का, जो सुखद नहीं हो, दिया जाता है, जो अचानक हिंदुस्तान में सारे माहौल को बदल दे, उसे डर और कुंठाओं से छुटकारा दिला दे, तब तक हम कुछ भी नहीं कर सकते। यह सुखद धक्का तभी दिया जा सकता है, जब आजादी के बारे में साफ साफ शब्दों में घोषणा नहीं कर दी जाती है और प्रशासन को चलाने में जनता की इच्छाओं को अमल में नहीं लाया जाता है। जब तक यह नहीं किया जाता है, तब तक हिंदुस्तान में कोई भी आदमी या संस्था इस जंग में खुशी खुशी सहयोग करने के लिए जनता को प्रेरित नहीं कर सकती है...

वायसराय और ब्रिटिश सरकार ने हमसे जब 'नहीं' कह दिया, तब हमारा रास्ता साफ दिखाई पड़ने लगा। इन सूबों में कांग्रेस ब्रिटिश सरकार के फैसले और हुक्म के आगे उस जनता की इच्छा के खिलाफ समर्पण करने के लिए तैयार नहीं थी, जिसकी वह नुमाइंदगी करती थी, इसलिए सूबों में कांग्रेस की सरकारों ने इस्तीफे दे दिये और इन सूबों में से संसदीय शासन प्रणाली खत्म हो गयी। यह ब्रिटेन के किंग और पार्लियामेंट के बीच एक

पुरानी लड़ाई थी, जो एक नयी शक्ल ले रही थी। वायसराय और गवर्नर किंग के वीटो पावर के नुमाइंदे थे और हमारी चुनी हुई असेंबलियां जनता की इच्छा की नुमाइंदगी कर रही थीं। पश्चिमी यूरोप में यह लड़ाई सैकड़ों बरस पहले हो चुकी थी और इसके नतीजे में वहां पार्लियामेंट को अधिकार मिल चुका था। फ्रांस में एक किंग को अपनी जान से हाथ धोना पड़ा था। अमेरिका में वहां की इज्जतदार और आजादी पसंद जनता ने दूर दराज के एक किंग और उसके मिनिस्टरों की सत्ता का प्रतिरोध किया था और लंबे संघर्ष के बाद उसने अपने को एक आजाद मुल्क के रूप में स्थापित किया था।

लेकिन हिंदुस्तान में संसदीय प्रणाली पर बनी सरकार को, जैसी-कैसी भी सूबों में चल रही थी, भंग कर दिया गया। यह बीसवीं सदी में तब किया गया, जब उन वायदों को पूरा किया जाना था जो हमसे किये गये थे और जबकि आजादी और लोकतंत्र के समर्थन में ढिंढोरा पीटा जा रहा था। वायसराय का अधिकार ही सबसे बड़ा था। वह किसी भी प्रतिनिधि संस्था से पूछे बगैर कानून बना सकता था और उनको रद्द कर सकता था। लोगों पर कर लगा सकता था और उन पर दबाव डाल सकता था...।

हमारा रास्ता साफ था। फिर भी हमने संयम से काम लिया और अपने को रोके रखा। हममें से न जाने कितने लोग हमसे नाराज हो गये। हमारे न जाने कितने साथी सिर्फ इसी अपराध के लिए जेल भेज दिये गये कि वे जनसाधारण को हमारी नीति समझा रहे थे। हम हिचकिचा रहे थे। हम आशा के प्रतिकूल काम कर रहे थे। हम उम्मीद लगाये रहे कि इम्तहान की इस नाजुक घड़ी में इंग्लैंड की सरकार और उसके कुछ प्रगतिशील और श्रमिक विचारधारा वाले लोग साम्राज्यवाद की केंचुल को उतार फेंकेंगे और अपने वायदे के मुताबिक काम करेंगे। नाजी शासकों को बढ़ावा देने की हमारी कोई ख्वाहिश नहीं थी। यूरोप या दूसरी जगहों पर इनका शासन हो जायेगा, यह सोच सोच कर हमें गुस्सा आता था। पराधीन रहकर हमने जो कुछ झेला था, उससे अब हम यह जानते थे कि ऐसा दिन आने पर उन पर क्या बीतेगी। चाहे और लोग बर्दाश्त भी कर लेते, लेकिन हम नाजियों के कौम संबंधी विचारों और दूसरी कौम पर उनके अत्याचारों को बर्दाश्त नहीं कर सकते थे। हालैंड और बेल्जियम में जो कांड हुआ और फ्रांस में जो बेहद मारकाट हुई, उसने हमें विचलित कर दिया था। इंग्लैंड पर जो संकट बढ़ रहा था, उसे देखते हुए हमने महसूस किया कि हमें ऐसा कोई काम नहीं करना चाहिए जिससे उसकी कठिनाई और परेशानी बढ़े। इंग्लैंड के शासक वर्ग ने भले ही हमारे साथ बुरा बर्ताव किया हो और उनके साम्राज्यवाद की हविश ने भले ही हमें कुचल रखा हो, लेकिन हमारे दिल में वहां की जनता के लिए कोई दुर्भावना नहीं थी, जो बहादुरी से संकट और बहुत बड़े खतरे का सामना कर रही थी। हमने बहुत कोशिश की कि इन समस्याओं के बीच कोई ऐसा रास्ता निकल आये, जो हिंदुस्तान और इंग्लैंड दोनों के लिए सम्मानजनक और फायदेमंद हो। हमने नये प्रस्ताव रखे। यहां तक कि ये प्रस्ताव उन फैसलों के खिलाफ थे, जो हमने खुद रामगढ़ में हुए

कांग्रेस के अधिवेशन में किये थे। हमने हिंदुस्तान की सुरक्षा और लड़ाई की तैयारी में मदद देने का वचन दे दिया। लेकिन हम यह फैसला एक आजाद मुल्क की हैसियत से हिंदुस्तान के करोड़ों लोगों की सद्‌भावना और सहयोग के आधार पर ही कर सकते थे। यह आजादी घोषित की जानी और एक अस्थायी राष्ट्रीय सरकार बनायी जानी चाहिए थी, जिसमें किसी एक पार्टी के प्रतिनिधि नहीं रहें, बल्कि सभी खास खास तबके के प्रतिनिधि शामिल किये जायें। इस प्रस्ताव का बुनियादी मकसद यह मान लेना था कि साम्राज्यवादी ढांचे को खत्म होना है।

वायसराय और ब्रिटिश सरकार ने हमसे और हिंदुस्तान की जनता से 'नहीं' कहकर दरवाजे बंद कर दिये हैं। इस लड़ाई में उनका पलड़ा थोड़ा-बहुत भारी पड़ा, लेकिन तब भी उन्होंने अपनी उस स्थिति को नहीं छोड़ा है, जहां साम्राज्यवाद ने उन्हें बिठा दिया था। वह अब भी निश्चिंत होकर अपने साम्राज्य और उसे बनाये रखने की बात करते हैं। वह शायद यह भूल जाते हैं कि यह लफ्ज, जो उन्हें सुनने में बहुत प्यारा लगता है, हमारे लिए हमारी गुलामी, बेइज्जती और गरीबी का प्रतीक है।

मैं फिर कहता हूं कि हमारे रास्तों में कोई नया बदलाव नहीं आया है। क्योंकि हमारे रास्ते कभी एक साथ नहीं रहे। लेकिन ब्रिटिश सरकार के इस ऐलान का मतलब उन नाजुक रिश्तों को तोड़ना है, जिन्होंने दिलो-दिमाग में हमें एक-दूसरे से अब तक बांधे रखा था। इसका मतलब उन तमाम उम्मीदों का खत्म होना है कि हम एक-दूसरे के साथ कभी चलेंगे। मुझे अफसोस हो रहा है। ब्रिटिश साम्राज्यवाद और दूसरे साम्राज्यवादों के बारे में नफरत के बावजूद मेरे दिल में उनके उस मुल्क के लिए काफी मोहब्बत रही है, जिसे इंग्लैंड कहते हैं और मैं चाहता था हिंदुस्तान और इंग्लैंड के बीच प्यार का यह रिश्ता बना रहे।

लेकिन यह रिश्ता आजाद होने पर नहीं रह सकता है। यकीनन मैं हिंदुस्तान के लिए हिंदुस्तान की आजादी चाहता हूं, लेकिन यह आजादी मैं इंग्लैंड के हित में भी चाहता हूं। यह उम्मीद अब टूट गयी है और लगता है कि तकदीर ने हमारे लिए कोई दूसरा रास्ता चुन रखा है। हमारे लिए असली सहयोग का रास्ता अब नहीं रह गया है। अब सौ बरस पुरानी दुश्मनी बनी रहेगी और यह आगे संघर्ष होने पर और बढ़ेगी। जब कभी हमारे संबंध खत्म होंगे और यह होकर रहेगा, तब हमारे बीच दोस्ती नहीं बल्कि दुश्मनी रहेगी।

मुझे बताया गया है कि चूंकि हम अब तक खामोश रहे थे, इसलिए ब्रिटिश सरकार को यकीन दिलाया गया था कि हम उनके हुक्म को चुपचाप मान लेंगे। लगता है कि हमने अपने को जो काबू में रखा था, उससे उन्होंने यह समझा कि हम कुछ भी करने के काबिल नहीं हैं। ताकत की, हवाई जहाजों से बम गिराने, टैंकों और हथियार बंद लोगों की इस दुनिया में हम कितने कमजोर हैं? हमारे बारे में परेशान होने की क्या जरूरत है? लेकिन हथियारों की इस लड़ाई की दुनिया में इंसान की हिम्मत, मुल्क की हिम्मत जैसी भी कोई चीज है, जो न तो अदना है और न कमजोर, बगैर खतरा मोल लिये जिसकी अनदेखी नहीं की जा सकती...

भारत छोड़ो आंदोलन

अगस्त, 1942 की सात और आठ तारीख को आल इंडिया कांग्रेस कमेटी ने बंबई में खुले अधिवेशन में एक प्रस्ताव पर विचार किया और खुलकर बहस की। यह प्रस्ताव अब 'भारत छोड़ो प्रस्ताव' के नाम से जाना जाता है। यह एक लंबा-चौड़ा प्रस्ताव था। यह हिंदुस्तान को आजादी देने और यहां अंग्रेजी राज को खत्म करने की बात को फौरन मानने के लिए दलील की तरह पेश किया गया था कि ऐसा करना हिंदुस्तान और उसके साथ ही राष्ट्र संघ की कामयाबी के हक में होगा। यह कहा गया था कि हिंदुस्तान में अंग्रेजी राज के रहने से हुकूमत को ताकत नहीं मिल रही है, बल्कि यह उसके लिए बोझ और मुसीबत बन गया है। आधुनिक पूंजीवाद के शिकार की एक जीती-जागती मिसाल हिंदुस्तान को आजादी मिलने से ब्रिटेन और राष्ट्र संघ की सच्चाई की जांच होगी और एशिया और अफ्रीका के लोगों में उम्मीदें बंधेंगी और उनमें जोश पैदा होगा। प्रस्ताव में आगे यह कहा गया था कि यहां अस्थायी सरकार कायम की जानी चाहिए। यह सरकार सबको साथ लेकर बनायी जानी चाहिए, जिससे यह जनता के सभी खास खास वर्गों की नुमाइंदगी करेगी और इसका सबसे पहला काम मित्र राष्ट्रों के साथ अपनी फौजों से और अपनी जनता के सहयोग से हिंदुस्तान की हिफाजत करना और हमलों को रोकना होगा। यह सरकार एक संविधान सभा की योजना तैयार करेगी, जो भारत के लिए एक ऐसा संविधान तैयार करेगी जो जनता के हर वर्ग को मान्य हो।...आजादी मिलने पर हिंदुस्तान अपनी जनता की एकता और ताकत के बल पर पूरे जोश से हमले का जोरदार तरीके से जवाब देने के काबिल बन सकेगा।

हिंदुस्तान की आजादी से एशिया के बाकी मुल्कों की आजादी की शुरुआत होनी चाहिए। इसके अलावा आजाद मुल्कों के एक विश्वव्यापी संघ का भी प्रस्ताव किया गया था, जिसकी शुरुआत राष्ट्र संघ से होनी चाहिए।

कमेटी ने यह कहा कि, 'चीन और रूस की हिफाजत में किसी भी तरह आड़े नहीं आना चाहती है क्योंकि उनकी आजादी को वह अहम समझती है और न वह यह चाहती है कि मुल्कों की हिफाजत करने में राष्ट्र संघ कमजोर पड़ जाये।' (उन दिनों चीन और रूस पर भारी खतरा था) यह खतरा हिंदुस्तान और इन मुल्कों के लिए बढ़ता जा रहा है।

दि डिस्कवरी आफ इंडिया, पृष्ठ 506-08, 514-15, 517-20 से

अगर ऐसे मौके पर कुछ भी कार्रवाई नहीं की गयी और हम विदेशी हुकूमत के आगे न सिर्फ घुटने टेके बैठे रहे, तब यह हिंदुस्तान के लिए बेइज्जती और जो अपनी हिफाजत आप करने और हमले को रोकने में कमजोर समझने की बात होगी, बल्कि यह उस खतरे का भी कोई जवाब नहीं होगा जो बढ़ता जा रहा है और न हमसे राष्ट्र संघ के सदस्य देशों की जनता की सेवा ही हो सकती है।

कमेटी ने 'दुनिया की आजादी के हित में' ब्रिटेन और राष्ट्र संघ से दुबारा अपील की और कहा (यह प्रस्ताव की खास बात थी) कि कांग्रेस अब जनता को ऐसी साम्राज्यवादी और निरंकुश सरकार के खिलाफ अपनी आवाज को बुलंद करने से रोकना उचित नहीं समझती, जो उसे शिकंजे में जकड़े हुए है तथा उस अपने व इंसानियत के हित में काम करने पर पाबंदी लगती है। इसलिए कमेटी हिंदुस्तान की आजादी और स्वराज के मौलिक अधिकार की रक्षा के लिए अहिंसात्मक तरीके से जनता द्वारा आंदोलन शुरू करने की इजाजत देती है, जो गांधी जी के नेतृत्व में होगा। यह इजाजत तब से लागू होनी थी, जब गांधी जी ऐसा करने का फैसला कर लेंगे। आखिर में यह कहा गया कि वह कांग्रेस के लिए ताकत नहीं हासिल करना चाहती है। जब यह ताकत आयेगी, तब वह हिंदुस्तान की सारी जनता की होगी।

कांग्रेस के सभापति मौलाना अबुल कलाम आज़ाद और गांधी जी ने आखिर में अपने भाषणों में यह खुलासा कर दिया कि वह पहले वायसराय से मिलेंगे, जो ब्रिटिश सरकार के नुमाइंदा हैं। इसके अलावा वह राष्ट्र संघ के सदस्य खास खास मुल्कों के अध्यक्षों से अपील करेंगे, जिससे कोई ऐसा समझौता हो सके, जो दोनों तरफ के लोगों को मान्य हो। ऐसा होने से हिंदुस्तान की आजादी मंजूर करने के साथ साथ हमलावर धुरी राष्ट्रों के खिलाफ राष्ट्र संघ की लड़ाई का मकसद भी पूरा होगा।

यह प्रस्ताव 8 अगस्त, 1942 को काफी रात गये आखिर में मंजूर किया गया। इसके कुछ ही देर बाद 9 अगस्त को अहत तड़के बंबई में और सारे मुल्क में बहुत-सी गिरफ्तारियां हुईं। और इस तरह हम लोग अहमद-नगर किले में आ गये...

9 अगस्त, 1942 को अहत तड़के, सारे हिंदुस्तान में बहुत-सी गिरफ्तारियां हुईं। इसके बाद क्या हुआ? हफ्तों बाद कुछ ही खबरें हम तक पहुंची और जो कुछ हुआ उसकी हम आज भी सिर्फ एक अधूरी तस्वीर बना सकते हैं। सारे बड़े बड़े नेताओं को अचानक गायब कर दिया गया और किसी की समझ में न आया कि क्या किया जाये। विरोध तो होना ही था। साथ साथ प्रदर्शन भी हुए। इन प्रदर्शनों को कुचला गया, लोगों पर गोली चलायी गयी और आंसू गैस का इस्तेमाल किया गया और उन सभी तरीकों पर रोक लगा दी गयी, जिनसे जनता आमतौर पर अपने जज्बात का इजहार किया करती है। इस पर लोगों का गुस्सा फूट पड़ा, जो दबा हुआ था। शहरों और गांवों में लोगों की भीड़ उमड़ पड़ी और

उनकी पुलिस और फौज के साथ खुल कर लड़ाई हुई। लोगों ने उन सभी खास खास जगहों पर हमला किया, जिन्हें उन्होंने अंग्रेजी राज व उसकी हुकूमत का गढ़ समझा, जैसे पुलिस चौकियां, डाकखाने और स्टेशन। लोगों ने तार और टेलीफोन के तार काट डाले। इन निहत्थे लोगों की भीड़ ने, जिसका कोई नेता नहीं था, पुलिस और फौज की गोलियों का सामना किया। सरकारी बयानों के मुताबिक 538 मौकों पर गोलियां चलीं। इन पर जमीन के साथ नीचे उड़ने वाले जहाजों पर से मशीनगनों से भी गोलियां चलायी गयीं। मुल्क में जगह जगह एक या दो महीनों या इससे भी ज्यादा वक्त तक इस तरह की वारदातें होती रहीं और तब यह धीरे धीरे धीमी पड़ने लगीं, लेकिन उसकी जगह छुटपुट घटनाएं तो होती ही रहीं...।

मुल्क में इस तरह की वारदात काफी बड़े पैमाने पर शहरों और गांवों दोनों ही जगहों पर हुई जैसा कि सोचा भी नहीं था। करीब करीब हर सूबे में और हिंदुस्तान की सभी रियासतों में सरकारी रोक के बावजूद अनगिनत प्रदर्शन, हड़तालें हुईं, दुकानें और बाजार बंद हुए, कामकाज बंद रखा गया। यह सभी जगह हुआ। कुछ जगहों पर यह कुछ दिनों तक चला, कहीं कहीं कुछ हफ्तों तक और कुछ जगहों पर यह एक महीने से भी ज्यादा चला। इसी तरह मजदूरों की भी हड़तालें हुईं। राष्ट्रीय नेताओं को गिरफ्तार करने की सरकार की कार्रवाई के खिलाफ बहुत-सी खास खास जगहों पर कारखानों के मजदूरों ने एक साथ हड़ताल का ऐलान कर दिया। ये लोग ज्यादा संगठित थे और इनमें आपस में मिलकर काम करने का हौसला था....।

जनता में जिस तरह यह सब अचानक हुआ, असंगठित प्रदर्शन हुए और जिस तरह वह भड़क उठी और जिस तरह की मारकाट और तोड़फोड़ हुई वह उसका नतीजा हुआ और जो यह सब कुछ एक बहुत बड़ी और हथियारबंद ताकत के खिलाफ लगातार हुआ, उससे उसकी बेचैनी का पता चलता है। यह बेचैनी उसके अपने नेताओं की गिरफ्तारी से पहले भी थी, लेकिन इनके गिरफ्तार होने के बाद जिस तरह से पकड़ा-धकड़ी हुई और जिस तरह बार बार गोलियां चलायी गयीं, उससे जनता का गुस्सा बढ़ता गया और उसने वही रास्ता अपनाया जो कोई भी जनता गुस्सा होने पर अपना सकती है, चाहे वह किसी भी मुल्क की क्यों न हो। कुछ देर तक तो समझ में नहीं आता कि क्या करना चाहिए। कोई रास्ता नहीं था और न कोई प्रोग्राम था। कोई ऐसी मशहूर शख्सियत नहीं थी, जो उनकी रहनुमाई करती या उनको यह बताती कि यह किया जाना चाहिए। वे इतने ज्यादा तेजी और गुस्से में थे कि खामोश नहीं बैठ सकते थे। ऐसी हालत में जैसा होता है, वैसा ही हुआ। जगह जगह नेता पैदा हो गये और फिलहाल उनकी हिदायतों पर काम हुआ। लेकिन उन्होंने जो भी हिदायतें दीं, वे नाकाफी थीं। असल में जनता खुद-ब-खुद उठ खड़ी हुई थी। सारे हिंदुस्तान में नयी पीढ़ी ने, खासकर यूनिवर्सिटी के स्टूडेंट्स, सन् 1942 के

हिंसापूर्ण आंदोलन और शांतिपूर्ण कार्रवाई—दोनों में ही आगे रहे। बहुत-सी यूनिवर्सिटी बंद कर दी गयीं। इस पर कुछ मुकामी नेताओं ने शांतिपूर्ण तरीका अपनाने और सविनय अवज्ञा आंदोलन चलाते रहने की कोशिश की, लेकिन यह उस वक्त के माहौल में मुश्किल था। जनता अहिंसा का पाठ भूल गयी, जो उसके कानों में पिछले बीस साल से भी ज्यादा दिनों से गूंज रहा था। वह दिमाग से या किसी और तरह से किसी भी जबरदस्त हिंसात्मक कार्रवाई के लिए तैयार नहीं थी। अहिंसात्मक कार्रवाई की इसी शिक्षा ने उसके मन में शक और हिचकिचाहट पैदा कर दी और यही हिंसात्मक कार्रवाई करने में आड़े आयी। अगर कांग्रेस ने अपनी जात को भूलकर कुछ पहले हिंसात्मक कार्रवाई करने के लिए थोड़ा भी इशारा कर दिया होता तो इसमें कोई शक नहीं कि जितनी हिंसापूर्ण घटनाएं असल में हुईं, उससे ये घटनाएं कम से कम सौ गुनी ज्यादा हुई होतीं...।

लेकिन जोश के वक्त कुछ लोग ही सोचते हैं। वे तो काफी अरसे से दबे हुए अपने अपने ख्यालों के मुताबिक काम करते हैं और यह बहाव उन्हें आगे ले जाता है। और इस तरह सन् 1857 की महान क्रांति के बाद पहली बार जनता बहुत बड़ी संख्या में हिंदुस्तान में अंग्रेजी हुकूमत के ताने-बाने को ताकत से चुनौती देने के लिए फिर से उठ खड़ी हुई। लेकिन इस ताकत के पास हथियार नहीं थे। यह चुनौती बेमानी और बेमौके थी क्योंकि दूसरी तरफ सुसंगठित हथियारबंद ताकत थी। यह हथियारबंद ताकत इतिहास में पहले किसी भी मौके पर इतनी ज्यादा नहीं थी। चाहे भीड़ में आदमियों की तादाद कितनी भी ज्यादा क्यों न हो, जब उसका मुकाबला किसी हथियारबंद ताकत से होता है तब वह ठहर ही नहीं सकती। वह लाजिमी तौर पर नाकामयाब रहती है। हां, यह बात दूसरी है कि इन हथियारबंद ताकतों में लोग ही अपनी वफादारी से पलट जायें। इस मुकाबले के लिए लोगों ने न तो कोई तैयारी कर रखी थी और न इसके लिए कोई मौका ही चुन रखा था। यह चुनौती तो उन्हें अनजाने ही कबूल करनी पड़ी और ऐसी घड़ी में उन्होंने तुरंत जो भी कार्रवाई की, वह चाहे जितनी भी गलत या नासमझी से भरी क्यों न हो, उन्होंने अपनी इस कार्रवाई से हिंदुस्तान की आजादी के लिए ललक और साथ ही विदेशी हुकूमत के खिलाफ अपनी नफरत जाहिर कर दी।

हालांकि उस वक्त अहिंसा की नीति फिलहाल कुछ देर के लिए दब गयी, लेकिन इस नीति के अधीन लंबे अर्से तक लोगों को जो शिक्षा मिली थी, उसका एक खास और अच्छा नतीजा हुआ। लोगों में गुस्सा और जोश पैदा होने के बावजूद कौमी भेदभाव की भावना अगर थी, तो बहुत थोड़ी थी और कुल मिलाकर जनता ने खुद यह कोशिश की कि दुश्मनों को कोई जिस्मानी चोट न पहुंचे। सरकारी सामान और आमदोरफ्त के साधनों को काफी तोड़ा-फोड़ा गया, लेकिन इस तोड़-फोड़ के दौरान इस बात का पूरा ख्याल रखा गया कि सरकार के किसी भी आदमी की जान न जाये। यह हमेशा मुमकिन भी नहीं था,

लेकिन इस बात की हमेशा कोशिश की गयी, खास कर ऐसे मौकों पर, जब पुलिस या हथियारबंद फौज के साथ आमने-सामने टकराव हो रहा हो।

सन् 1942 के दंगों में सरकारी अंदाज के मुताबिक पुलिस या फौज की गोलियों से 1,020 लोगों की जानें गयीं और 3200 लोग जख्मी हुए। यह आंकड़े यकीनन कम हैं क्योंकि सरकारी बयान में यह कहा गया कि पुलिस या फौज ने गोलियां कम से कम 538 मौकों पर चलायीं और इसके अलावा पुलिस और फौज लारियों से भी आते जाते गोलियां चला देती थी। इसलिए थोड़ी-बहुत सही तादाद का अंदाजा लगाना भी मुश्किल है। जनता का अंदाजा है कि करीब 25,000 लोग मारे गये, लेकिन यह तादाद भी बढ़ कर बतायी गयी हो सकती है। शायद 44 हजार की तादाद कुछ सही है।

यहां खास बात यह है कि किस तरह बहुत से हल्कों में, गांवों और कस्बों दोनों में ब्रिटिश हुकूमत खत्म हो गयी और इन जगहों को दुबारा जीतने के लिए कई दिन और कहीं कहीं तो कई हफ्ते लग गये। यह खासतौर से बिहार में, बंगाल के मिदनापुर जिले में और यू.पी. के दक्खिनी-पूरबी इलाकों में हुआ। यह बात नोट करने की है कि यू.पी. के बलिया जिले में (जिसे दुबारा जीतना पड़ा था) कोई ऐसी खास शिकायत नहीं सुनने को मिली कि लोगों ने किसी को मारा-पीटा हो या कोई मारकाट की हो...।

अगर भीड़ की प्रतिक्रिया कुदरती थी तो इन मौकों पर सरकार की प्रतिक्रिया भी कुदरती ही थी। उसे तो भीड़ के इस अचानक पागलपन और लोगों के शांतिपूर्ण प्रदर्शनों दोनों को कुचलना था और अपनी सुरक्षा के हित में और जिन्हें वह अपना दुश्मन समझती थी, उन्हें खत्म कर देने की हर संभव कार्रवाई करनी ही थी। अगर उसमें यह समझ होती या यह समझने की ख्वाहिश भी होती कि वह क्या है, जिसने जनता को इतना ज्यादा उकसा दिया है तो यह संकट पैदा ही नहीं होता और हिंदुस्तान की समस्याएं कुछ न कुछ हल हो सकती थीं। सरकार ने अपनी हुकूमत के खिलाफ हर तरह की चुनौती को, जैसा कि उसने समझा, हमेशा हमेशा के लिए खत्म करने की तैयारी सावधानी से कर रखी थी। उसी ने शुरुआत की और अपनी ओर से पहली चोट करने के लिए मौका भी चुना। उसने हजारों लोगों को गिरफ्तार कर जेलों में डाल दिया, जिन्होंने राष्ट्रीय आंदोलनों, मजदूर आंदोलनों और किसान आंदोलनों में आगे बढ़कर हिस्सा लिया था। लेकिन देश में जो यह अचानक उफान आया और जिस तरह वह फैल गया, उससे उसे काफी अचंभा हुआ और वह सकते में आ गयी और कुछ देर के लिए उसकी सारी मशीनरी अस्तव्यस्त हो गयी, जो सारे देश में दमन करने के लिए लगा रखी थी। लेकिन उसके पास तो साधनों की कोई कमी नहीं थी और उसने विद्रोह के हिंसात्मक और अहिंसात्मक दोनों ही प्रकार के प्रदर्शनों को कुचल देने के लिए उन साधनों का इस्तेमाल किया। ऊंचे और रईस तबके के बहुत-से लोग, जो डरपोक राष्ट्रवादी थे और जो डरते डरते कभी कभी सरकार की

आलोचना कर दिया करते थे, देशव्यापी स्तर पर जनता की इन सामूहिक कार्रवाईयों का रूप देखकर सहम गये क्योंकि इन प्रदर्शनों से किसी एक या किसी वर्ग का स्वार्थ पूरा नहीं होता था और इनमें राजनैतिक क्रांति की ही नहीं, बल्कि सामाजिक क्रांति की भी झलक दिखाई देती थी। ज्यों ही इस विद्रोह को कुचलने में सरकार की कामयाबी नजर आने लगी, त्यों ही ये डांवाडोल और मौकापरस्त लोग सरकार से मिल गये और उन लोगों की जी भर कर बुराई करने लग गये, जिन्होंने सरकार को चुनौती देने की हिम्मत की थी...।

दुनिया की हालत, हिंदुस्तान की आजादी और देशी रियासतें

हम लोग इस कांफ्रेंस में करीब सात बरस के बाद मिल रहे हैं। यह एक लंबा अरसा है। इन बरसों में जो बड़ी बड़ी घटनाएं हुईं और हमने जो अनुभव हासिल किये, उनसे यह अरसा और भी भारी लग रहा है। इन अनुभवों ने हमें कई बातें सिखाईं। हम और भी ज्यादा जानकार हुए, लेकिन इस जानकारी से हमें कोई आराम या खुशी हासिल नहीं हुई। हमें यह यकीन भी नहीं है कि दुनिया में एक नयी व्यवस्था आयेगी, जहां शांति और आजादी होगी। हमें और दुनिया भर के लोगों को इस बारे में बेसब्री से इंतजार है। दो विश्वयुद्धों की त्रासदी खत्म हो चुकी है, लेकिन शांति न हासिल होने की त्रासदी हमें घेरे हुए है और सारे संसार में अंधियारा आ रहा है। लोकतंत्र, शांति और आजादी के नाम पर लाखों लोगों को मौत के घाट उतार दिया गया, लेकिन जिन लोगों के हाथों में शासन की बागडोर है, उन्हें पुरानी व्यवस्था को या जो कुछ उनके पास है, उसको बनाये रखने की चिंता घेरे रहती है और वे उसी के लिए काम करते हैं। वे उन चीजों को देने से मना करते हैं, जिनके देने के बारे में वे अब तक घोषणा करते आये हैं। चूंकि उन्हें कोई नयी विश्व व्यवस्था समझ नहीं आती, इसलिए वे नये महायुद्ध की बातें किया करते हैं। जैसा कि हमेशा होता आया है, इस बार भी जनता को धोखा दिया जा रहा है और आजादी के लिए असली लड़ाई शुरू होनी बाकी है।

हमें इस कांफ्रेंस में खासतौर से हिंदुस्तान की रियासतों में रहने वाले 9 करोड़ लोगों के बारे में सोचना है। इनकी तकदीर हिंदुस्तान के बाकी हिस्सों में रहने वाले 30 करोड़ लोगों की तकदीर से और सारी दुनिया में हमसे भी ज्यादा तादाद में रहने वाले लोगों से जुड़ी है। इन रियासतों की समस्याओं को समझने के लिए हमें हिंदुस्तान की समस्या को समझना चाहिए और उस पर विश्व की स्थिति के व्यापक संदर्भ में सोचना चाहिए।

महायुद्ध ने एशिया और यूरोप को झकझोर दिया है, मुल्कों की पुरानी सीमाओं को

जवाहरलाल नेहरू 15 जून, 1945 को रिहा किये गये थे। वह आल इंडिया स्टेट पीपुल्स कांफ्रेंस के अध्यक्ष थे, जिसका अधिवेशन उदयपुर में 30 दिसंबर, 1945 से 4 जनवरी, 1946 तक हुआ। यह अंश 30 दिसंबर, 1945 को दिये गये अध्यक्षीय भाषण से है। *दि हिंदुस्तान टाइम्स* में 31 दिसंबर, 1945 को प्रकाशित। यह *सेलेक्टेड वर्क्स,* वाल्यूम 14, पृ. 406-12, 416 से संकलित है।

बदल डाला है, पुरानी आर्थिक बुनियाद को कई तरह से उखाड़ फेंका है, एक से एक नयी ताकतें रही हैं और इस फेरबदल में से नये ढांचे पैदा हो रहे हैं। इस लड़ाई को रोकने के लिए आंदोलन शुरू हुए थे, वह मौजूदा ढांचे में बेमेल पड़ रहे हैं। लगता है कि तीन प्रमुख ताकतें दुनिया की तकदीर को अपने काबू में किये हुए हैं। इनमें से ग्रेट ब्रिटेन का नंबर दूसरा है। इसलिए इसकी दोयम भूमिका होगी। बाकी हैं दो, संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत यूनियन। ये दोनों ही ताकतवर हैं और अपने अपने तरीके से अपना विस्तार चाहते हैं। इनके आदर्श भिन्न हैं, इनकी अर्थव्यवस्था एक-दूसरे की विरोधी है। इनमें से हर एक अपनी स्थिति को मजबूत करना और अपना असर दूर दूर तक डालना चाहता है। सोवियत यूनियन ने बहुत से ऐसे राज्य कर लिये हैं, जो उसके आश्रित हैं। इस प्रक्रिया में उसने पूर्वी यूरोप में सामंतवाद के बचे-खुचे बहुत से अवशेषों को खत्म कर दिया है। यह प्रक्रिया अब मध्यपूर्व में की जा रही है। ईरान में इस समय अंदरूनी टकराव और बाहरी दबाव दोनों ही हैं। सुदूर पूर्व में चीन के महान देश में बदकिस्मती से फिर जनता में संघर्ष हुआ। इस संघर्ष में दूसरी ताकतों का हाथ था। लगता है कि इसका एक ही समाधान है कि पूर्ण लोकतंत्र के आधार पर संयुक्त चीन का निर्माण हो।

दक्षिण-पूर्व एशिया में इंडोनेशिया और इंडोचीन साम्राज्यवाद के खिलाफ बहादुरी से संघर्ष कर रहे हैं और इन दोनों मुल्कों में जनता को कुचलने में ब्रिटेन ने मदद देनी शुरू की है। दूसरे मुल्कों में दखलंदाजी की इन लड़ाइयों में जो समानता है, वह खतरनाक है, इनमें से एक लड़ाई वह है, जो ब्रिटेन ने छेड़ रखी है और दूसरी वह, जो इटली और नाजी जर्मनी ने स्पेन में छेड़ी थी, जो दूसरे विश्व युद्ध की शुरुआत थी। हिंदुस्तान में हमारे लिए इंडोनेशिया और इंडोचीन की इन लड़ाइयों से हमारा खास ताल्लुक है और ये खास अहमियत रखती हैं। इन मुल्कों में ब्रिटेन की दखलंदाजी देखकर हमें गुस्सा और शर्म आती है, क्योंकि जैसी लड़ाई हम लड़ रहे हैं, वैसी ही लड़ाई हमारे ये दोस्त मुल्क भी लड़ रहे हैं, लेकिन ब्रिटेन इस लड़ाई को कुचलने का गंदा काम हमारे सिपाहियों से करवा रहा है लेकिन हम लाचार हैं। हाल में हमें सेंसरशिप के घने पर्दे के पीछे ब्रिटेन, फ्रांस और हालैंड की साम्राज्यवादी सरकारों के कारनामों की कुछ झलक मिली। इन खबरों को सुनकर हमारा दिल घृणा और निराशा से भर गया है क्योंकि ये खबरें अत्याचार की वैसी ही खबरें हैं, जो हमने जर्मनी के बारे में सुन रखी हैं।

साम्राज्यवाद इसी तरीके से एशिया में अब भी अपना काम कर रहा है। यह तो क्रूरता, जंगलीपन और घिनौनी कार्रवाईयों को शह दे रहा है। यह तो आजादी के अधिकार को एकदम नामंजूर करने की तरह है। ब्रिटेन स्याम में अपने साम्राज्यवाद का असर फैलाना चाहता है। मलाया में वह अपनी आर्थिक स्थिति को पुख्ता कर रहा है और उसका विस्तार कर रहा है। बर्मा और सीलोन पर वह जब तक हो सकता है, अपना कब्जा बनाये रखना

चाहता है। हिंदुस्तान में हम अपने हाल के अनुभव से जानते हैं कि वह किस तरह वास्तविक परिवर्तन को लाने में देरी करने और उसमें अड़चन डालने की कोशिश कर रहा है।

इससे यह तो नहीं लगता कि साम्राज्यवाद खत्म हो रहा है, लेकिन यह जरूर लगता है कि ब्रिटेन ऐसी लड़ाई लड़ रहा है, जिसमें उसने हार मान ली है और यह कि उसकी पुरानी साम्राज्यवादी ताकत के स्रोत सूखने लगे हैं। उसका स्वार्थ कई तरह से अमेरिका के स्वार्थों से मेल नहीं खाता, लेकिन तब भी हालात ऐसे हैं कि उसे अमेरिका से मदद मांगनी पड़ती है और दुनिया में अपनी धाक जमाये रखने की बड़ी लड़ाई में अमेरिका की निस्बत दोयम भूमिका निभानी पड़ती है।

इस लड़ाई में अमेरिका भी है और वह राजनैतिक और आर्थिक तैयारियां भी कर रहा है। वह भी चाहता है कि बाकी मुल्क उसे अपना मुखिया मानें। लेकिन ऐसा लगता है कि कुछ मुल्कों में ब्रिटिश साम्राज्य के बने रहने का वह समर्थन करता है। हाल की घटनाओं से यह पता चलता है कि वह इस हुकूमत का जामिन बन गया है और उसमें कुछ मामूली फेरबदल चाहता है। यह फैसला बहुत बड़ा फैसला है। इससे सभी को खतरा हो गया है। यकीनन इस दुनिया में हर नामुमकिन बात भी मुमकिन है, लेकिन एशिया के मुल्क अपनी मर्जी से किसी भी साम्राज्य या हुकूमत के आगे नहीं झुकेंगे और वे विद्रोह करेंगे। इस विद्रोह में करोड़ों लोग खुशी खुशी शामिल होंगे और यह हमेशा चलेगा। इसे एटम बम भी नहीं खत्म कर सकता। इस विद्रोह से जबरदस्त चीज पैदा होगी और वह है तीसरा महायुद्ध।

अक्सर कहा गया है कि साम्राज्यवाद के इस खतरे से निबटने के लिए एशिया के मुल्कों को एकजुट हो जाना चाहिए। यह जरूरी बात है। ये जाहिर है कि ये मुल्क उन मुल्कों से मदद मांगेंगे, जो उनकी आजादी के कायल हैं।

हिंदुस्तान में बड़ी बड़ी घटनाएं होने को हैं। शायद इन घटनाओं की शुरुआत ब्रिटिश सरकार से न हो, ज्यादातर जनता से हो। पिछले साढ़े तीन बरसों में इस सरकार ने राष्ट्रीय आंदोलन को जोर-जबरदस्ती और बर्बरता से कुचलने की जो कोशिश की, उसमें इसे कामयाबी नहीं मिली। हिंदुस्तान की जनता में आजादी हासिल करने की ताकत और इच्छा पहले से ज्यादा तेज हो गयी है। जहां जहां मैं गया हूं, मैंने लोगों में इस विदेशी हुकूमत से छुटकारा पाने की लगन पायी है, इन लोगों में गुस्सा है और बेताबी है। इन लोगों ने तय कर लिया है कि विदेशी हुकूमत के आगे घुटने नहीं टेके जायेंगे, चाहे जो कुछ भी हो। जब मुल्क में इस तरह का माहौल हो गया है, तब पुरानी चालें चलना, देर करना या मुल्तवी करते रहना मुमकिन नहीं है। अगर कोई बदलाव—ऊपर से नीचे तक भारी बदलाव—नहीं हुआ तब एक महान संकट पैदा हो सकता है।

हिंदुस्तान की रियासतों की जनता ने बाकी जनता का साथ दिया है। उसने 1942

में और उसके बाद खास भूमिका अदा की है। वह आज जितनी बेचैन है; उतनी पहले कभी नहीं थी। हम आज उदयपुर के इस प्राचीन और ऐतिहासिक शहर में इकट्ठा हैं। यह बात इस बात का सबूत है कि रियासतों में जनता का आंदोलन जड़ पकड़ चुका है।

इन रियासतों में जनता आंदोलन कर रही है, लेकिन अपने मनमर्जी के मुताबिक काम करनेवाली इनकी सरकारें भी उसी रास्ते पर हैं, जिस पर वे पहले थीं। और अगर कोई परिवर्तन हुआ है तो वह इतना कम कि उसका पता नहीं चलता है। ये सरकारें पुराने जमाने की यादगार हैं। ये सरकारें ब्रिटिश हुकूमत के सहारे रहती हैं। इन रियासतों में से कई रियासतें इसी ब्रिटिश हुकूमत की बनायी हुई हैं। इस हुकूमत ने इनमें कोई फेरबदल इसलिए नहीं की, जिससे वह हिंदुस्तान में अपनी धाक जमाये रखने में इन रियासतों का इस्तेमाल कर सके। लार्ड कैनिंग नाम के वाइसराय ने 1860 में लिखा कि सर जान मलकाम ने बहुत पहले यह कहा था कि अगर हम हिंदुस्तान में सब जगह जिले बनाते हैं (जैसा कि ब्रिटिश हिंदुस्तान में है) तो तब बहुत मुमकिन है कि हमारी सल्तनत पचास साल भी रह सके, लेकिन अगर हम बड़े बड़े शाही रजवाड़ों की तरह उन्हें बगैर कोई ताकत दिये देशी रियासतें बनाते हैं तो हमारी हुकूमत तब तक बनी रह सकती है, जब तक हमारा समुद्री बेड़ा औरों के मुकाबले ताकतवर रहता है। यह कहना कितना सच है, इस बारे में मुझे कोई शक नहीं है। हाल की घटनाओं ने यह साबित कर दिया है कि हमें पहले से ज्यादा इसी बात पर ध्यान देना चाहिए।

एक लेखक ने हिंदुस्तान की रियासतों को 'हिंदुस्तान में ब्रिटेन का पाचवां दस्ता' कहा है। डेढ़ सौ बरसों के इतिहास ने इस नाम को पुख्ता कर दिया है। रियासतों के पैरोकार और नुमाइंदे रशबूक विलियम्स ने 1930 में लिखा था : "ये रियासतें सारे हिंदुस्तान में शतरंज के खानों की तरह हैं। इनकी मौजूदगी हमारे लिए बहुत बड़ी हिफाजत का काम करती है। ये उसी तरह हैं, जैसे किसी विवादग्रस्त क्षेत्र में दोस्तों के किले हों। इन ताकतवर और वफादार देशी रियासतों का जाल बिछा होने की वजह से ब्रिटिश सरकार के खिलाफ किसी भी बगावत का कामयाब होना बहुत मुश्किल होगा।"

हम अक्सर इन रियासतों के हुक्मरानों की नुक्ताचीनी करते और उन्हें भला-बुरा कहते हैं। अक्सर ये बुरा कहने के लायक भी होती हैं। लेकिन याद रखना चाहिए कि ये साम्राज्यवादी ताकत की छाया मात्र हैं और इन रियासतों के पिछड़ेपन की वजह वह ताकत है, जिसने उन्हें ऐसी हालत में डाल रखा है और इनकी तरक्की को रोके रखा है। सभी जानते हैं कि राजा-महाराजा तरक्कीयाफ्ता या आजाद ख्यालों के हैं, उन्हें हिंदुस्तान की सरकार का पोलिटिकल डिपार्टमेंट पसंद नहीं करता। इनमें से बहुत-सी रियासतों में ऐसे दीवान हैं, जो पोलिटिकल डिपार्टमेंट द्वारा लाकर बिठाए गये हैं, जो इनकी देखरेख करता है। इसलिए जब हम रियासतों की बात करते हैं तो एक तरह से ब्रिटिश सरकार की चर्चा करते हैं।

जैसे ही यह हुकूमत हिंदुस्तान के बाहर चली जायेगी, वैसे ही यहां की समस्याएं बिल्कुल बदल जायेंगी। यह बात सर जिओफ्रे दि मोंटमोरंसी नाम के एक मशहूर ब्रिटिश लेखक ने अपनी किताब 'दि इंडियन स्टेट्स एंड इंडियन फेडरेशन' (1942) में जोर देकर कही है। वह लिखते हैं : हिंदुस्तान में इतनी ज्यादा रियासतें हैं कि वे यहां की तरक्की के रास्ते में एक बहुत बड़ी पहेली हैं। इसका कोई हल नजर नहीं आता। अगर हिंदुस्तान में ब्रिटेन की ताकत खत्म हो गयी और जो एक बड़ी ताकत है, तब यह अपने आप खत्म हो जायेंगी और हिंदुस्तान में मिल जायेंगी। यह एक दिलचस्प बात है कि हैदराबाद के निजाम ने भी, जो अपने को आजाद कहते हैं, यही बात एक बयान में कही थी जो लगभग एक साल पहले उन्होंने जारी किया था।

श्री मोंटमोरंसी कहते हैं कि इस समस्या का कोई हल नजर नहीं आता है, लेकिन वह खुद ही इसका हल भी बता देते हैं। यह हल है कि हिंदुस्तान से ब्रिटिश हुकूमत के हट जाने से हमारी बहुत-सी समस्याएं, जिनमें यहां की सांप्रदायिक समस्या भी है, हल हो जायेंगी। यह खुशी की बात कब पूरी होगी? इसीलिए हमारी मांग है—भारत छोड़ो।

जब यही हाल है, तब करार करने के अधिकार या जिसे वे आजादी कहते हैं, उस पर बहस करना ही फिजूल की बात है। यकीनन कोई भी समझदार आदमी सौ साल पहले किये गये करार की आड़ नहीं ले सकता। यह भी याद रखने की बात है कि छः सौ रियासतों में से सिर्फ चालीस ऐसी रियासतें हैं, जिन्होंने कोई करार किया था। ब्रिटिश हुकूमत के साथ बाकी रियासतों का काम समय समय पर किये गये समझौतों, सनदों, दस्तूर, रजामंदी, सियासी रीति-रिवाज और परंपरा आदि के आधार पर चलता है। इन रियासतों की लंबाई-चौड़ाई जुदा जुदा है, कुछ ज्यादा अहम हैं कुछ कम अहम हैं, कुछ के पास साधन पर्याप्त हैं, कुछ के पास नहीं। इनमें से बहुत-सी रियासतें राज्य नहीं हैं, बल्कि उन्हें सनद मिली हुई है, जो वहां पर उस वक्त के शासक को दी गयी होती है। गवर्नमेंट आफ इंडिया, 1935 में सिर्फ 143 रियासतों का जिक्र करना अहम समझा गया और इनमें से प्रस्तावित संघीय विधान में सिर्फ 52 को अलग प्रतिनिधित्व दिया गया है और बाकी 91 को इकट्ठा एक वर्ग में डाल दिया गया है।

अगर इन रियासतों की समस्याएं एक जैसी हैं तो इनको, जिन्हें रियासत कहा जाता है, उनको एक साथ रखना सरासर नासमझी है..

इस समस्या को हल करने का एक ही रास्ता है कि जनता की भलाई की जाये और उसकी तरक्की ही हमारा मकसद रहे। और सभी बातें दोयम हैं और यही पहले होना चाहिए। इसमें सियासी आजादी, लोकतंत्री ढांचा, बुनियादी हक और अधिकारों को इजाजत और स्वतंत्र अदालतों का होना शामिल है। साथ ही इसमें आर्थिक आजादी भी शामिल है और व्यक्तिगत विकास के रास्ते में आने वाली उन सभी पाबंदियों का हटाया जाना भी शामिल

है, जो चाहे सामंती या और किसी किस्म की हों। राजपूताना की कुछ रियासतों में अब भी कुछ पुराने शर्मनाक रीति-रिवाज हैं, जिन्हें कोई भी आधुनिक राज्य बर्दाश्त नहीं करेगा। दारोगा रस्म के तहत एक तरह की गुलामी की रस्म है। इसमें औरतों पर जितना अत्याचार होता है, उतना आदमियों पर नहीं। इसी तरह बेगार या जबरदस्ती काम करने की भी रस्म है। इसके अलावा जागीर प्रथा भी है, जिसमें बड़े बड़े सामंतों को कानूनी फैसला करने, मालगुजारी वसूल करने, पुलिस की और दूसरे तरह की ताकत मिली होती है। इससे इन जागीरों में औरों के मुकाबले ज्यादा सामंती व्यवस्था और पिछड़ापन आ गया है। इसके अलावा पिछड़ी हुई जातियों और आदिवासियों के लोग भी हैं, जिन्हें कानून और रीति-रिवाज दोनों ही तरीके से दबाकर रखा जाता है और इनको तरक्की के लिए कोई मौका नहीं मिलता।

यहां यह बात ध्यान देने की है कि अगर जनता सदियों पुरानी अपनी गरीबी और पिछड़ेपन से, जिनमें वह अब तक रहती आयी है, निकलना और अपने को ऊपर उठाना चाहती है तो इन पुरानी और नुकसान पहुंचाने वाली रीतियों और रूढ़ियों को खत्म होना होगा। हम जिस भविष्य की बात सोचते हैं, उसमें हर नागरिक को, चाहे वह आदमी हो या औरत, हक और तरक्की के मौके बराबर बराबर मिलने चाहिए, उसे कानूनी हक मिलना चाहिए और सामाजिक अत्याचार और अन्याय खत्म किया जाना चाहिए।

इन राजा-महाराजाओं के बारे में क्या कहा जाये? इनमें चाहे जो भी व्यक्तिगत गुण हों या कमियां हों, हमारी चिंता की वजह तो यह व्यवस्था है। इस व्यवस्था को ब्रिटिश सरकार ने बनाया है और वह ही इसके लिए जिम्मेदार है। इन राजा-महाराजाओं से हमारा रवैया दोस्ती का होना चाहिए और उन्हें इस बड़े काम में, जो हमारे सामने है, साथी बनाना चाहते हैं। उन्हें महसूस करना चाहिए कि ये काम पूरे किये जाने हैं, बड़े बड़े परिवर्तन होंगे और वे विदेशी ताकत के सहारे बहुत दिनों तक नहीं रह सकते। कभी भी इस तरह किसी के सहारे रहना न तो अच्छा समझा गया और न यह देशभक्ति की निशानी है। आज के हालत में इस तरह नहीं रहा जा सकता और ऐसी हालत में पड़े रहना उनके हित में नहीं है। उनका स्वार्थ जनता की खुशहाली में है। दुनिया बड़ी तेजी से बदल रही है और हमें इसके साथ कदम मिलाकर चलना है। हिंदुस्तान के भविष्य के बारे में कोई कुछ नहीं कह सकता। इसी तरह कोई भी व्यक्ति यह नहीं कह सकता कि इन राजा-महाराजाओं का भविष्य क्या होगा। हममें से जो लोग इन बदलते हालात के मुताबिक अपने को बदलेंगे, उन्हें ही भविष्य में उचित स्थान प्राप्त होगा। जहां तक निकट भविष्य का सवाल है, हमें घटनाओं को मोड़ने का मौका मिला है। हमें चाहिए कि इस परिवर्तन को तुरंत करें, लेकिन हमें यह परिवर्तन इस तरह लाना है कि इससे सभी को सुविधा हो...।

आखिरकार हमारा भविष्य हमारी ताकत, हमारे मेल-मिलाप और हमारी एकता पर निर्भर है। इस कांफ्रेंस का यही मकसद है और यह बनाये रखना ही हमारी इस संस्था का

भी मकसद है। हमने पुराने दिनों में यही अच्छा काम किया है, लेकिन यह क्षेत्र की दृष्टि से सीमित रहा है। हमें भारी मुश्किलों का सामना करना पड़ा है। इन मुश्किलों की वजह से हम अपनी जनता तक नहीं पहुंच पाये हैं। लेकिन ये मुश्किलें धीरे धीरे खत्म हो रही हैं और हममें एकजुट रहने की ताकत बढ़ रही है। हमें हमेशा यह ख्याल रखना है कि हमारा काम और हमारी संस्था सबके लिए है, खासतौर से उनके लिए, जो समाज में सबसे नीचे स्तर पर हैं और जिन्हें हमारी मदद और प्रोत्साहन की सबसे ज्यादा जरूरत है। हम किसी एक वर्ग या समुदाय के लिए काम नहीं कर सकते। हम तो अपने कार्यक्रम में संप्रदायवाद की भावना आने देना मंजूर नहीं कर सकते, जिसने हिंदुस्तान का काफी नुकसान किया है। इस बारे में भी हमें एकता के उस आदर्श को सीखना है, जो आजाद हिंद फौज ने बड़ी खूबी के साथ हमारे सामने रखा है।

हमने अपने काम और खूबी के साथ और बड़े पैमाने पर अंजाम देने के लिए अपने संविधान में काफी परिवर्तन किये हैं। इन परिवर्तनों के बारे में इस कांफ्रेंस में विचार किया जायेगा और उनको पुष्ट किया जायेगा। इन परिवर्तनों से इस संस्था में कई जुदा जुदा रियासतों को और भी प्रतिनिधित्व दिया जायेगा। इसके अलावा इस संस्था में इन रियासतों के तरह तरह के जन आंदोलनों को भी प्रतिनिधित्व दिया जायेगा। लेकिन हमें यह याद रखना है कि अब भी कुछ रियासतें इतनी पिछड़ी हुई और प्रतिक्रियावादी हैं कि वहां जन आंदोलनों को कोई भी इजाजत नहीं दी गयी है। इन रियासतों में से एक हैदराबाद है, पिछले कई बरसों से रियासत की कांग्रेस पर रोक लगी हुई है। जब तक हमारी जनता को उसके बुनियादी हक नहीं मिल जाते हैं, तब तक किसी बड़े बदलाव की उम्मीद करना नासमझी होगी। हमें यह भी जानकारी मिली है कि कई रियासतों में लोगों को लगातार सताया व दबाया जा रहा है। इस मामले में बीकानेर रियासत काफी बदनाम है। रियासत में जेलों की खासतौर से बुरी हालत है और सियासी कैदियों की दुर्दशा है। हमारे काम में जिन बहादुरों ने अपनी जानें तक निछावर की हैं, मैं उनमें से टेहरी रियासत के श्री देव सुमन के नाम का जिक्र करना चाहता हूं। हममें से बहुत से लोग ऐसे बहादुर और ईमानदार नौजवान को याद रखेंगे, जिसने रियासतों में रहने वाली जनता की आजादी के लिए काम किया था। उसके साथ इस रियासत के हुक्मरानों ने जेल में इस तरह का बर्ताव किया कि उसकी मौत ही हो गयी।

हमारे सामने बहुत बड़ा काम है, जो हमें करना है। आइए, हम सभी अपनी पूरी ताकत और ईमानदारी के साथ इस काम को पूरा करने में जुट जायें।

फौजें और कौम की आजादी

गढ़वाल के अंदरूनी इलाकों में चुनाव का दौरा करने के बाद जब मैं लखनऊ लौटा, तब मुझे यहां रायल इंडियन नेवी के रेटिंगों की हड़ताल और शहर में दंगों की खबर मिली। जब मुझे इन दंगों में मारे गये लोगों की तादाद का पता चला, तब मेरा खून खौल उठा। अपने तमाम कार्यक्रमों के बावजूद मैं बंबई आने के लिए अपने को नहीं रोक सका। रायल इंडियन नेवी की हड़ताल और शहर में दंगे, दोनों एक-दूसरे से जुड़े हैं। मैं पहले रायल इंडियन नेवी की हड़ताल के बारे में कुछ कहूंगा।

रायल इंडियन नेवी के मामले ने हिंदुस्तान की हथियारबंद सेनाओं के इतिहास में अध्याय जोड़ दिया है। मुझे इसकी बेहद फिक्र है क्योंकि मैं यकीन करता हूं कि हमारी हथियारबंद फौज का हमारी साधारण जनता से सीधा ताल्लुक है। अब तक इन दोनों के बीच, हथियारबंद फौज और जनता के बीच, एक बहुत बड़ी खाई रही है। इस हथियारबंद फौज ने उस ताकत की फौज के एक हिस्से के रूप में काम किया है, जो हम पर काबिज हैं और हमारे विदेशी हुक्मरानों ने हमें दबाने के लिए इसका खुलकर इस्तेमाल किया है।

दुनिया की दूसरी जंग में हमारे 20 से 25 लाख तक नौजवानों ने जमीनी, समुद्री और हवाई फौज में अपने को भर्ती कराया। इनमें से बहुत से लोगों को सियासत की पूरी जानकारी थी और कुछ तो असल में सक्रिय राजनैतिक कार्यकर्ता भी थे। इस जंग में उन्होंने सब तरह के भेदभाव और बुरे बर्ताव को बरदाश्त किया, जो उनके साथ किया गया था। जब जंग खत्म हो गयी, तब इनमें से कुछ नौजवानों की आत्मा ने इस बर्ताव के खिलाफ विद्रोह किया और इसके नतीजे के तौर पर कुछ आंदोलन और प्रदर्शन हुए।

हमारी हथियारबंद फौज को विदेशी हुकूमत के खिलाफ विद्रोह करने का पूरा हक है, जिससे वह हमारी मुल्क को आजादी दिला सके। कमांडर इन चीफ ने रेडियो ब्राडकास्ट में कहा कि वह हथियारबंद फौज में सियासी कार्रवाइयों को बरदाश्त नहीं करेंगे और अनुशासन का होना बहुत जरूरी है। जो कुछ उन्होंने कहा, मैं उससे मुत्तफिक हूं, लेकिन

---

26 फरवरी, 1946 को बंबई में दिये गये भाषण की समाचार पत्रों में प्रकाशित रिपोर्ट से। *सेलेक्टेड वर्क्स*, वाल्यूम 15, पृष्ठ 1-5 से संकलित। बंबई में रायल इंडियन नेवी (आर.आई.एन.) के रेटिंगों में विद्रोह 18 फरवरी, 1946 को शुरू हुआ और 23 फरवरी, 1946 को समाप्त हुआ

यह फौज एक आजाद मुल्क की फौज होनी चाहिए। अगर कमांडर इन चीफ साहब का यह मतलब है कि फौजों को आजादी के मुल्क की लड़ाई में कोई दिचलस्पी नहीं लेनी चाहिए तो मैं उनसे मुत्तफिक नहीं हूं क्योंकि यह एक ऊंचे किस्म की सियासत है।

हमारे फौजी नौजवान सियायत को कभी नहीं भूल सकते और वह विदेशी हुकूमत के लिए रुपये के लालच में मशीन की तरह काम नहीं करते रह सकते। मेरा ख्याल है कि हमारे फौजी नौजवानों को सियासी मामलों की पूरी जानकारी रहनी चाहिए क्योंकि वे सिपाही होने के साथ नागरिक भी हैं और इस हैसियत से उन्हें जनता के प्रति कुछ जिम्मेदारियां भी पूरी करनी हैं। मैं मानता हूं कि फौज में हर स्तर पर अनुशासन होना चाहिए, लेकिन हिंदुस्तान जैसे मुल्क में, जहां इन सिपाहियों को जंग खत्म होने के बाद असलियत का पता लगा है, ऐसी बातें करना उल्टी बात करना है।

हिंदुस्तान में फौज में जो जिम्मेदार लोग हैं और जो कुछ सोचते-विचारते हैं, उन्हें समझना चाहिए कि वे दो नावों पर पैर रखे हुए हैं। अनुशासन के नाम पर हिंदुस्तान के सिपाही से शहर में होने वाले उपद्रवों और दंगों को कुचलने के लिए कहा जाता है, लेकिन उसका मन यकीनन ऐसी कोई कार्रवाई नहीं करना चाहता। तब वह क्या करे? अगर कोई हिंदुस्तानी सिपाही अपने ही मुल्क में रहनेवाले को, जो आजादी के लिए लड़ रहा है, गोली मारने से इंकार करता है, तब यह अनुशासन नहीं मानने का मामला नहीं है। अनुशासन का इस्तेमाल सिर्फ उसी मुल्क की फौज के लिए सही होता है, जो आजाद है।

आज का हिंदुस्तान का सिपाही पिछली जंग के हिंदुस्तान के सिपाही से जुदा है। उसने कई लड़ाइयों में काम किया है। आजाद मुल्कों के सिपाहियों का साथ होने से उसकी आंखें खुल गयी हैं और वह समझने लगा है कि दूसरे मुल्कों में आजादी के लिए किस तरह आंदोलन हो रहे हैं। जिस दीवार ने उसे जनता से अलग-थलग कर रखा था, वह गिर चुकी है। उसने विदेशों में बहुत-से परिवर्तनों को होते देखा है और इन परिवर्तनों ने उस पर गंभीर असर डाला है और उसका रवैया बदल दिया है। हालांकि हिंदुस्तान में वह अब भी ब्रिटिश सरकार के अधीन फौज का सदस्य है, तो भी उसमें अपने मुल्क के लिए मोहब्बत पैदा हो गयी है। यह बात आजाद हिंद फौज कांड से अच्छी तरह पता लग चुकी है।

हिंदुस्तान की आजादी की लड़ाई लड़ने वालों का साथ देने के लिए फौज के लोगों से बातचीत करने का अब वक्त आ गया है और हिंदुस्तानियों को चाहिए कि वे हिंदुस्तान की आजादी की खातिर इन लोगों से बातचीत करें। फौज में मौजूदा हलचल का हिंदुस्तान की सियासी जिंदगी से सीधा संबंध है। इसका मतलब है कि उनमें काफी जागरूकता है। यह सरकार फौज के लोगों की मांगे पूरी नहीं कर सकती। ये मांगे तो आजाद राष्ट्रीय सरकार ही अच्छी तरह और ठीक तरह से पूरा कर सकती है।

इंडियन नेवल रेटिंग्स की मांगे नयी नहीं हैं। इंग्लैंड में पिछले तीन बरसों से हड़तालें

और काम करने से इंकार करने की वारदात हो रही हैं, लेकिन हिंदुस्तान में हालत कुछ जुदा है। वहां जंग के वजीर ने पिछले दिनों कहा था कि मुल्क की माली हालत की वजह से हम रेटिंगों और फौज में लड़ने वाले दूसरे सिपाहियों की तनख्वाहें तुरंत नहीं बढ़ा सकते हैं। लेकिन जब हिंदुस्तान में हालात सुधर जायेंगे और आजाद सरकार की स्थापना हो जायेगी, तब उनकी मांगें पूरी की जायेंगी।

मुझे अपने सिपाहियों के साथ पूरी हमदर्दी है। सिर्फ एक ही बात सही नहीं है कि उन्हें लड़ाई लड़ने में मुसीबतों का सामना करना नहीं पड़ रहा है। वे जिस फौज के खिलाफ लड़ रहे हैं, वहां सिपाहियों की तादाद ही काफी नहीं है, बल्कि उनके पास अच्छे से अच्छे हथियार हैं। इसके खिलाफ हमारे फौजियों के पास न तो खाने का सामान है और हथियार भी बहुत थोड़े हैं। इन हालात के खिलाफ विद्रोह पैदा होने की वजह से वे अपने अपने दस्ते छोड़ रहे हैं और दुश्मनों के चंगुल में जा फंसते हैं।

आजाद हिंद फौज की घटना और रायल इंडियन एयरफोर्स और रायल इंडियन नेवी की हड़तालों ने मुल्क की बहुत बड़ी सेवा की है। हथियारबंद फौज को जिस खाई ने जनता से अलग कर रखा था, वह हमेशा के लिए खत्म हो चुकी है। जनता और सिपाही अब एक-दूसरे के काफी नजदीक आ गये हैं। दोनों यह महसूस करने लगे हैं कि दोनों का एक ही मकसद है—अपने मुल्क को विदेशी गुलामी से छुड़ाना।

रायल इंडियन नेवी की हाल की हड़ताल में हमारे बहादुर नौजवानों ने एक गलती की है। लेकिन हमें उन्हें माफ करना है और हमें इस बात की पूरी कोशिश करनी है कि इनको किसी भी तरह से सताया नहीं जाये। कुछ अखबारों में यह खबरें छपी हैं कि सरदार पटेल ने यह गारंटी दी है कि किसी को भी सताया नहीं जायेगा और मौलाना आज़ाद ने भी यही गारंटी दी है। मौजूदा गुलामी की हालत में सरदार और न मौलाना ही इस स्थिति में हैं कि वे कोई गारंटी दे सकें। यह तो सिर्फ सरकार ही है, जो ऐसी गारंटी दे सकती है। पिछले चार दिनों में बंबई में जो सामूहिक रूप से हिंसा की घटनाएं हुई हैं, मैं उन्हें अच्छा नहीं मानता। मेरी यह समझ में नहीं आता कि हिंदुस्तान की आजादी के लिए हिंसा का सहारा लेना कोई जरूरी बात है। अगर मुझे यकीन हो जाये कि आजादी हासिल करने के लिए हिंसा का सहारा लेना जरूरी है, तब मैं यह बात खुल कर कहूंगा और लोगों से हिंसा का सहारा लेने के लिए कहूंगा। लेकिन इस वक्त मुझे पूरा इत्मीनान है कि जल्दी से जल्दी आजादी हासिल करने के लिए अहिंसा का रास्ता अब भी हिंदुस्तान के लिए एक सही रास्ता है। पब्लिक पर खास तरीके से हमला किया गया। हुक्मरानों ने आंसू गैस और लाठियों का इस्तेमाल न कर, बंदूकों और मशीनगनों से गोलियां चलायीं। इंग्लैंड और अमेरिका में ऐसी हालत में दूसरी तरह की कार्रवाई की जाती है। अभी हाल की बात है। इंग्लैंड में बगावत करने वालों पर हौज पाइप से पानी की सिर्फ तेज धार छोड़ी गयी।

आपको याद रखना चाहिए कि अगर हमने कोई गलती की, तब हमने आजादी की लड़ाई में पिछले 25 वर्षो में जो त्याग और बलिदान किये हैं, वे सब मिट जायेंगे। अगर जनता ने आजादी की ख्वाहिश का इजहार हिंसापूर्ण कार्रवाइयां कर किया, तब इंडियन नेशनल कांग्रेस ने जो खास काम किया है, वह सब बेकार चला जायेगा।

हमें गैर सामाजिक तत्वों से होशियार रहना है, जो अपने फायदे के लिए हर मौके का फायदा उठाने के लिए हमेशा तैयार रहते हैं। मैं नहीं चाहता कि भोले-भाले नागरिकों को गोली से भून देने के लिए अंग्रेजी फौज को बुलाया जाये, इसलिए हमें अपनी आजादी की लड़ाई को अहिंसा के तौर पर जारी रखना चाहिए। यूनियन जैक को उतारना या अमेरिका के झंडे को जलाने से अगर हम यह समझते हैं कि हम इन मुल्कों की बेइज्जती कर रहे हैं तो यह बचकानी बात है। आपको किसी भी प्राइवेट इमारत से विदेशी झंडे को उतारने का कोई हक नहीं है। अगर आपको अपनी इमारतों पर यूनियन जैक फहराने के लिए मजबूर किया गया होता, तब आपके साथ मुझे पूरी हमदर्दी होती।

रायल इंडियन नेवी के सभी रेटिंगों के मामले में हुक्मरानों को खुली इंक्वायरी करनी चाहिए, जो सिर्फ बंबई के रेटिंगों के बारे में नहीं, बल्कि सारे हिंदुस्तान से आये रेटिंगों के मामले में होनी चाहिए। उन्हें अपना बचाव करने के लिए पूरा पूरा मौका दिया जाना चाहिए, जिस तरह आजाद हिंद फौज के अफसरों के लिए दिया गया है। हमारी जिम्मेदारी यहीं पूरी नहीं हो जाती। जब सब कुछ ठीक हो जायेगा और हमारी सरकार होगी, तब सभी फौजियों की शिकायतों की जांच की जायेगी।

हमारी फौजें ये सब क्यों कर रही हैं? इस सवाल का बस एक ही जवाब है कि वक्त बिल्कुल बदल गया है। हमारे हुक्मरानों को मालूम होना चाहिए कि हिंदुस्तान पर वे अब उस तरह हुकूमत नहीं कर सकते, जिस तरह कि उन्होंने पिछले बरसो में की है। वह एक पार्टी के लोगों को दूसरी पार्टी से या जनता को फौज से नहीं लड़ा सकते। हमारी फौजों को अपने मुल्क और यहां की जनता के बारे में अपनी जिम्मेदारियों का अहसास होने लग गया है।

किस्मत से बाजी

बरसों पहले हमने किस्मत से एक बाजी लगायी थी, एक इकरार किया था और अब वह वक्त आ पहुंचा है, जब पूरी तौर से नहीं या जितना चाहिए उतना तो नहीं, फिर भी काफी हद तक हम उस वायदे को पूरा करेंगे। जब आधी रात का गजर बजेगा, जब सारी दुनिया सोयी हुई होगी, हिंदुस्तान नयी जिंदगी और आजादी हासिल करेगा। इतिहास में एक वक्त आता है, हालांकि ऐसा वक्त बहुत कम आता है, जब हम पुरानी जिंदगी को छोड़कर नयी जिंदगी में पैर रखते हैं, जब एक युग का अंत होता है और किसी मुल्क की आत्मा बहुत दिनों तक दबी रहने के बाद बोल उठती है। इस अहम मौके पर यह मुनासिब होगा कि हम हिंदुस्तान और उसकी जनता और उससे भी बढ़कर मानवता की खिदमत में अपने को समर्पित करने का संकल्प करें।

हिंदुस्तान इतिहास की पौ फटने के वक्त से ही अनंत की खोज में रहा है। पिछले हजारों बरसों का इतिहास उसकी शानदार कामयाबी और नाकामयाबियों की कहानियों से भरा पड़ा है। चाहे बुरे दिन रहे हों या अच्छे दिन, उसने उस खोज को या उन आदर्शों को आंखों से ओझल नहीं होने दिया है, जिन्होंने उसे ताकत दी है। आज से हम अपने बुरे दिनों को खत्म करते हैं और हिंदुस्तान के अच्छे दिन फिर वापस लौटते हैं। आज हम अपनी जिस कामयाबी पर खुशी मना रहे हैं, वह हमारा सिर्फ पहला कदम है, काम करने की शुरुआत है, जिससे हम और भी बड़े काम करें और कामयाबियां हासिल करें, जो हमारा इंतजार कर रही हैं। क्या हममें इतना हौसला और समझदारी है कि हम इस मौके को हाथ से न निकलने दें और आने वाली चुनौतियों को आगे बढ़कर कबूल करें?

आजादी और ताकत मिलने से जिम्मेदारी आती है। यह जिम्मेदारी हमारी उस असेंबली पर आती है, जो हिंदुस्तान की सर्वोच्च जनता की नुमाइंदगी करती है और एक सर्वोच्च संस्था है। आजादी हासिल करने के पहले हमने बहुत सारी तकलीफें बरदाश्त की हैं, जैसे कोई मां बच्चा जनने के पहले बरदाश्त करती है और हमारा दिल इन तकलीफों की याद कर भर आता है। इनमें से कुछ तकलीफें तो आज भी हम भोग रहे हैं। फिर भी जो होना था, वह हो चुका और अब आने वाले दिन हमें चुनौती दे रहे हैं।

संविधान सभा में 14 अगस्त, 1947 को दिया गया भाषण। *जवाहरलाल नेहरू'ज स्पीचेज,* वाल्यूम एक, पृष्ठ 25-27 से संकलित

यह आगे आने वाले दिन हमारे लिए आराम करने या सुस्ताने के दिन नहीं हैं, बल्कि लगातार काम करते रहने के लिए हैं, जिससे हम उन प्रतिज्ञाओं को, जो हमने इतनी बार की हैं, और उस प्रतिज्ञा को जो आज करने जा रहे हैं, पूरा कर सकें। हिंदुस्तान की सेवा के मानी करोड़ों लोगों की सेवा है, जो तकलीफ में हैं। इसके मानी हैं कि लोग गरीब नहीं रहें, सभी पढ़-लिख जायें, बीमारी नहीं रहे और सभी को तरक्की करने के बराबर बराबर मौके मिलें। हमारी पीढ़ी के एक सबसे बड़े आदमी की यह ख्वाहिश रही है कि कोई भी दुखी नहीं रहे। हो सकता है कि यह हमारी ताकत के बाहर की बात हो, लेकिन जब तक लोगों की आंखों में आंसू हैं और लोग तकलीफ में हैं, तब तक हमारा मकसद पूरा नहीं होगा।

इसलिए हमें काम करना है, मेहनत करनी है और बड़ी मेहनत करनी है, जिसमें हम अपने सपनों को पूरा कर सकें। ये सपने हिंदुस्तान के बारे में हैं, ये दुनिया के बारे में हैं क्योंकि आज सारे मुल्क और सारे लोग आपस में एक-दूसरे पर इस तरह बंधे हुए हैं कि कोई भी अपने को सबसे बिल्कुल अलग रखने का ख्याल भी नहीं कर सकता। दुनिया में शांति के बारे में कहा जाता है कि उसके टुकड़े नहीं किये जा सकते, आजादी भी ऐसी ही चीज है, ऐसी ही अब खुशहाली है और इसी तरह इस दुनिया में संकट भी है, जो एक है और जिसे अलग अलग टुकड़ों में नहीं रखा जा सकता।

हम हिंदुस्तान की जनता से, जिसके कि हम नुमाइंदे हैं, यह अपील करते हैं कि वह इस बड़े सफर में अपने पूरे भरोसे और यकीन के साथ हमारा साथ दे। यह वक्त छोटी छोटी बातों पर उलझने और नोक-झोंक करने, एक दूसरे को बुरा-भला कहने का नहीं है। हमें आजाद हिंदुस्तान की इमारत तामीर करनी है, जिसमें उसके बच्चे रह सकें।
श्रीमान, आपकी इजाजत से मैं यह प्रस्ताव पेश करता हूं :

(1) इस अवसर पर आधी रात का आखिरी गजर बजने के बाद, संविधान सभा के सभी उपस्थित सदस्य यह शपथ लें -

'इस पावन अवसर पर, जब कि हिंदुस्तान की जनता ने अनेक दुख झेलने और त्याग करने के बाद स्वतंत्रता प्राप्त कर ली है, मैं--हिंदुस्तान की संविधान सभा का सदस्य, अत्यंत विनयपूर्वक हिंदुस्तान और उसकी जनता की सेवा के प्रति अपने को इस उद्देश्य से समर्पित करता है, जिससे कि यह प्राचीन देश संसार में अपना उचित स्थान ग्रहण करे और विश्व में शांति स्थापित करने और मानव जाति के कल्याण में पूरी तरह और स्वेच्छापूर्वक अपना योगदान दे सके'।

(2) 'जो सदस्य इस अवसर पर उपस्थित नहीं हैं, वे यह शपथ (ऐसे शाब्दिक परिवर्तनों के साथ जैसा कि सभापति महोदय निश्चित करें) तब लें, जब वे इस सभा के अधिवेशन में अगली बार उपस्थित हों'।

3

समाजवाद और योजना

पूंजीवाद और साम्राज्यवाद दोनों को उखाड़ फेंको

पिछले दस बरस में हिंदुस्तान में बड़ी अजीबोगरीब घटनाएं हुईं। सदियों पुराने इस मुल्क में नयी नयी ताकतें और विचारधाराएं पनपी हैं। ये ताकतें और विचारधाराएं मौजूदा उस राजनैतिक ढांचे के लिए ही नहीं, बल्कि सामाजिक और आर्थिक ढांचे के लिए भी चुनौती हैं, जिसके अधीन हिंदुस्तान के लोग बरसों से मुसीबतें झेल रहे हैं। सियासी क्षेत्र में हमने देखा कि इससे पिछली पीढ़ी के लोगों की धीमे और बेअसर तरीकों की जगह तुरंत कार्रवाई का आदर्श और कार्यप्रणाली आ गयी है। हमने देखा कि किस तरह एक विशाल आंदोलन का जन्म हुआ और किस तरह वह सारे मुल्क में फैल गया, किस तरह उसने हिंदुस्तान में अंग्रेजी हुकूमत को हिलाकर रख दिया, यह भी देखा कि बाद में यह आंदोलन ढीला पड़ गया और इसकी जगह प्रतिक्रियावादी ताकतें पनपीं और हम आपसी झगड़ों में उलझ गये। अब हम देख रहे हैं कि यह विशाल आंदोलन फिर से जोर पकड़ रहा है, इस बार यह ज्यादा ताकतवर है और आगे बढ़ने का पक्का इरादा लिये हुए है।

अगर पिछले दस बरस में सियासी मामलों में बड़ी बड़ी कामयाबियां हुई हैं, तो हिंदुस्तान के मजदूर आंदोलन का जन्म कुछ कम अहमियत नहीं रखता। लेकिन हममें से कोई यह दावा नहीं कर सकता कि हमारा यह ट्रेड यूनियन आंदोलन बहुत ताकतवर है और वह कामयाबी के साथ लड़ाई लड़ सकता है। फिर भी यह कोई इंकार नहीं कर सकता कि कुछ एक बरसों में हमने जितनी तरक्की की, उतनी तरक्की बाकी मुल्कों में कई पीढ़ियों के बाद हुई थी। हिंदुस्तान में मजदूरों में वर्ग चेतना, उग्र भावना और संघर्ष करने की प्रवृत्ति तेजी से आ रही है। यह इस बात के बावजूद हो रहा है कि हमारे मजदूर बेहद गरीब हैं, गुलामी की वजह से पैदा हुआ डर उनके सिर पर सवार है और इस वजह से उनका आपस में संगठित होना मुश्किल है, विदेशी हुकूमत उनके रास्ते में हमेशा अड़चनें डालती रहती है और सारा मुल्क आजादी की लहर में बह रहा है। इस प्रवृत्ति की वजह से उन्होंने कितनी

नागपुर में 30 नवंबर, 1929 को आल इंडिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस में दिये गये अध्यक्षीय भाषण से उद्धृत। इसे *सेलेक्टेड वर्क्स,* वाल्यूम 4 में पृष्ठ 49-51 पर फिर से प्रकाशित किया गया है। जवाहरलाल नेहरू आल इंडिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस के नवें अधिवेशन में अध्यक्ष चुने गये थे। यह अधिवेशन 1928 में झरिया में हुआ था। उन्होंने दसवें अधिवेशन की अध्यक्षता की। यह 1929 में हुआ। सुभाष चन्द्र बोस दसवें अधिवेशन में अध्यक्ष चुने गये।

ही बार हड़तालें कीं, जो कभी कभी ठीक ढंग से नहीं की गयीं और जिनमें नाकामयाबी के बारे में पहले से ही मालूम था, लेकिन ये लोग रुके नहीं और हड़तालें आगे भी बेधड़क हुईं। अगर वे कभी कभी कमजोर पड़े तो अपने नेताओं की कमजोरी की वजह से कमजोर पड़े।

फिर भी यह आंदोलन अभी काफी कमजोर है और जो कुछ काम हुआ है, वह बहुत ही कम हुआ है। खुद यही बात आपकी कमजोरी की एक निशानी है कि आज मैं यहां खड़ा हूं और आपके सभापति की हैसियत से आपके सामने बोल रहा हूं। मैं तो मजदूर आंदोलन में नया नया आया हुआ हूं। मेरी हमदर्दी चाहे जितनी भी हो, लेकिन मैं आपमें से तो नहीं हूं। मैंने खेतों और फैक्टरियों में तकलीफें नहीं भोगी हैं, जैसी कि आपने भोगी हैं। इस सभा का सभापतित्व मुझे क्यों करना चाहिए? आपके हुक्म से मैं यहां हूं। मैं इस इज्जत के लिए और यह इज्जत देकर आपने मुझमें जो यकीन किया है, उसके लिए मैं आपका एहसान मानता हूं। लेकिन मेरी यहां मौजूदगी से बढ़कर कोई और दूसरा सबूत नहीं हो सकता कि आपका यह आंदोलन अभी शैशव की अवस्था में है और उसमें ताकत नहीं आयी है। मेरे लिए वह दिन खुशी का दिन होगा, जिस दिन खान में, फैक्टरियों में, खेतों में काम करनेवाला कोई मजदूर उस जगह खड़ा होगा, जहां मैं आज खड़ा हूं और मैं और मेरे जैसे लोग आपकी बैठकों के पीछे खड़े होंगे। तभी आप लोग अपने मजदूर आंदोलन के बारे में विश्वास और गर्व के साथ कुछ कह सकेंगे। आप लोग अपने मन से और सभागारों से मजदूर की सच्ची आवाज तभी सुन सकेंगे।

हमारा मुल्क आज एक-दूसरे का गुलाम है। हममें राष्ट्रीय भावना जोर मार रही है। ऐसी हालत में हमारे मुल्क के अच्छे और बहादुर लोगों का कौम को आजाद कराने के काम में लगे रहना स्वाभाविक है। लेकिन हमारे मजदूर भाइयों में से कितनों को यह बात अच्छी लगेगी? हमें गरीबी ने अधमरा कर दिया है। एक बहुत बड़ी ताकत हमें अपना गुलाम बनाये हुए है। हमें रोजी-रोटी की दिक्कत रोजाना झेलनी पड़ती है। हम बड़े बड़े मसलों के बारे में कैसे सोच सकते हैं? लेकिन हम इनकी ओर से अपनी आंखें तो बंद नहीं कर सकते क्योंकि हमारा भविष्य इन मसलों से पूरी तरह से जुड़ा है। मजदूर की हालत खैरात देकर नहीं सुधारी जा सकती और न वह किसी की हमदर्दी दिखाकर, चाहे वह मालिक की या सरकार की ही क्यों न हो। आप सभी जानते हैं कि यह मर्ज काफी पुराना है। खराबी तो व्यवस्था में है, यह व्यवस्था थोड़े-से लोगों द्वारा किये जा रहे शोषण और उनके द्वारा मजदूरों से नाजायज काम कराने पर टिकी हुई है। यह वह व्यवस्था है, जो पूंजीवाद और साम्राज्यवाद की वजह से बनी है और अगर आप इस व्यवस्था से छुटकारा पाना चाहते हैं तो आपको पूंजीवाद और साम्राज्यवाद दोनों को जड़ से मिटाना पड़ेगा और इसकी जगह ऐसी व्यवस्था अपनानी होगी, जो ज्यादा वाजिब हो और फायदेमंद हो।

हमारा यह आदर्श क्या होना चाहिए? अगर आपके मालिक बदल जायें और आपकी मुसीबतें वैसी की वैसी रहें तो इससे आपको कोई फायदा नहीं होगा। अगर हिंदुस्तान के मुट्ठी भर लोग सरकार में बड़े बड़े ओहदों पर आ जायें या उन्हें भारी डिवीडेंड मिलने लगे और आपकी तकलीफें बनी रहें, दिन-रात काम कर और भूखे रहकर अगर आपका जिस्म टूट जाये, आपकी आत्मा मर जाये तो आप कभी खुश नहीं होंगे। आपको वह मजदूरी चाहिए, जो आपको मारे नहीं बल्कि खुश रखे। आप इंसान के शोषण को खत्म करना चाहते हैं, आप चाहते हैं कि सभी के लिए विकास के बराबर बराबर अवसर मिलें और सभी का रहन-सहन अच्छा हो।

हम पर अक्सर यह इल्जाम लगाया जाता है कि हम वर्ग संघर्ष करते हैं और समाज में वर्गों के बीच खाई पैदा करते हैं। यह खाई तो पूंजीवाद की मेहरबानी है। इस मामले में उसकी कोई बराबरी नहीं कर सकता। लेकिन जो लोग हम पर इल्जाम लगाते हैं, वे अपने चारों ओर क्या हो रहा है, उसे नहीं देखते और उन्हें कुछ पता नहीं रहता। वर्गों में फूट डालने और उनमें असंतोष की आग भड़काने का काम क्या वे लोग करते हैं, जो समाजवादी और कम्युनिस्ट हैं? यह वे लोग हैं जो पूंजीवादी और साम्राज्यवादी हैं, जिन्होंने अपनी नीति और तरीकों से अधिकांश मानव जाति को मजदूरी देकर गुलाम बना रखा है। जिनकी हालत पुराने जमाने के गुलामों से भी बदतर है। वर्ग संघर्ष हमारे दिमाग की उपज नहीं है। यह पूंजीवाद की देन है। यह तभी तक रहेगा जब तक पूंजीवाद है। जो लोग ऊंचे ओहदों पर बैठे हैं, उनके लिए इसकी तरफ से अपनी आंखें मूंद लेना और वह भी सद्भावना की नसीहतें देना आसान है। लेकिन जो लोग अपने को हमारा शुभचिंतक बताते हैं, यह सद्भावना उनको इस बात की नसीहत नहीं देती कि वे अब हमारी पीठ और कंधों से उतर जायें। वे बड़े बड़े ओहदों से सिर्फ गला फाड़कर चिल्लाना जानते हैं, वहां वे हमें मिटाकर पहुंचे हैं। वर्ग संघर्ष पहले भी रहा है और आज भी मौजूद है। शुतुर्मुर्ग की तरह सिर छिपाकर इससे बचने की कोशिश करने से हम इससे छुटकारा नहीं पा सकते। इसके कारणों को दूर कर ही हम शांति ला सकते हैं।

हमें यही आदर्श अपने सामने रखना चाहिए। हमें यह कोशिश करनी चाहिए कि हमारा राष्ट्रीय आंदोलन भी इसी आदर्श को अपनाये। हो सकता है कि हम राष्ट्रीय आंदोलन का अपना लक्ष्य पूरा करने के पहले मजदूरों की हालत कुछ सुधार सकें और संगठित होने के लिए उन्हें और ज्यादा मौके मिलें। इससे उन्हें सिर्फ थोड़ी राहत मिलेगी, लेकिन हम ऐसी किसी चीज के लिए इंकार नहीं कर सकते, जो दुखी मजदूरों को थोड़ी-बहुत तसल्ली दे सके। लेकिन इस तरह के छुटपुट लाभ के लिए और इसी को लेकर हम कोई भी समझौता नहीं कर सकते। हमारा लक्ष्य तो सिर्फ एक नयी व्यवस्था होना चाहिए, जिसके अधीन मजदूरों को सच्ची आजादी और विकास करने के अवसर रहेंगे।

जमीन के बारे में कांग्रेस का कार्यक्रम

हर आंदोलन को आम जनता का आंदोलन बनने के लिए यह निहायत जरूरी है कि आम जनता के लिए उसका कोई न कोई आर्थिक कार्यक्रम हो। इसलिए कांग्रेस को आमतौर पर सिद्धांत के रूप में इस तरह के कार्यक्रम के लिए कुछ रूपरेखा अवश्य बना देनी चाहिए। ऐसे कार्यक्रम में पूंजी, श्रम और खासतौर से भूमि संबंधी कानूनों से संबंधित सवाल का हल भी होगा क्योंकि हिंदुस्तान ज्यादातर एक कृषि प्रधान देश है। कांग्रेस के सामने दो मुश्किलें आयी हैं, जिनकी वजह से वह इन सवालों को नहीं हल कर सकी है। पहली यह कि मुल्क के मुख्तलिफ हिस्सों में जमीन के बारे में एक जैसे कानून नहीं हैं और दूसरी यह कि बहुत से कांग्रेसियों को डर है कि वे बड़े बड़े पूंजीपतियों और जमींदारों जैसे शक्तिशाली वर्ग के लोगों को अपना विरोधी बना लेंगे। इसका नतीजा यह हुआ कि कि इन सवालों को निपटाने के लिए कई कोशिशें करने के बावजूद वह इनसे हमेशा घबराती रही। शुतुमुर्ग की तरह हकीकत का मुकाबला न करने की ख्वाहिश के बावजूद कांग्रेस को धीरे धीरे और बिना शक इन मसलों पर गौर करना और इनके बारे में अपनी राय जाहिर करनी पड़ी। कांग्रेस के यह महसूस करने पर कि आम जनता के रहन-सहन में बुनियादी सुधार लाने का आर्थिक कार्यक्रम बनाने से आंदोलन को क्रांतिकारी बनाया जा सकता है, कुछ एक प्रस्ताव वगैरह पास किये, लेकिन ये स्पष्ट नहीं थे। फिर भी ये काफी महत्वपूर्ण थे और इनका मकसद जनता के दिलों को जीतना था। इनसे जनता की हमदर्दी हासिल करने में थोड़ी बहुत कामयाबी मिली, लेकिन ये प्रस्ताव जनता की आर्थिक जिंदगी में पूरी तरह नहीं उतर सके कि कोई तूफान पैदा कर सकते.....

जहां तक अखिल भारतीय आर्थिक कार्यक्रम की बात है, हमारे लिए शायद कोई भी कार्यक्रम तैयार करना इस वक्त मुश्किल हो। समूचे भारत पर लागू होने वाले कार्यक्रम के लिए काफी क्रांतिकारी होना जरूरी है, जो हर सूबे में मौजूदा भूमि व्यवस्था को पूरी तरह बदल दे। शायद इसके लिए अभी वक्त नहीं आया है। और यह भी शक है कि कांग्रेस के बड़े बड़े नेता उस पर राजी भी हो सकें। लेकिन इसकी कोई वजह नहीं दिखाई देती

सेलेक्टेड वर्क्स, वाल्यूम 4, पृष्ठ 439-50 से। यह कार्यक्रम 21 दिसंबर, 1930 के बाद सेंट्रल जेल, नैनी में कारावास के दौरान लिखी गयी टिप्पणियों का एक अंश है। इसकी एक प्रति सैयद महमूद को भेजी गयी थी, जो कार्यक्रम का मसौदा तैयार करने के पहले जेल से रिहा कर दिये गये थे

कि यू.पी. कांग्रेस कमेटी, जहां तक उसके अपने सूबे का सवाल है, इस बारे में कोई पहल ही न करे। दरअसल यू.पी.सी.सी. यही काम पिछले कुछ बरसों से कर रही है। यू.पी. में लगानबंदी आंदोलन बड़ी तेजी से फैल रहा है। इसलिए कांग्रेस के लिए जमीन की बाबत औपचारिक रूप से अपनी नीति की घोषणा करना लाजिमी हो गया है। जमींदारों और काश्तकारों को अपनी अपनी स्थिति को समझ लेना और यह जान लेना कि स्वराज से उन्हें क्या फायदा और क्या नुकसान होगा, एक अच्छी बात होगी। हालात को देखते हुए यह जरूरी भी है। किसान के लिए आर्थिक कार्यक्रम का नारा उस नारे से ज्यादा ताकतवर है, जो सिर्फ स्वराज के लिए होता है। यह साफ साफ बता दिया जाना चाहिए कि लगानबंदी के आंदोलन का मकसद जेल से महात्मा गांधी, वल्लभभाई पटेल या जवाहरलाल नेहरू को रिहा कराना नहीं है। हमारा मकसद आर्थिक लाभ है। कुछ एक आदमियों की रिहाई की बात करने से व्यक्तिगत मामले अहम हो जाते हैं और इन बातों को लेकर कोई भी जन आंदोलन ज्यादा दिनों तक नहीं टिक सकता है।

यह डर भी सही है कि ब्यौरेवार आर्थिक कार्यक्रम से शायद कुछ वर्गों के लोग नाराज हो जायें। समाज में कम से कम इस वक्त हर किसी को भी हर मात्रा में जिंदगी में सुविधा की चीजें देना नामुमकिन है। हम फिलहाल यही कर सकते हैं कि ये चीजें बराबर बराबर दी जायें। अगर गरीब किसानों या काश्तकारों को ये चीजें ज्यादा दे दी गयीं तो जाहिर है कि ये चीजें किसी को कम मिलेंगी। हम इससे बच नहीं सकते। इस बात में कोई शक नहीं होना चाहिए कि भूमि संबंधी कार्यक्रम का आधार खेत में काम करने वाले इंसान की—किसान के साथ साथ उस भूमिहीन इंसान की—भलाई है, जिसे अगर मौका मिला होता तो वह भी खेती करता होता।

कांग्रेस वर्ग संघर्ष को बढ़ावा नहीं देना चाहती। इससे बचना ही बुद्धिमानी है, लेकिन हमें यह याद रखना चाहिए कि यह वर्ग संघर्ष पहले भी रहा है और यह अब भी है। यह मौजूदा हालात से होना जरूरी है। इसलिए इसकी बिल्कुल अनदेखी नहीं की जा सकती और ऐसे हालात कभी भी पैदा हो सकते हैं, जो कांग्रेस को इस बाबत तुरंत फैसला लेने के लिए मजबूर कर दें। जो लोग कांग्रेस की नीति तय करते हैं, उन्हें ऐसी संभावनाओं के लिए तैयार रहना चाहिए और कुछ मामलों में साफ साफ जान लेना चाहिए। उन्हें अपने दिमाग में आखिरी मकसद की साफ साफ तस्वीर बना लेनी चाहिए। फिलहाल यह जरूरी नहीं कि उन्हें जाहिर ही कर दिया जाये। लेकिन इनको छिपाने की कोई वजह भी नहीं है। इस वक्त यह कार्यक्रम बहुत-सी बातों पर निर्भर है, लेकिन यह कार्यक्रम ऐसा होना चाहिए, जो हमें मकसद को पूरा करने में मदद दे और जो हमारे समाज के असली बुनियादी वर्ग के लोगों को फायदा करे। हमें किसी भी वर्ग के लोगों को चिढ़ाने का कोई काम नहीं करना चाहिए, वह जमींदारों का हो या किसानों का हो। हम एक बड़ी लड़ाई लड़ रहे हैं।

ऐसे में हमें और ज्यादा दुश्मन पैदा नहीं करने चाहिए। लेकिन जब दो स्थितियों में से किसी एक का चुनाव करना हो, तब कांग्रेस को बगैर किसी डर के समाज के मूल वर्ग के लोगों का, आम जनता का, किसानों का, छोटे-मोटे जमींदारों और भूमिहीन लोगों का साथ देना चाहिए, चाहे इसकी वजह से ताल्लुकेदार और बड़े बड़े जमींदार हमारा साथ ही क्यों न छोड़ दें। ऐसे मामलों में ढील देने से हम ताल्लुकेदारों की उस छाया के पीछे भागते रह जायेंगे, जिसे हम कभी भी नहीं पकड़ सकते और आम जनता के ठोस सहारे को खो बैठेंगे, जो हमारी असली बुनियाद है। हममें से बहुत-से लोग अक्सर बड़े बड़े जमींदारों के बारे में ज्यादा सोचते हैं इसलिए इस बात पर जोर देने की जरूरत है। बड़े बड़े जमींदार हमेशा उन मामलों के बाबत शोर मचाते रहते हैं, जिनमें उनका स्वार्थ रहता है, जबकि गरीब किसान या छोटे छोटे जमींदारों की आवाज शायद ही सुनाई पड़ती है। इस तरह हम इन बड़े बड़े जमींदारों और उनकी दलीलों से प्रभावित हो जाते हैं, चाहे उनके लिए हमारी हमदर्दी बहुत ज्यादा न हो, लेकिन इसके बावजूद हम उनकी ओर ज्यादा ध्यान देने लगते हैं जिसके वे काबिल नहीं होते। 'जमींदार' और 'किसान'—ये शब्द कुछ धोखे में डालने वाले हैं क्योंकि जमींदारों में ऐसे लोगों की तादाद कहीं ज्यादा है, जो छोटे छोटे जमींदार हैं और जिनकी हालत मामूली काश्तकारों से कोई ज्यादा अच्छी नहीं है--

अधिकांश जमींदार गरीब हैं। लेकिन इनकी गिनती की जाये तब ये लोग मुट्ठी भर होंगे—आगरा सूबे की चार करोड़ से ऊपर की आबादी में सात लाख से भी कम। अवध में भी करीब करीब इनकी इतनी ही तादाद होगी, तब उन करोड़ों लोगों का क्या हो जो जमींदार नहीं हैं। ये लोग या तो किसान हैं, भूमिहीन मजदूर हैं या बेरोजगार हैं। हमारी मीटिंगों में इन्हीं लोगों की भीड़ रहती है। यही लोग हमारे वालंटियर बनते हैं और लगानबंदी का मुहिम छेड़ते हैं। यही लोग सबसे ज्यादा तकलीफ झेलते हैं। यही वे लोग हैं, जिनका सबसे ज्यादा ख्याल रखा जाना चाहिए। ये लोग हमारे सूबे की धुरी हैं। हमारे कार्यक्रम से इन लोगों की जितनी ज्यादा भलाई होगी, उतना ही वह कामयाब होगा।

बड़े बड़े राष्ट्रीय फार्मों की स्थापना हमारा लक्ष्य होना चाहिए। किसान ही इनके मालिक होंगे और वे अपने अपने फार्मों में खेती करेंगे, लेकिन उन्हें मिल्कियत बदलने का हक नहीं होगा। यह पाबंदी जरूरी है, नहीं तो जमींदारियां दुबारा बन जायेंगी। इस वक्त इस पाबंदी को लोग नहीं समझ सकेंगे और इसे अच्छी भी नहीं कहेंगे। इसलिए हमें इस वक्त इसकी बात नहीं चाहिए और हमारा मकसद इस वक्त किसानों को मिल्कियत दिलाना है। हिंदुस्तान के दो तिहाई भागों में यह व्यवसाय किसी न किसी शक्ल में आज मौजूद भी है।

बड़ी बड़ी जमींदारियों के टुकड़े कर दिये जाने चाहिए, जैसा कि इंग्लैंड और आयरलैंड जैसे पश्चिमी देशों में किया गया है। यह तरीका जाना माना है और आम है। इन तरीकों

में समाजवाद और कम्युनिज्म का कोई मतलब नहीं है। हमें यह स्पष्ट कर देना चाहिए कि जब तक राज्य या राष्ट्रीय आंदोलन के खिलाफ निश्चित तौर से कोई कार्रवाई नहीं होगी, तब तक किसी की जमीन या जायदाद जब्त नहीं होगी। जमीन तब ली जायेगी, जब मुआवजा दिया जायेगा। आज हर बड़ा जमींदार यही आश्वासन चाहता है। उसे भविष्य की चिंता है। वह जानता है कि जो सुविधा उसे आज मिली हुई है, वह ज्यादा दिनों तक नहीं रहेगी। और आयकर लगा हम बिला शक इस बात की कोशिश करेंगे कि बड़े बड़े जमींदारों पर भूमिकर और आयकर भी लगायें जायें। इन करों की दरें एक जैसी नहीं होकर, बढ़ी हुई होंगी।

कर या लगान की दर तय करते वक्त जिंदगी का ध्यान रखना होगा कि जिंदगी बसर करने के लिए कितनी मजदूरी या आमदनी का होना जरूरी है। अगर आमदनी इस सीमा से कम हो, तब कोई भी कर या लगान मुनासिब नहीं है।

क्रांतिकारी आंदोलन में स्थिति एक जैसी नहीं रहती। यह दोनों शब्द परस्पर विरोधी हैं। क्रांति में हलचल का होना लाजिमी है। ज्यों ही यह हलचल खत्म हो जाती है, त्यों ही क्रांति का तत्व भी गायब हो जाता है। यह भी ध्यान रखना चाहिए कि क्रांति की लहर एक ही बिंदु पर नहीं रुकती। कभी आगे बढ़ती है तो कभी पीछे हटती है और टूट जाती है। तीसरी बात यह कि क्रांति का आधार खासतौर से लोगों की मानसिकता होती है और इसलिए इस पहलू को हमेशा ध्यान में रखना चाहिए। खासतौर से हमारे आंदोलन जैसे आंदोलनों में, जिसका मानसिक प्रतिक्रियाओं के साथ गहरा ताल्लुक है। चौथी बात, जो पिछली बात से पैदा हुई है, यह है कि हमें ऐसे काम करने चाहिए, जो हमारे देशवासियों के ज्यादा से ज्यादा वर्गों के लोगों के दिलों को छू सकें और उन्हें प्रेरित कर सकें। लोगों को बहादुरी के काम करने के लिए सिर्फ कुछ वक्त तक प्रेरित किया जा सकता है। लेकिन ज्यादा तादाद में लोग इसी तरह नहीं जुटे रह सकते, जब तक कि उन्हें यह एहसास नहीं हो जाये कि मकसद पूरा होने पर उनकी आर्थिक हालत जरूर सुधर जायेगी। जाहिर है कि ज्यादा तादाद में लोगों से मतलब किसानों और मजदूरों से—यू.पी. में गांव के लोगों से और छोटे छोटे किसानों से है। पांचवीं बात यह है कि क्रांतिकारी आंदोलन में ताकत नीचे से ऊपर की तरफ आती है। यह ऊपर से नीचे की तरफ नहीं जाती। इसलिए हमारे संगठन में नीचे के स्तर पर जो लोग हैं, उनमें उत्साह बनाये रखने के लिए बराबर कोशिश की जानी चाहिए। उन्हें आगे बढ़कर पहल करने और रास्ता बनाने का ज्यादा से ज्यादा मौका दिया जाना चाहिए। उन्हें यह एहसास रखना चाहिए कि वे हमारे संगठन की मजबूत बुनियाद हैं।—हालांकि कांग्रेस का झुकाव समाजवादी दृष्टिकोण की तरफ है, लेकिन उसने निश्चित रूप से ऐसा कोई दृष्टिकोण नहीं अपनाया है। यू.पी. कमेटी का इस तरफ और ज्यादा झुकाव है। उसने इस बारे में ऐलान मोटे तौर पर किया है, लेकिन यह ऐलान उसके

पक्ष में है। फिलहाल कांग्रेस की तरफ से किसी निश्चित आर्थिक और कृषि कार्यक्रम की रूपरेखा का ऐलान करना मुमकिन नहीं है। फिर भी इस बारे में थोड़ा बहुत कार्यक्रम का ऐलान करना इसलिए जरूरी है कि लोग कांग्रेस के लोगों और उसके कुछेक नेताओं के मकसद को समझ सकें। इस ऐलान में यह बता देना चाहिए कि इस बारे में आखिरी फैसला कांग्रेस के अधिवेशन में होगा, जहां हर किसी को अपनी अपनी राय जाहिर करने का पूरा हक रहता है।

भूमि संबंधी एक अस्थायी कार्यक्रम नीचे दिया जा रहा है। यह कार्यक्रम शुद्ध समाजवादी दृष्टिकोण से नहीं, बल्कि कांग्रेस के दृष्टिकोण से बनाया गया है और इसमें झुकाव थोड़ा-बहुत समाजवाद की ओर है।

1. कांग्रेस यू.पी. में भूमि की पट्टेदारी की मौजूदा प्रणाली के स्पष्ट रूप से खिलाफ है और इसे अनुचित और समाज विरुद्ध समझती है। सरकार में आने पर वह इसे बदलने और सरकार तथा किसानों के बीच सीधा संबंध स्थापित करने तथा गुजरात, पंजाब, मद्रास, वगैरह सूबों में जमीन की मिल्कियत के बारे में जैसा बंदोबस्त मौजूद है, वैसा बंदोबस्त करने का उपाय करेगी। कांग्रेस बड़ी बड़ी जमींदारी के खिलाफ है और उन्हें समाज के लिए खतरनाक समझती है। हमारा उद्देश्य किसानों को जमीन की मिल्कियत देना और सरकार के बड़े बड़े फार्म बनाना है। ये फार्म किसानों को पट्टे पर दिये जायेंगे और वे संयुक्त रूप से इन फार्मों के मालिक होंगे और वे खेती के बारे में नये नये प्रयोग करेंगे।
2. किसानों को जमीन का मालिक बनाने के लिए बड़ी बड़ी जमींदारियों को खत्म करना जरूरी होगा। छोटे छोटे जमींदार चाहें तो बने रहेंगे। कांग्रेस उनके खिलाफ नहीं है और न उनकी जमींदारियों को खत्म करना चाहती है। सरकार द्वारा बड़ी बड़ी जमींदारियां अपने कब्जे में ली जानी चाहिए और उन्हें मुआवजा दिया जाना चाहिए। यह मुआवजा क्या हो, इसका फैसला बाद में किया जाना चाहिए, लेकिन यह स्पष्ट है कि उन्हें पूरा मुआवजा देना मुमकिन नहीं होगा।
3. यह साफ साफ बता देना चाहिए कि जो जमींदार इस राष्ट्रीय आंदोलन में विरोधियों का साथ देंगे, उन्हें मुआवजा पाने का कोई हक नहीं रहेगा।
4. मौजूदा लगान प्रथा के बदले आयकर की तरह जमीन से होने वाली आमदनी के मुताबिक भूमिकर होना चाहिए, जो श्रम के मुताबिक इसी तरह बिरासती संपत्तिकर भी होना चाहिए।

पता चला है कि कुछ जिलों में सरकार से लगान या मालगुजारी में छूट मांगने के लिए किसानों से कहा जा रहा है। कांग्रेस के नजरिये से यह बहुत ही गलत है। ऐसा करने

का मतलब सरकार के हाथों में अपने को बेच देना है। सरकार ने गुजरात में यही रवैया अपनाया था। कांग्रेस जनों को करबंदी पर डटे रहना चाहिए और इस मामले में न कोई ढील दी जानी चाहिए और न कोई समझौता ही किया जाना चाहिए। कभी कभी यह कहा जाता है कि यह पता लगाने के लिए कि कहां और कब करबंदी आंदोलन किया जाये, जांच कमेटियां बनायी जानी चाहिए। यह भी बेहूदा बात है। यही तो वक्त है। जांच के लिए कोई गुंजाइश नहीं है। यह कुछ भी नहीं करने का बहाना है। यह भी सुझाव दिया गया कि किसान सभा की तरफ से भूमि आंदोलन शुरू किया जाये। अगर कोई ताकतवर किसान सभा होती है, तब उसने दूसरे का इंतजार किये बिना ही यह आंदोलन छेड़ दिया होता....।

कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी के नाम

जैसा कि नाम से जाहिर है, कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी कांग्रेस और सोशलिस्टों की नुमाइंदगी करती है। मैं कोई बीस बरस या इससे भी कुछ ज्यादा अरसे से कांग्रेस में हूं। मैंने अपनी पूरी कोशिश से इसके लिए काम किया है और अब ऐसा लगता है कि जैसे मैं इसमें पूरी तरह घुलमिल गया हूं। मुझे यह लगा कि यह उन्हीं उसूलों के लिए काम कर रही है, जो मेरे अपने रहे हैं। इसलिए मैं शुरू से ही इसमें शामिल हो गया। इस तरह कांग्रेस मेरी जिंदगी का एक बहुत बड़ा हिस्सा है। इसके साथ मेरे संबंध फौलाद की तरह मजबूत हैं। मैं भी धीरे धीरे वैज्ञानिक समाजवाद को मानने लग गया हूं और अपने को अब एक पूरा समाजवादी कह सकता हूं। जो संगठन इन दोनों लक्ष्यों और आदर्शों की नुमाइंदगी करता है, मेरी शुभकामनाएं उसके साथ हैं। यह बात जुदा है कि यह संगठन अलग से अपना प्रोग्राम जारी करता है। मैं देखता हूं कि बहुत से मेरे पुराने साथी अब कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी के कार्यकर्ता हैं, जिनकी राय की मैं कद्र करता आया हूं।

मैंने बताया कि मुझ पर दो तरह के आदर्शों का असर पड़ा है। मैं समझता हूं कि इन दोनों ही आदर्शों ने मेरे बहुत-से देशवासियों को भी प्रभावित किया है। ये आदर्श हैं राष्ट्रीयता और राजनीतिक आजादी, जिनकी नुमाइंदगी कांग्रेस करती है और सामाजिक आजादी, जिनकी नुमाइंदगी समाजवाद करता है। जाहिर है कि समाजवाद में राजनैतिक आजादी भी शामिल है क्योंकि इसके बगैर कोई भी सामाजिक और आर्थिक आजादी मुमकिन नहीं है। बदकिस्मती से हिंदुस्तान अभी भी एक गुलाम मुल्क है, इसलिए जो लोग राजनीति में दिलचस्पी रखते हैं, उनका रुझान खासतौर से राष्ट्रीयता की तरफ है। यह बहुत ही अहम चीज है और जो कोई सोशलिस्ट इसे दरकिनार करता है, वह एक बहुत बड़ी गलती करता है। हर सोशलिस्ट यह जानता है कि हमारे मुल्क और सारी दुनिया के सामने जो ढेर सारे मसले हैं, वे सिर्फ राष्ट्रीयता से हल नहीं हो सकते हैं। इस पर जोर देने पर हम बाकी दुनिया को भूल जाते हैं और यह नहीं समझते कि कि ऐसा करने से मुल्कों का अस्तित्व

कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी का, जो 1934 में बनी थी, एक जलसा मेरठ में 19-20 जनवरी, 1936 को हुआ था। जवाहरलाल नेहरू उन दिनों यूरोप में थे। उन्होंने इस अवसर पर 13 जनवरी, 1930 को अपना संदेश भेजा था। यह संदेश 'दि बांबे क्रानिकल' में 16 जनवरी, 1936 को प्रकाशित हुआ था। इसे *सेलेक्टेड वर्क्स,* वाल्यूम 7, पृ. 60-61 से संकलित किया गया है

ही खत्म हो जाता है। हिंदुस्तान का मसला दुनिया में फैले साम्राज्यवाद के मसले से जुड़ा हुआ है। ये दोनों एक-दूसरे से इस तरह जुड़े हुए हैं कि इन्हें अलग अलग नहीं किया जा सकता। दुनिया का मसला असल में एक आर्थिक समस्या है, जिसकी शक्ल बार बार बदलती रही है।

हिंदुस्तान के सोशलिस्ट के सामने समस्या इन दोनों विचारधाराओं को बनाये रखने और इन्हें मिलाकर एक में देखने की है। वैज्ञानिक समाजवाद तो खुद ही यह कहता है कि किसी सिद्धांत को या किसी दूसरे मुल्क को मिसाल के तौर पर आंख बंद कर मत अपनाओ क्योंकि हो सकता है कि वह बिल्कुल ही जुदा हालत में पैदा हुआ हो। चूंकि सोशलिस्ट लोगों की विचारधारा में इतिहास की बारीकियों और इसके साथ इंसान के संबंधों को जानने पर जोर दिया गया है और उनका दृष्टिकोण एकदम वैज्ञानिक होता है, इसलिए वह हर मुल्क की समस्या को वहां की मुख्तलिफ पृष्ठभूमि में, वहां के आर्थिक विकास और दुनिया के संदर्भ में रखकर हल करने की कोशिश करते हैं। यह एक मुश्किल काम है, लेकिन इससे कोई दूसरा आसान रास्ता भी तो नहीं है।

जब कोई काम किया जाता है, तब उसकी पृष्ठभूमि में कोई न कोई संकल्पना अवश्य रहती है। इस संकल्पना को कार्यान्वित करने के लिए जब शक्ति की जरूरत होती है, जनता में दृढ़ता और अनुशासन होना चाहिए जिससे काम करने का कुछ नतीजा हासिल हो सके। अगर कोई सोशलिस्ट सिर्फ ऊंची ऊंची बातें कर और जो उससे रजामंद नहीं हैं उनकी नुक्ताचीनी कर, यह समझता है कि उसने अपने मकसद को हासिल कर लिया है तो वह अपने साथियों और अपने लक्ष्य के प्रति वफादार नहीं है। यह तो बौद्धिक अवसरवादिता है, जो बड़ी आसान चीज है। उसे याद रखना चाहिए कि वह कोई ठलुआ राजनीतिज्ञ नहीं है, बल्कि उसका एक मकसद है, जो उसे हासिल करना है। कुछ हासिल करने के लिए दृढ़ता और अनुशासन का होना जरूरी है। अफसोस तो यह है कि हिंदुस्तान में पिछले कुछ महीनों से अनुशासन और दृढ़ता का अभाव हो गया है, एक साथ मिलकर बहादुरी से जोरदार काम करने की भावना धुंधली यादगार रह गयी है। हमें इस सपने को सच बनाना है। इस सपने को और भी ज्यादा सच बनाना है। इस सपने को पूरा करने के लिए हमें एक ऐसे आदर्श की बुनियाद रखनी है, जिसे हमने अच्छी तरह और साफ साफ समझ लिया है।

समाजवाद—एक ही रास्ता

मुझे इसमें कोई शक नहीं है कि दुनिया की समस्या और हिंदुस्तान की समस्याओं का हल समाजवाद में है। जब मैं इस शब्द का इस्तेमाल करता हूं, तब एक गोलमोल मानवतावादी अर्थ में न कर वैज्ञानिक और आर्थिक अर्थ में करता हूं। समाजवाद आर्थिक सिद्धांत से भी एक बड़ी चीज है। यह एक जीवन दर्शन है और यह इसी रूप में मुझे अच्छा लगता है। मुझे हिंदुस्तान की गरीबी, व्यापक बेरोजगारी, भुखमरी और इस मुल्क की गुलामी को दूर करने के लिए समाजवाद के सिवा कोई दूसरा उपाय नजर नहीं आता है। इसके लिए हमारे राजनैतिक और सामाजिक ढांचे में व्यापक और क्रांतिकारी परिवर्तन की जरूरत है, जमीन और उद्योग-धंधों की मौजूदा व्यवस्था का खत्म होना जरूरी है, जिसमें कुछेक लोग इनका इस्तेमाल निजी स्वार्थ को ध्यान में रखकर सकते हैं और भारतीय रजवाड़ों की सामंती व्यवस्था का भी खत्म होना जरूरी है। इसका मतलब है कि कुछेक मामलों को छोड़कर निजी संपत्ति रखने की प्रणाली खत्म होगी और मुनाफा कमाने की मौजूदा प्रणाली के बदले सहकारिता का ऊंचा आदर्श अपनाया जायेगा। इसका मतलब यह है कि हमारी मूल वृत्तियों, आदतों और इच्छाओं में बुनियादी परिवर्तन। संक्षेप में, इसका मतलब होगा एक नयी सभ्यता, जो मौजूदा पूंजीवादी व्यवस्था से बुनियादी तौर पर भिन्न होगी। इस नयी सभ्यता की थोड़ी-बहुत झलक हमें सोवियत रूस में देखने को मिल सकती है। वहां बहुत-कुछ ऐसा हुआ है, जिससे मुझे बेहद तकलीफ हुई है और जो मुझे पसंद नहीं है। तो भी मेरी आंखें तो इस निराशापूर्ण युग में अत्यंत आशाप्रद संकेत के रूप में इस महान और आकर्षक नयी व्यवस्था और नयी सभ्यता पर लगी हुई हैं, जिसका जन्म हो रहा है। अगर भविष्य आशापूर्ण है तो बहुत-कुछ सोवियत रूस और उसने जो कुछ किया है, उसकी वजह से है। मुझे उम्मीद है कि अगर कोई विश्वव्यापी संकट नहीं हुआ तो यह नयी सभ्यता दूसरे देशों में भी फैलेगी और उन लड़ाइयों और संघर्षों को खत्म कर देगी, जिनसे पूंजीवाद को खुराक मिलती है।

मैं नहीं जानता कि यह नयी व्यवस्था हिंदुस्तान में कब और कैसे आयेगी। मेरा ख्याल है कि हर मुल्क इसे अपने ढंग से संवारे-सुधारेगा और अपनी अपनी राष्ट्रीय भावनाओं

लखनऊ में 12 अप्रैल, 1836 को 'इंडियन नेशनल कांग्रेस' के अधिवेशन के अध्यक्षीय अभिभाषण से, *सेलेक्टेड वर्क्स*, वाल्यूम 7, पृ. 180-82

के अनुकूल ढालेगा। इस व्यवस्था का बुनियादी आधार उस विश्व व्यवस्था से अलग-थलग नहीं रहेगा, जो मौजूदा अव्यवस्था में से उभर रही है, उसे उसके साथ मिलकर रहना होगा।

इस तरह समाजवाद जिसे मैं पसंद करता हूं, सिर्फ एक आर्थिक सिद्धांत नहीं है, बल्कि यह एक जीवन दर्शन है, जिस पर मैं दिल और दिमाग से विश्वास करता हूं। मैं हिंदुस्तान की आजादी के लिए काम करता हूं क्योंकि मुझमें अपने मुल्क के लिए जो मुहब्बत है, वह विदेशी गुलामी को बरदाश्त नहीं कर सकती। हिंदुस्तान की आजादी के लिए मैं और भी ज्यादा काम करूंगा क्योंकि मैं सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन के लिए मुल्क की आजादी को जरूरी समझता हूं। मैं चाहता हूं कि कांग्रेस एक समाजवादी संस्था बने और दुनिया में वह उन सभी ताकतों का साथ दे, जो इस नयी सभ्यता के लिए काम कर रही हैं। मैं जानता हूं कि कांग्रेस में आज जो लोग हैं, उनमें से ज्यादातर ऐसे हैं, जो इतनी दूर जाने के लिए तैयार नहीं होंगे। हमारी संस्था एक मुल्क संस्था है। इसलिए हम मुल्क के नजरिये से ही सोचते और काम करते हैं। अब यह बात काफी साफ हो गयी है कि यह नजरिया एक सीमित लक्ष्य–राजनैतिक आजादी–हासिल करने के लिए भी नाकाफी है और इसलिए हम आम लोगों और उनकी आर्थिक जरूरतों की बात करते हैं। लेकिन हममें से बहुत-से लोग अपनी राष्ट्रीय पृष्ठभूमि के कारण कोई भी ऐसा कदम उठाने से हिचकिचाते हैं, जो जमींदारों-पूंजीपतियों आदि के दिलों में खौफ पैदा कर दे। इनमें से बहुतों ने हमारे खिलाफ पहले से ही मुहिम छेड़ रखी है, हमारे इस राजनैतिक आंदोलन में भी उनसे मुखालफत के सिवा और किसी बात की उम्मीद नहीं की जा सकती।

मैं इस मुल्क में समाजवाद की चाहे जितनी भी उन्नति देखना चाहूं, लेकिन मैं उसे कांग्रेस पर थोपकर आजादी की अपनी इस लड़ाई में दिक्कतें नहीं पैदा करना चाहता। मैं बड़ी खुशी से और पूरी ताकत से उन लोगों का साथ दूंगा जो आजादी के लिए काम कर रहे हैं, भले ही वह समाजवादी विचारधारा से सहमत न हों। लेकिन अपने नजरिये को साफ साफ जरूर कहूंगा और मुझे पूरी उम्मीद है कि वक्त आने पर मैं कांग्रेस को और मुल्क को समाजवाद की ओर मोड़ने में कामयाब भी होऊं क्योंकि मुझे आजादी हासिल करने का यही एक रास्ता नजर आता है। सामाजिक मामलों में हम लोगों की आपस में जुदा जुदा राय हो सकती है, लेकिन जो लोग आजादी में यकीन करते हैं, उन सब लोगों को आपस में एकजुट हो जाना चाहिए और यह कोई नामुमकिन बात नहीं है। कांग्रेस पहले भी एक बड़ी जमात थी। इसमें मुख्तलिफ ख्यालात के लोग शामिल थे और वे सब एक आम रिश्ते से आपस में बंधे हुए थे। ऐसा ही आगे भी होना चाहिए, भले ही लोगों के ख्यालात और ज्यादा मुख्तलिफ हों।

कांग्रेस की विचारधारा के साथ समाजवाद का तालमेल कैसे बैठता है? मैं नहीं समझता

हूं कि यह नहीं बैठता। मैं चाहता हूं कि मुल्क में उद्योगों की तेजी से तरक्की हो। मेरा ख्याल है कि इससे लोगों का जीवन स्तर सही मायने में ऊंचा होगा और गरीबी दूर की जा सकेगी। मैंने तहे दिल से खादी के कार्यक्रम में हाथ बंटाया है और आगे भी साथ देता रहूंगा। क्योंकि सभ्यता की हमारी मौजूदा अर्थव्यवस्था में खादी और ग्रामोद्योगों की खास जगह है। इनकी सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक अहमियत है। इस अहमियत की नाप-जोख करना मुश्किल है, लेकिन जिन लोगों ने इसके असर को परखा है, वे इनकी अहमियत को अच्छी तरह समझते हैं। लेकिन मैं यह नहीं मानता कि इनसे हमारी बड़ी बड़ी समस्याओं का कोई पक्का समाधान हो सकेगा, मैं संक्रांति के इस दौर में इसे एक कामचलाऊ साधन मानता हूं। यह दौर लंबा भी हो सकता है। हिंदुस्तान जैसे मुल्क में औद्योगिक विकास के बाद भी ग्रामोद्योगों की महत्वपूर्ण भूमिका बनी रह सकती है, जो हो सकता है दोयम दर्जे की हो। मैं ग्रामोद्योगों के कार्यक्रम में सहयोग जरूर देता हूं, लेकिन इनके बारे में कांग्रेस में बहुत से लोगों की विचारधारा की बनिस्बत मेरी विचारधारा में काफी फर्क है, जो औद्योगीकरण और समाजवाद के खिलाफ है।

छुआछूत और हरिजनों की समस्या को भी दूसरे तरीकों से सुलझाया जा सकता है। चूंकि समाजवाद में हर तरह के भेदभाव या सताये जाने की कार्रवाई के लिए कोई गुंजाइश नहीं है, इसलिए समाजवादी व्यक्ति के लिए यह समस्या कोई मुश्किल नहीं पैदा करती। अगर आर्थिक दृष्टि से कहें तो यह कि हरिजन लोग भूमिहीन सर्वहारा वर्ग में आते हैं और आर्थिक दृष्टि से समाधान करने से सामाजिक बाड़ टूट जाती है, जिसे रीति-रिवाजों और परंपराओं ने खड़ा कर रखा है।....

पूंजीवाद, साम्राज्यवाद और समाजवाद

हालांकि मैं समाजवाद की बहुत बातें करता हूं और किसी न किसी तरह इसे अपनी तकरीरों में जरूर ले आता हूं, लेकिन आमतौर पर इस सिद्धांत के बारीक मुद्दों की चर्चा नहीं करता। बहरहाल, मैं आपको पहले से आगाह कर दूं कि आप मुझसे यह उम्मीद न करें कि आपके सामने मैं समाजवाद पर कोई बहुत ही शास्त्रीय या वैज्ञानिक भाषण देने जा रहा हूं। मैंने सोशलिज्म को, उसके सिद्धांतों को पढ़कर समझने की कोशिश की है। मुझे अच्छा लगा और मैं धीरे धीरे उसकी ओर खिंचता गया। मुझे तब बेहद अच्छा लगा और अभी भी अच्छा लगता है। मैं नहीं कह सकता कि मैं अपने को किसी भी मानी में क्या एक कट्टर सोशलिस्ट कह सकता हूं क्योंकि सोशलिस्ट की सबसे अच्छी बात मुझे यह लगती है कि उसके बारे में किसी तरह कट्टरता हो ही नहीं सकती।

आप जानते ही हैं कि आधुनिक समाजवाद की सारी विचारधारा काफी एक नयी विचारधारा है। पुराना समाजवाद सिर्फ मानवतावाद था, न्याय और समता की, गरीबी से छुटकारा दिलाने जैसी कई और बातों के बारे में एक काल्पनिक विचारधारा थी। यह विचारधारा उतनी ही पुरानी है, जितनी कि यह दुनिया। औद्योगिक क्रांति के शुरू के दिनों में यह काफी जोर-शोर पर थी। लेकिन जिसे आधुनिक या वैज्ञानिक समाजवाद कहा जाता है वह मार्क्सवाद है। जब हम समाजवाद या सोशलिज्म की बात करते हैं, तब हकीकत में हम मार्क्सवाद की बात करते होते हैं। दरअसल में यह कुछ वैज्ञानिक पद्धति पर आधारित है, जो इतिहास को समझने, पिछली घटनाओं से उन नियमों को समझने के लिए है, जो मानव समाज के विकास को नियंत्रित करते हैं। और इन नियमों को समझ कर, इन नियमों की मदद से वर्तमान को और भविष्य को समझने के लिए है, जो चाहे कितना भी धुंधला क्यों न हो। लेकिन इस हकीकत के कि मार्क्स अपने ढंग का एक महान प्रतिभाशाली था, लाजिमी तौर पर यह माने नहीं कि उसने जो नियम निकाले हैं, बुनियादी नियम हैं और हम इन नियमों को चुनौती नहीं दे सकते। एक समाजवादी होने के नाते मुझे हर बात को चुनौती देनी चाहिए, जब तक मैं उसे समझ नहीं लूं। हमें नियम के पास उसे समझने की इच्छा से जाना चाहिए।

---

7 नवंबर, 1936 को कलकत्ता में कांग्रेस के सोशलिस्टों के सामने भाषण। 'अमृत बाजार पत्रिका' में प्रकाशित। *सेलेक्टेड वर्क्स,* वाल्यूम 7, पृ. 541-44 से संकलित

बहुत-से लोग वर्ग संघर्ष के नसले को लेकर काफी परेशान हो जाते हैं और वे यह सोचने लगते हैं कि इससे समाज के मुख्तलिफ वर्गों के बीच घृणा और शत्रुता पैदा की जा रही है। वर्ग संघर्ष की सारी अवधारणा यह है कि यह दुनिया पहले की तरह आज भी वर्ग संघर्ष पर आधारित है, कोई खास वर्ग दूसरे वर्गों पर हावी रहता है। अगर यह हकीकत है तो हमें इसे मान लेना चाहिए। अगर कोई इससे इंकार करता है तो यह अचरज की बात होगी। इस हकीकत को पहचान कर इससे छुटकारा पाने की कोशिश करना दुश्मनी और नफरत को बढ़ावा देना नहीं है। समाजवाद का मकसद वर्गों को मिटाकर और सिर्फ एक ही वर्ग रखकर वर्ग संघर्ष को खत्म कर देना है।

आज का सारा सामाजिक ढांचा हिंसा, संघर्ष, घातक प्रतियोगिता पर आधारित और उसके साथ सारी बुराइयों को पैदा करता है। आज जब लोग हमारे पास आते हैं और हमसे कहते हैं कि मौजूदा ढांचे को न छेड़ा जाये तो उन्हें यह डर होता है कि यह या वह आदमी इनके इस काम की खिलाफत करेगा। इस तरह की बातों का यह मतलब होता है कि ये लोग मौजूदा व्यवस्था को बनाये रखने के पक्ष में हैं जो हिंसा, नफरत और आपसी दुश्मनी को जन्म देती है। समाजवाद का मतलब है कि यह दुश्मनी, नफरत और हिंसा नहीं होनी चाहिए। दूसरा रास्ता यह है कि हम मौजूदा व्यवस्था के सामने घुटने टेक दें और उसे स्वीकार कर लें। मार्क्स के सारे विश्लेषण से पता चलता है कि समाज में उसके विकास के साथ साथ किस तरह का परिवर्तन आता है। मार्क्स ने यह दिखलाया कि आर्थिक तत्व ही सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण तत्व है। उत्पादन के साधनों पर नियंत्रण हो जाने से उन्हें सारे समाज पर नियंत्रण हासिल हो जाता है। इस तरह, उन दिनों, जब उत्पादन का मुख्य साधन जमीन थी तो जमींदार सबसे ज्यादा प्रभावशाली वर्ग था। सामंतवादी जमाना था, लेकिन जब पश्चिम के मुल्कों में औद्योगिक क्रांति हुई, तब जमींदार लोगों का दबदबा उठ गया। यह स्वाभाविक था। जमीन आज भी उत्पादन का महत्वपूर्ण साधन है, लेकिन अब इसके और भी साधन हो गये हैं।

पूंजीवाद आज बड़ी तेजी से खत्म होता जा रहा है। यहां सवाल धनवान होने की वजह से इस या उस पूंजीपति को कोसते फिरने का नहीं है। पूंजीपतियों या जमींदारों को अलग अलग कोसने का ताल्लुक पूंजीपतियों को हमारे समझने से नहीं है। जब हम पूंजीवाद को बुरा-भला कहते हैं, तब हम किसको बुरा बताते हैं?

पूंजीवाद अपनी इस मौजूदा शक्ल में आज से करीब सौ बरस पहले आया। इसने उत्पादन के अपने तरीकों से हैरत अंगेज काम किये। जिंदगी के रहन-सहन का स्तर ऊंचा किया और दौलत पैदा की। बदकिस्मती से हिंदुस्तान में हमें इससे बहुत कम फायदा हुआ। पूरी दुनिया पर नजर डालने से पता चलता है कि इसने दुनिया की दौलत में बेशुमार वृद्धि की। इसने दुनिया में अनाज में बेहद बढ़ोतरी की। इसने बेशक दुनिया का स्तर ऊंचा किया।

हमें यही नहीं समझना चाहिए कि पूंजीवाद हमेशा बुरा ही रहा है। इसने अपना मकसद पूरा किया, लेकिन अब यह कोई मकसद पूरा नहीं कर रहा है। पूंजीवाद की अच्छी बातों को रखना चाहिए, लेकिन इन्हें नये ढांचे में जोड़ देना चाहिए, जिससे वह समाज को नये तरीकों का फायदा दे सके। पूंजीवाद ने दौलत पैदा करने का सवाल तो हल कर दिया, लेकिन उसने इस दौलत को बांटने का काम पूरा नहीं किया। समाजवाद एक तरीका है, जिससे हमें यह समझने में मदद मिलती है कि क्या कुछ हो रहा है, एक ओर दौलत का जमाव और दूसरी तरफ बेहद गरीबी क्यों है, अंतर्राष्ट्रीय संघर्ष किसलिए है और यह नये ढंग का साम्राज्यवाद क्या है। इसका ताल्लुक साम्राज्यवाद के मौजूदा विकास, कच्चे माल की मांग और बाजारों की मांग से है। जब हम साम्राज्यवाद के खिलाफ कुछ कहते हैं, तब बहुत-से लोग यह समझते हैं कि हम इंग्लैंड के खिलाफ बात करते हैं। हमें यह समझना चाहिए कि साम्राज्यवाद इंग्लैंड, फ्रांस या दूसरे और किसी मुल्क से बहुत बड़ी और बिल्कुल जुदा चीज है। हमारे सामने इंग्लैंड का साम्राज्यवाद है, फ्रांस का साम्राज्यवाद है और जापान का साम्राज्यवाद है। दरअसल में ये सब एक ही तरह की चीजें हैं। लेकिन एक ही तरह की चीज होने के बाद ये एक-दूसरे से टकराते रहते हैं। इन्होंने शुरू में दुनिया को टुकड़ों में करने की कोशिश की। पहले इन्होंने कच्चे माल के लिए बाजार खोजने की कोशिश की और फिर एक-दूसरे से टकरा गये। पूंजीवाद बुनियादी तौर पर इस बात पर टिका है कि आपस में घरेलू संघर्ष होते रहें, बल्कि ये संघर्ष इतने बड़े पैमाने पर हों कि ये एक विश्वयुद्ध का रूप धारण कर लें, यह विश्वयुद्ध शायद उस महान सभ्यता का विनाश होने पर ही खत्म हो, जिसका निर्माण यूरोप ने कितने बरसों में किया है। स्पेन में जो कुछ हो रहा है, वह सारी दुनिया में हो सकता है। यह सब दुनिया में पूंजीवाद की मौजूदा व्यवस्था का लाजिमी नतीजा है।

जहां तक हिंदुस्तान में हम लोगों का ताल्लुक है, हम एक अजीब हालत में हैं। इस हालत की बहुत कुछ वजह यह है कि यही डेढ़ सौ या इससे कुछ ज्यादा पहले से अंग्रेज यहां आये हुए हैं। इनके आने से पश्चिम की बहुत-सी बातें यहां आयीं। लेकिन हिंदुस्तान में पूंजीवाद अभी पूरी तरह नहीं पनप पाया है। कहा जा सकता है कि यह पनपने की कोशिश कर रहा है। लेकिन पूंजीवाद खुद एक दुनिया की चीज बन चुका है। हम एक मुल्क को दूसरे मुल्क के पूंजीवाद से अलग नहीं कर सकते। इसलिए अगर अमेरिका और यूरोप में पूंजीवाद खत्म होने लगता है तो जाहिर है कि वह हिंदुस्तान में बना नहीं रह सकता। दूसरी ओर गरीबी और बेरोजगारी का बहुत बड़ा मसला है, जो बड़े पैमाने पर बड़े और छोटे उद्योगों, समाज सेवा, कृषि के विकास के साथ साथ जमीन से ताल्लुक रखने वाले कानून को बदले बिना हल नहीं हो सकता। हमें एक विशाल योजना प्रणाली की जरूरत है। यह हमें सिर्फ समाजवाद के जरिये हासिल हो सकता है। इस मुल्क में समाजवाद कैसे

आ सकता है? जाहिर है कि इस मुल्क में समाजवाद या कुछ और तब तक नहीं आ सकता, जब तक यहां ब्रिटिश साम्राज्यवाद बना रहता है। इसीलिए स्वराज का सवाल पैदा होता है, जिसका मतलब है इस मुल्क से ब्रिटिश साम्राज्यवाद को हटाना और हिंदुस्तान की आम जनता के हाथ में सरकार की बागडोर को सौंपना। ऊपरी तबके वालों के हाथों में सत्ता सौंपने से न तो समाजवाद आयेगा, न हिंदुस्तान के मसले ही हल होंगे। लिहाजा हर आदमी के लिए, बेशक सोशलिस्टों के लिए और हर किसी के लिए स्वराज की लड़ाई जरूरी हो जाती है, जो आजादी चाहते हैं। उन लोगों की बात अलग है, जो ब्रिटिश साम्राज्यवाद को बरकरार रखना चाहते हैं।

यह भी बिल्कुल सच है कि जब तक हम आजाद नहीं हो जाते, तब तक हिंदुस्तान में समाजवादी हुकूमत शुरू नहीं की जा सकती और उसके बाद भी इसमें कुछ वक्त लगेगा। हम सिर्फ कानून बनाकर किसी मुल्क को समाजवादी नहीं बना सकते। रास्ता साफ करने के लिए कानून जरूरी होते हैं। लेकिन हमें राज्य का निर्माण करना है। अगर हम समाजवाद चाहते हैं, तब हमें मानवजाति का निर्माण करना होगा। आखिरकार यह एक पूरी पीढ़ी को शिक्षित करने का सवाल है। हमारी आखिरी मंजिल अभी दूर है। हम अचानक वहां तक नहीं पहुंच सकते। लेकिन तब भी हम इस सवाल को आजादी के सवाल से अलग नहीं कर सकते।

मैं नहीं समझता कि मुल्क की आम जनता की कारगर मदद के बगैर हिंदुस्तान में हम स्वराज हासिल कर सकते हैं। स्वराज की लड़ाई में आम जनता तक पहुंचने के लिए जरूरत है कि हमारा नजरिया समाजवादी हो। एक सबसे बड़ी बात जो मुझे समाजवाद की ओर आकर्षित करती है, वह है कट्टरता से छुटकारा। मुझे यह देख दहशत होती है कि कुछ लोग जुमलों और नारों के आधार पर समाजवाद की बातें किया करते हैं। मेरा ख्याल है कि समाजवाद की अहमियत को कम करने का यह सबसे बढ़िया तरीका है। जब वह इन जुमलों का इस्तेमाल करते हैं, तब वह यह भूल जाते हैं कि ये जुमले अवाम तक कोई बात नहीं पहुंचाते। हमें हिंदुस्तान के किसानों, हिंदुस्तान के मजदूरों, हिंदुस्तान के काम करने वाले लोगों की जबान में बात कहनी चाहिए, न कि किसी ऐसी जबान में, जिसे वे बिल्कुल भी नहीं समझते हों, न ऐसे नारों में जो उनकी समझ में बिल्कुल भी नहीं आते।

कांग्रेस मंत्रिमंडल और किसानों व मजदूरों की समस्याएं

हिंदुस्तान की बुनियादी समस्याओं का सिलसिला किसानों और मजदूरों से है। इन दोनों में से सबसे खास है जमीन की समस्या। कांग्रेस मंत्रिमंडलों ने इस समस्या को हल करने के लिए कुछ काम भी शुरू कर दिया है और कुछ प्रशासनिक आदेश भी जारी किये गये हैं, जिससे लोगों की थोड़ी-बहुत मुसीबतें फिलहाल दूर हो सकें। इस छोटी-सी कार्रवाई से हमारे किसान भाइयों में खुशी और आशा की लहर दौड़ गयी है और वे बड़ी बेसब्री से इंतजार कर रहे हैं कि आगे चलकर और भी बड़े बड़े परिवर्तन होंगे। इस तरह बहिश्त के आने का बेसब्री से इंतजार करने में कुछ खतरा भी है क्योंकि बहिश्त के आने की फिलहाल तो कोई संभावना नहीं दिखती। कांग्रेसी मंत्रिमंडल हमारी मौजूदा सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था को बदलने की चाहे जितनी इच्छा करते, मगर इस वक्त वे ऐसा करने में असमर्थ हैं। उन पर सैकड़ों तरीके से बंदिशें और रुकावटें लगी हुई हैं, जिनकी वजह से उन्हें तंग दायरे में काम करना पड़ता है। इस नये विधान का हमने जो विरोध किया, उसकी एक खास वजह यकीनन यही थी और है भी। इसलिए हमें चाहिए कि हम जनता को धोखे में न रखें और यह बता दें कि मौजूदा हालत में हम क्या कर सकते हैं और क्या नहीं कर सकते। हम कुछ ज्यादा कर सकने की स्थिति में नहीं हैं, इसीलिए हमारी दलील है कि बुनियादी परिवर्तन होना चाहिए। हमें असली ताकत बुनियादी परिवर्तन होने पर मिलेगी।

लेकिन तब तक लोगों को राहत दिलाने के लिए जो कुछ कर सकते हैं, वह हमें करते रहना होगा। हमें इस काम को पूरे जोश से करना है। हमें मतलब परस्त लोगों से और उन लोगों से, जो हमें दिक्कतें पेश करते हैं, डरकर नहीं रहना है। कांग्रेस मंत्रिमंडलों की असली कामयाबी का अंदाजा तो इससे लगेगा कि ये मंत्रिमंडल काश्तकारी के मौजूदा कानूनों में कितना रद्दोबदल करते हैं और इस रद्दोबदल से वे किसानों को कितनी राहत दिला पाते हैं। कानूनों में परिवर्तन तो विधान सभाओं के जरिये लाया जायेगा, लेकिन इस परिवर्तन की अहमियत तब और भी बढ़ जायेगी जब विधान सभाओं को कांग्रेसी सदस्य अपने अपने इलाकों में लोगों के साथ निकट संपर्क रखेंगे और किसानों के अपनी नीति के बारे में तफसील

'दि लीडर' में 4-6 सितंबर, 1937 को प्रकाशित 'दि राइट पर्सपेक्टिव' शीर्षक लेख से। *सेलेक्टेड वर्क्स,* वाल्यूम 8, पृ. 314-17 से। प्रांतीय लेजिस्लेटिव एसेंबलियों के लिए चुनाव के बाद कांग्रेस ने जुलाई, 1937 में छह प्रांतों में अपनी सरकार गठित की थी

से बताते रहेंगे।

विधान सभाओं की कांग्रेस पार्टियों को कांग्रेस की कमेटियों और आम जनता के प्रतिनिधियों से भी संपर्क रखना चाहिए। इस तरह सबसे मिल-जुलकर और बातचीत कर उन्हें जनता का दिल से सहयोग मिलेगा और उन्हें हालात की असलियतों की जानकारी भी हो सकेगी। इसी तरह जनता को भी लोकतांत्रिक प्रणाली को सीखने और उसमें अपने को ढालने का मौका मिलेगा।

भूमि संबंधी कानूनों में तब्दीली करने से हमारे किसानों को राहत मिलेगी, लेकिन हमारा लक्ष्य तो इससे बड़ा है और इसके लिए पहला काम है कि किसानों को सुसंगठित किया जाये। किसान सिर्फ अपनी ताकत से प्रगति कर सकते हैं और उन रुकावटों का मुकाबला कर सकते हैं, जो स्वार्थी तत्वों ने उनके रास्ते में पैदा की हैं। कमजोर किसानों को ऊपर से दी गयी सौगात बाद में छिन सकती है और अच्छे से अच्छा कानून भी बेकार रहेगा क्योंकि वह अमल में नहीं लाया जा सकता। इसलिए गांवों में कांग्रेस कमेटियों में किसानों को अच्छी तरह संगठित करना बहुत जरूरी है।

जहां तक कल-कारखानों में काम करने वाले मजदूरों का सवाल है, कांग्रेस ने अभी तक कोई ब्यौरेवार कार्यक्रम नहीं तैयार किया है। इसकी वजह यह है कि मुल्क में किसानों की समस्या एक सबसे अहम समस्या बनी हुई है। फिर भी, कराची कांग्रेस के प्रस्ताव और चुनाव घोषणापत्र में कुछ अहम सिद्धांत तय कर दिये गये हैं। यूनियन बनाने और हड़ताल करने के बारे में मजदूरों के अधिकार को माना गया है। साथ ही निर्वाह योग्य मजदूरी-वेतन के सिद्धांत का अनुमोदन किया गया है। कल-कारखानों के मजदूरों के बारे में बंबई सरकार ने जो पालिसी हाल में बनायी, उससे कार्यसमिति आमतौर पर रजामंद है। लेकिन यह पालिसी कोई आखिरी पालिसी नहीं है और न ही एक आदर्श पालिसी है। लेकिन मौजूदा हालात में और कम से कम वक्त में जो कुछ कोशिश हो सकती है या किया जा सकता है, यह उसकी नुमाइंदगी करती है। अगर इसे अमल में लाया गया तो मुझे कोई शक नहीं है कि इससे मजदूरों को राहत मिलेगी और जो इससे ज्यादा अहम बात है, वह यह कि इससे मजदूरों को संगठित होने में मदद मिलेगी। इस प्रोग्राम और पालिसी का असली मकसद मजदूर संगठनों को ताकतवर बनाना है। बंबई सरकार ने मजदूरों के बारे में अपनी पालिसी के घोषणा पत्र में कहा है, "उसे पूरा यकीन है कि कोई भी कानून मजदूरों की संगठित ताकत की बराबरी नहीं कर सकता और जब तक मजदूरों के संगठन असली ट्रेड यूनियनों की तरह काम नहीं करने लगते और रोजगार के मुख्तलिफ क्षेत्रों में नहीं फैल जाते हैं, तब तक कोई भी स्थायी लाभ नहीं हो सकता। इसलिए सरकार इस तरह के संगठनों के विकास में जो असली रुकावटें हैं, उन्हें दूर करना और रोजगार संबंधी सभी मामलों में मालिक और मजदूरों के बीच संगठन के स्तर पर बातचीत को प्रोत्साहन देना चाहती है। वह मजदूरों

को उनके अपने अपने संगठन के साथ संबंध रखने और ट्रेड यूनियन संबंधी कानूनी गतिविधियों में हिस्सा लेने पर सताने की कार्रवाइयों को रोकने के लिए उपाय करेगी।"

बंबई सरकार मालिक और मजदूरों के बीच झगड़ों के बारे में एक कानून बनाना चाहती है, जिससे वेतन या नौकरी की शर्तों में कोई ऐसी तब्दीली, जो मजदूरों के खिलाफ पड़ती हो, तब तक नहीं की जा सके जब तक कि उन्हें इसके बारे में सभी आंकड़ों वगैरह की जांच कराने और झगड़े को शांतिपूर्ण तरीके से निपटाने क। पूरा पूरा मौका और वक्त न मिल चुका हो, चाहे वह स्वेच्छापूर्वक आपसी बातचीत, सलाह-मशविरे या पंचाट के जरिये हो या अदालतों द्वारा किया जाये। इसी तरह की बंदिश कर्मचारियों पर भी उनकी अपनी मांगों के बारे में लागू होगी। इसका मतलब यह है कि आंदोलन की शक्ल बनने के पहले आपसी बातचीत और पंचाट के जरिये झगड़े को सुलझाने का मौका जरूर रहना चाहिए। इसका यह मतलब नहीं है कि हर झगड़े के फैसले के लिए पंचाट का होना जरूरी है, जिसका फैसला दोनों पार्टियों पर लागू हो चाहे वे उसे मानें या न मानें।

मजदूर वर्ग ने पंचाट की बंदिश की हमेशा खिलाफत की है क्योंकि इससे हड़ताल करने का उनका अधिकार छिन जाता है, जो उनका सबसे बड़ा हथियार है। हमारा मजदूर इस बात से डरता है कि पूंजीवादी देशों में इस तरह की बंदिश होने पर सरकार मालिकों की ही तरफदार रहेगी और इस बंदिश में उनके हाथ बंध जायेंगे। वह अपने अधिकार का इस्तेमाल नहीं कर सकेगा, जो संघर्ष के बाद हासिल हो सकता है। मौजूदा प्रस्ताव में इस तरह के आदेशों की कोई बात नहीं है क्योंकि यह पालिसी जो मजदूरों को हड़ताल करने का हक दिलाने की रही है, कांग्रेस की पालिसी के खिलाफ है। इस प्रस्ताव में हड़ताल करने के अधिकार को बरकरार रखा गया है और साथ ही एक दौर का भी बंदोबस्त किया गया है, जिससे झगड़े को सुलझाने का रास्ता निकल सके। मुझे यकीन है कि यह पालिसी सभी लोगों और खासतौर पर मजदूरों के लिए ही फायदेमंद रहेगी। हमारा मजदूर वर्ग कमजोर और असंगठित है। वह अपने हक के लिए डटकर कुछ नहीं कर सकता। बार बार छुटपुट हड़ताल करने से हमारी नाकामयाबी जाहिर होती है। इसमें कोई शक नहीं कि मजदूर आंदोलन को नाकामयाब हड़तालों से कभी कभी ताकत मिलती है, लेकिन इसका उल्टा असर होता है। इस वक्त हमारा मजदूर आंदोलन जिस हालत में है, उससे यह बात साफ जाहिर होती है। बरसों से हमारा मजदूर वर्ग अपने वेतन में कटौती के खिलाफ लगातार आंदोलन कर रहा है, लेकिन वह उसे रुकवाने में आमतौर पर नाकामयाब ही रहा है। अगर कोई ऐसा कानून होता, जैसा कि बंबई सरकार बनाने की सोच रही है, तो मजदूरी में कटौती करना आसान नहीं होता क्योंकि तब श्रमिक मालिकों के साथ बराबरी के दर्जे पर बात करने की स्थिति में होता और शायद जनता की राय भी उसी के हक में होती।

हड़ताल मजदूरों का एक जबरदस्त हथियार है, बल्कि यह कहना चाहिए कि यही एक असली हथियार है। इसे संभालकर और संजोकर रखना चाहिए। जरूरत पड़ने पर इसका संगठित होकर और अनुशासन के साथ कारगर तरीके से इस्तेमाल करना चाहिए। इसका जब तब और बिना बात इस्तेमाल इसे भोथरा कर देता है और मजदूर आंदोलन को ही कमजोर कर देता है। हड़ताल के पीछे मजबूत संगठन और जनमत होना चाहिए। अगर बार बार आंशिक तौर पर और छुटपुट तरीके से हड़तालें होती रहीं और नाकामयाब रहीं तो हमारा यह संगठन कभी भी पनप नहीं सकता।

इसलिए मजदूर वर्ग की पहली जरूरत यह है कि एक संगठन हो। जो लोग मजदूर वर्ग की भलाई चाहते हैं, उनको चाहिए कि वे मजबूत ट्रेड यूनियनें बनाने में मदद करें। उन्हें यह याद रखना चाहिए कि हिंसा हर शक्ल में, चाहे हड़ताल चल रही हो या नहीं, मजदूर वर्ग के हित में नहीं है। इससे सरकार विरोधी हो जाती है। यह सरकारों को और भी ज्यादा हिंसापूर्ण कार्रवाई के लिए आमादा कर देती है। यह मजदूर वर्ग को असंगठित कर देती है और जनमत नाखुश हो जाता है। यह हिंदुस्तान में कभी कभी सांप्रदायिक दंगों की शक्ल ले लेती है और सारा ध्यान मजदूरों की मांगों से हटकर और बातों की ओर चला जाता है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि मजदूर आंदोलन कभी भी सांप्रदायिक नहीं हो सकता और न वह सांप्रदायिकता को बढ़ावा ही दे सकता है।

नेशनल प्लानिंग कमेटी

कांग्रेस के सुझाव पर एक नेशनल प्लानिंग कमेटी सन 1938 के आखिरी दिनों में बनी। उसमें पंद्रह मेंबर थे। इसके अलावा इसमें सूबों की सरकारों और उन देशी रियासतों के नुमाइंदे भी थे, जिन्होंने हमारे साथ सहयोग करना पसंद किया था। इन मेंबरों में जाने-पहचाने उद्योगपति, पूंजीपति, अर्थशास्त्री, प्रोफेसर, वैज्ञानिक और ट्रेड यूनियन कांग्रेस और ग्रामोद्योग संघ के नुमाइंदे भी, सूबों की सरकारें (जैसे बंगाल, पंजाब और सिंध) और कुछ बड़ी बड़ी रियासतें (जैसे हैदराबाद, मैसूर, बड़ौदा, त्रावणकोर, भोपाल) इस कमेटी के साथ थीं। यह कमेटी एक तरह से राजनैतिक और सरकारी और गैर सरकारी लोगों के फर्क के बावजूद सभी लोगों के नुमाइंदों का अजीब-सा मेल थी, सिवाय इसके कि हिंदुस्तान की सरकार का इसमें कोई नुमाइंदा शामिल नहीं हुआ और उसका रुख असहयोग का था। इसमें बड़े बड़े व्यापारी भी थे, जिन्हें आदर्शवादी और सिद्धांतवादी कहा जाता है, समाजवादी भी थे और वे लोग भी, जो आमतौर पर कम्युनिस्ट होते हैं। इसमें सूबों की सरकारों और रियासतों से उनके विशेषज्ञ और उद्योग महकमे के डायरेक्टर शामिल हुए।

यह जुदा जुदा तरह के लोगों का एक अनोखा जमाव था और समझ में नहीं आता था कि यह बेमेल मेंबरों की कमेटी किस तरह काम कर पायेगी। मैंने इस कमेटी का अध्यक्ष बनना मंजूर तो किया, लेकिन मुझे कुछ झिझक थी और कुछ शक भी था। लेकिन यह काम मेरे मन का था और मैं इसलिए उससे अलग नहीं रह सका।

हर कदम पर हमारे सामने मुश्किलें आतीं। सच्ची और कारगर योजना बनाने के लिए काफी मसाला नहीं था और कुछ थोड़ी-सी बातों के बारे में आंकड़े मिल रहे थे। यहां तक कि सूबों की सरकारों की, जिनका रुख दोस्ती और सहयोग देने का था, अखिल भारतीय आधार पर योजना बनाने के बारे में कोई खास दिलचस्पी नहीं थी और उन्होंने हमारे काम में दूर से ही दिलचस्पी ली। ये सरकारें अपनी ही समस्याओं और परेशानियों में उलझी हुई थीं। जिस कांग्रेस की देखरेख में यह कमेटी बनी थी, उसी के खास खास लोग इसे एक अवचारी संतान की तरह मानते, जिसके बारे में यह न पता हो कि यह किस तरह पलेगा और इसकी भविष्य की गतिविधि के बारे में अक्सर शक था। बड़े बड़े व्यवसायी

दि डिस्कवरी आफ इंडिया, पृष्ठ 418-24, 426-27 से। कांग्रेस शासन के प्रांतों के उद्योग मंत्रियों की एक बैठक में जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में राष्ट्रीय योजना कमेटी बनाने का निर्णय लिया गया

तो पक्की तौर से शंकित थे और इसकी आलोचना किया करते। वे हमारे साथ शायद इसलिए थे कि उन्होंने यह महसूस किया कि वे लोग देखभाल इस कमेटी से बाहर रहने के मुकाबले इसके अंदर रहकर अच्छी तरह कर सकते हैं।

यह बात जाहिर थी कि कोई भी बड़ी योजना एक ऐसी राष्ट्रीय सरकार के तहत ही बन सकती है, जो आजाद हो और जो मजबूत और लोकप्रिय हो, जिससे वह सामाजिक और आर्थिक ढांचे में बुनियादी तब्दीली ला सके। इस तरह योजना तैयार करने के सिलसिले में पहली बुनियादी शर्त यह थी कि कौम की आजादी हासिल की जाये और विदेशी नियंत्रण से छुटकारा पाया जाये। कई और रुकावटें भी थीं, जैसे हमारा सामाजिक पिछड़ापन, रीति रिवाज, रूढ़िवादी नजरिया, जिनका हर हालत में सामना तो करना ही था। इस तरह यह योजना वर्तमान के लिए उतनी नहीं थी, जितनी कि आगे आने वाले दिनों के भविष्य के लिए, जिनके बारे में कुछ भी पता नहीं था। इस बारे में लोगों का ख्याल था कि यह अनुमान पर आधारित रहेगी, वास्तविक तथ्यों पर नहीं। लेकिन तो भी इसे मौजूदा हालत के आधार पर तैयार करना था और हमें उम्मीद थी कि यह भविष्य अब ज्यादा दूर नहीं है। अगर हम उपलब्ध सामग्री को इकट्ठा कर लें और उसे तरतीब से तैयार कर लें, मोटी रूपरेखा बना लें, तब हम भविष्य के लिए एक असली और कारगर योजना तैयार करने के लिए आधार बना देंगे। इसी बीच हम सूबों की सरकारों और रियासतों को वह दिशा बता दें जिस पर उन्हें आगे काम करना और अपने अपने संसाधनों का विकास करना चाहिए। योजना तैयार करना और मुख्तलिफ कौमी, आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक कार्यक्रमों का एक-दूसरे के साथ जोड़ मिलाने का काम हमारे और आम जनता के लिए बहुत ही शिक्षाप्रद काम था। इस वजह से लोग अपने अपने विचारों और कामों के तंग दायरों से बाहर आये और उन्होंने समस्याओं से परे उनको एक दूसरे के संदर्भ में रखकर योजना शुरू की और कुछ हद तक कम से कम उनका नजरिया चौड़ा और सहयोगपूर्ण हो गया।

प्लानिंग कमेटी बनाने का मकसद मुल्क में नये नये उद्योग खोलना व उनको बढ़ावा देना था—'गरीबी और बेरोजगारी, राष्ट्रीय सुरक्षा और आर्थिक पुनरुद्धार के मसले', कुल मिलाकर उद्योगीकरण के बगैर नहीं हल हो सकते। इस तरह का उद्योगीकरण करने के पहले, राष्ट्रीय योजना की एक व्यापक स्कीम तैयार की जानी चाहिए। इस स्कीम में बड़े बड़े बुनियादी उद्योगों, मझोले उद्योगों और कुटीर उद्योगों के विकास के लिए प्रबंध किया जाना चाहिए..लेकिन कोई भी योजना खेती की अनदेखी नहीं कर सकती, जो जनता का सहारा है, इस तरह सामाजिक सेवाएं भी महत्वपूर्ण थीं। इस तरह एक चीज दूसरी चीज से जुड़ी हुई थी और किसी एक चीज को या एक दिशा में की जाने वाली प्रगति को दूसरी दिशा में उतनी ही प्रगति की योजना बनाये अलग-थलग रखना मुमकिन नहीं था। योजना बनाने के काम पर हमने जितना ज़्यादा सोचा-विचारा, उतना ही उसका दायरा बढ़ता गया

और ऐसा लगने लगा कि यह करीब करीब हमारे हर काम की जैसे बुनियाद है। इसका यह मतलब नहीं कि हम हर चीज का नियंत्रण या उसका संचालन करना चाहते थे, लेकिन यह बात सही है कि योजना के किसी एक हिस्से के बारे में फैसला करने के पहले हमको हर एक चीज का ख्याल रखना पड़ता था। मेरे लिए इस काम का आकर्षण बढ़ता गया और मेरा ख्याल है कि हमारी कमेटी के बाकी और मेंबरों के साथ भी यही बात थी। लेकिन इसके साथ ही एक तरह की अस्पष्टता और अनिश्चितता भी आयी; योजना के कुछ बड़े पहलुओं पर ध्यान केंद्रित करने के बजाय हम इधर-उधर की बातों में बहकने लगे। इस वजह से भी हमारी कई छोटी छोटी कमेटियों में काम में देरी हुई और इन कमेटियों में अपने अपने काम को उतने वक्त में, जितना कि तय किया गया था, जल्दी पूरा करने की चाहत नहीं थी।

जिस तरह हमारी कमेटी बनी, उसके लिहाज से किसी बुनियादी सामाजिक नीति या सामाजिक संगठन के बुनियादी सिद्धांतों पर हम सबके लिए एक राय का हो जाना आसान नहीं था। इन उसूलों पर गहराई से विचार करने का नतीजा यह होता कि शुरू से ही हम सब में मतभेद हो जाते और शायद कमेटी टूट-फूट जाती। पहले से किसी निर्देशक नीति का न होना भी एक बहुत बड़ी दिक्कत थी, लेकिन इसके लिए कोई चारा नहीं था। हमने योजना के आम मसले पर और हर समस्या पर ख्याली तौर पर न सोच कर अमली तौर पर सोचना तय किया और इस विचार-विमर्श से सिद्धांतों को अपने आप पनपने के लिए छोड़ दिया। मोटे तौर पर समस्या को हल करने के लिए दो रास्ते थे : पहला समाजवादी ढंग था, जिसके मुताबिक मुनाफे की भावना को मिटा देना और समान वितरण के महत्व पर जोर देना और दूसरे, बड़े बड़े व्यवसायी घरानों को व्यापार करने की खुली छूट देना और उन्हें जितना मुमकिन हो सके उतना मुनाफा कमाने देना और उत्पादन पर जोर देना था। उन लोगों में भी मतभेद था, जो बड़े बड़े उद्योगों की तेजी से तरक्की चाहते थे और दूसरे वे, जो यह चाहते थे कि ग्रामीण उद्योग और कुटीर उद्योगों की तरक्की पर ज्यादा ध्यान दिये जाने पर ज्यादा से ज्यादा ध्यान दिया जाये, जिससे बहुत बड़ी तादाद में बेकार और आधे काम पर लगे लोगों को पूरा काम मिल जाये। आगे चलकर आखिर में होने वाले फैसलों में फर्क होना लाजिमी था और अगर इस कमेटी की दो या ज्यादा रिपोर्टें भी होतीं तो भी कोई फर्क नहीं पड़ता, बशर्ते उपलब्ध आंकड़ों को एक तरफ इकट्ठा कर उन्हें तरतीब से लगा दिया जाता, तब वह सभी बातें एक तरफ आ जातीं जिन पर एक राय थी और बाकी मुद्दों को अलग जता दिया जाता जिन पर आपस में मतभेद थे। जब योजना को अमल में लाने का वक्त आता, तब जो भी लोकतंत्री सरकार होती वह अपनी बुनियादी नीति का चुनाव कर लेती...।

जाहिर है कि निश्चित मकसद या सामाजिक उद्देश्य के बिना हम किसी भी मसले

पर गौर नहीं कर सकते, चाहे वह कैसी भी योजना ही क्यों न हो। जिस मकसद का ऐलान किया गया, वह यह था कि जनता के रहन-सहन का एक उचित मापदंड होना चाहिए यानी जनता को भयंकर गरीबी से छुटकारा दिलाया जाये...।

कुल मिलाकर मुल्क के सामने जो लक्ष्य था, वह यह था कि जहां तक मुमकिन हो, राष्ट्र आत्मनिर्भर बने। अंतर्राष्ट्रीय व्यापार को अलग नहीं किया गया, लेकिन हम चाहते थे कि हम आर्थिक साम्राज्यवाद की भंवर से बच कर रहें। हम न तो किसी भी साम्राज्यवादी ताकत का शिकार होना चाहते थे और न हम ऐसी प्रवृत्तियों को अपने मुल्क के अंदर बढ़ावा देना चाहते थे। मुल्क की उपज से पहला काम भोजन, कच्चा और तैयार माल के बारे में घरेलू जरूरतों को पूरा करना होगा। जरूरत से ज्यादा पैदावार को विदेशों में बाजार कीमतों को गिराने के लिए नहीं झोंका जायेगा, बल्कि उनका इस्तेमाल दूसरे मुल्कों से उन चीजों के एवज में दूसरी चीजों का आयात करने के लिए होगा, जिनकी हमको जरूरत है। अपनी कौमी अर्थव्यवस्था को निर्यात बाजार पर आधारित कर देने से दूसरे मुल्कों के साथ हमारे झगड़े हो सकते हैं और उन बाजारों के हमारे लिए बंद होने से हमारी अर्थव्यवस्था चकनाचूर हो सकती है।

हालांकि हमने योजना तैयार करने का काम किसी सुनिश्चित सामाजिक सिद्धांत के आधार पर नहीं शुरू किया था, फिर भी हमारे सामाजिक उद्धेश्य बहुत कुछ साथ थे और योजना तैयार करने के लिए उनमें कुछ बुनियादी आधार मिल सकता था। इस योजना का मूल मंत्र बड़े पैमाने पर नियंत्रण और समन्वय रखना था। इस तरह मुक्त उद्योग के लिए मनाही नहीं थी, वहीं साथ ही उसका दायरा खासतौर से सीमित कर दिया गया था। सैनिक सामान संबंधी उद्योगों के बारे में यह तय किया गया कि सरकार उनकी मालिक हो और वही उनका नियंत्रण करे। दूसरे बुनियादी उद्योगों के सिलसिले में अधिकांश की यह राय थी कि सरकार उनकी मालिक रहे, लेकिन कमेटी के एक काफी बड़े अल्पमत की यह राय थी कि सरकार का उन पर नियंत्रण होना ही काफी होगा। यह जरूरी समझा गया कि यह नियंत्रण सख्त होना चाहिए। यह भी तय किया गया कि सार्वजनिक उपयोग वाली सेवाओं पर राज्य की प्रतीक किसी न किसी सरकार—केंद्रीय सरकार, प्रांतीय सरकार या स्थानीय बोर्ड को उसका मालिक होना चाहिए। यह सुझाव दिया गया कि सार्वजनिक सेवाओं पर नियंत्रण के लिए लंदन ट्रांसपोर्ट बोर्ड जैसी कोई न कोई व्यवस्था होनी चाहिए। दूसरे, और बड़े बड़े खास खास उद्योग-धंधों के बारे में कोई खास नियम नहीं बनाया गया, लेकिन यह बात साफ कर दी गयी कि योजना तैयार करने का वैसे तो मकसद यह है कि कुछ न कुछ नियंत्रण अवश्य रखा जाना चाहिए और जो अलग अलग उद्योगों पर अलग अलग मात्रा में हो सकता है।

जमीन के बारे में नीति निर्धारित करने के लिए आम उसूल तय कर दिये गये—"खेती

की जमीन, खानें, नदियां और जंगल राष्ट्र की संपत्ति हैं, जिस पर हिंदुस्तान की आम जनता का सामूहिक रूप से पूरा पूरा कब्जा होना चाहिए।" खेती की जमीन का इस्तेमाल करने के लिए सहकारिता का सिद्धांत अपनाया जाना चाहिए और सामूहिक और सहकारी खेती शुरू की जानी चाहिए। लेकिन शुरू में कम से कम ऐसा प्रस्ताव नहीं किया गया था, जिसके मुताबिक किसानों को छोटी छोटी जोत पर अकेले ही खेती करने की मनाही हो, लेकिन यह बात साफ थी कि ताल्लुकेदार या जमींदार जैसे किसी भी ढंग के बिचौलियों को तब्दीली की अवधि के बाद बने रहने की कोई भी मंजूरी नहीं होनी चाहिए। इस जमात के पास जो हक और खिताब हैं, उन्हें धीरे धीरे खत्म कर देना चाहिए। खेती के काबिल बेकार पड़ी जमीन पर सरकार की तरफ से सामूहिक कृषि तो फौरन शुरू होनी थी। सहकारी खेती व्यक्तिगत रूप से या संयुक्त मिल्कियत से शुरू हो सकती है। अलग अलग किस्म की व्यवस्था को पनपने के लिए कुछ गुंजाइश छोड़ दी गयी थी, ताकि और ज्यादा तजुर्बा हासिल कर कुछ खास किस्म की व्यवस्था को दूसरों के मुकाबले ज्यादा बढ़ावा दिया जा सके।

हमारी जैसी स्थिति थी, उमसें सिर्फ अपनी कमेटी में ही नहीं, बल्कि हिंदुस्तान के और बड़े बड़े क्षेत्रों में हम उस वक्त विशुद्ध समाजवादी योजना नहीं बना सकते थे। लेकिन मुझे यह बात साफ मालूम पड़ने लगी कि जैसे जैसे हमारी योजना का क्षेत्र बढ़ता जा रहा है, वैसे वैसे वह हमें समाजवादी दिशा की ओर ले जा रही है और हम उसकी कुछ न कुछ बुनियाद डालते जा रहे हैं। यह समाज में मिल्कियत की प्रवृत्ति को कम कर रही है, तरक्की के रास्ते में आने वाली रुकावटों को दूर कर रही है और इस तरह ऐसे सामाजिक ढांचे की ओर ले जा रही है, जिसमें तेजी से विकसित होने के गुण मौजूद हैं। इसकी बुनियाद जनसाधारण के हित के लिए कार्यक्रम बनाना है, जिससे उसका स्तर ऊंचा उठ सके, उसे तरक्की के लिए ज्यादा से ज्यादा मौके मिल सकें और जो प्रतिभा और क्षमता दबी पड़ी है, उसका अधिक से अधिक विकास हो सके। और इस सबकी कोशिश लोकतंत्र वाली आजादी के संदर्भ में करनी थी, जिसमें बहुत हद तक कम से कम ऐसे वर्ग के लोगों का भी जो आमतौर पर समाजवादी सिद्धांतों के खिलाफ थे। हालांकि इस साथ की वजह से योजना के लक्ष्यों में कुछ कमी आने या कुछ मामलों में योजना के कमजोर पड़ने की गुंजाइश थी, लेकिन तो भी यह साथ उपयोगी जंचा। शायद मैं जरूरत से ज्यादा आशावादी था। लेकिन मैंने कुछ ऐसा महसूस किया कि जब जब हम सही रास्ते पर कोई बड़ा काम करेंगे, तब तब इस बदलाव में जो ताकत होती है, उसकी वजह से यह खुद-ब-खुद ढलता जायेगा और हम आगे तरक्की करते जायेंगे। अगर टकराव होना लाजिमी है, तब उसका सामना किया जाना चाहिए, लेकिन अगर इससे बचा जा सकता या इसे कम से कम होने दिया जाये, तब यह यकीनन एक बहुत बड़ी सफलता होगी। खासतौर से यह इसलिए कि

राजनैतिक क्षेत्र में हमारे लिए वैसे ही बहुत से झगड़े थे और भविष्य में स्थिति काफी डावांडोल हो सकती थी। इस तरह योजना के लिए आम रजामंदी का होना एक बहुत बड़ी बात थी। किसी आदर्श पर योजना का खाका बनाना आसान था, लेकिन उसे काफी हद तक कारगर बनाने के लिए जो आम रजामंदी और मंजूरी की जरूरत थी, वह कहीं ज्यादा मुश्किल चीज थी...।

कभी कभी इतनी देर होती कि झुंझलाहट होती। इसकी खास वजह यह थी कि कुछ एक कमेटियां उस वक्त की पाबंदी नहीं करती थीं, जो उन्हें दिया जाता था, लेकिन कुल मिलाकर हमने काफी तरक्की कर ली थी और बहुत कुछ काम पूरा कर लिया। शिक्षा के मामले में दो दिलचस्प फैसले लिये गये। हमने यह सुझाव दिया कि शिक्षा के हर स्तर पर लड़के और लड़कियों के लिए शारीरिक स्वास्थ्य के मापदंड जरूर तय होने चाहिए, जिससे सबकी तंदुरुस्ती कम से कम उतनी तो हो। साथ ही हमने यह भी सुझाव दिया कि अठारह और बाइस बरस की उम्र के बीच हर नौजवान लड़के या लड़की को राष्ट्रीय उपयोग वाले क्षेत्र में जैसे खेती, उद्योग, सार्वजनिक सेवा और सार्वजनिक निर्माण आदि क्षेत्रों में सामाजिक या श्रमिक सेवा करनी लाजिमी हो। यह सभी के लिए लाजिमी होना चाहिए और इससे छूट सिर्फ उन्हीं को मिलनी चाहिए, जो शारीरिक या मानसिक रूप से इन सेवाओं को करने के अयोग्य हों।

जब सितंबर, 1939 में दूसरा विश्व महायुद्ध शुरू हुआ, तब यह राय हुई कि नेशनल प्लानिंग कमेटी को अपना काम फिलहाल रोक देना चाहिए। नवंबर में सूबों में कांग्रेसी सरकारों ने इस्तीफा दे दिया और हमारी मुश्किलें बढ़ गयीं क्योंकि इन सूबों में गवर्नरों के सर्वेसर्वा हो जाने पर हमारे काम में कोई दिलचस्पी नहीं ली गयी। व्यवसायी लोग लड़ाई की चीजों से रुपया बनाने में उससे भी ज्यादा जुट गये, जितना कि वे पहले थे और अब उनकी दिलचस्पी योजना बनाने में नहीं रही। हालत दिन-ब-दिन बदल रही थी। जो भी हो, हमने अपना काम जारी रखना तय किया और ऐसा महसूस किया कि लड़ाई के लिहाज से तो यह और भी जरूरी है। लड़ाई की वजह से औद्योगीकरण जरूर बढ़ता और जो काम हम कर चुके थे या कर रहे थे, उससे इस काम में बहुत मदद मिल सकती थी। उस वक्त हम इंजीनियरिंग उद्योग, यातायात, रासायनिक उद्योग आदि से ताल्लुक रखने वाली सब कमेटियों की रिपोर्टों पर विचार कर रहे थे और इन सबकी लड़ाई के लिए सबसे ज्यादा अहमियत थी। लेकिन सरकार को हमारे काम में दिलचस्पी नहीं थी, बल्कि असल में वह तो इसके बहुत खिलाफ थी...।

प्लानिंग कमेटी ने अपना काम जारी रखा और सब कमेटियों की रिपोर्टों पर विचार करने का काम उसने करीब करीब पूरा कर लिया। जो कुछ काम बच रहा था, उसे हमें पूरा करना था और फिर अपनी विस्तृत रिपोर्ट पर विचार करना शुरू करना था। लेकिन

अक्तूबर, 1940 में मुझे गिरफ्तार कर लिया गया और एक लंबी मियाद के लिए जेल की सजा दी गयी। प्लानिंग कमेटी और उसकी सब कमेटियों के बहुत से और मेंबरों को भी गिरफ्तार कर लिया गया और उन्हें सजा दी गयी। मुझे इस बात की फिक्र थी कि प्लानिंग कमेटी अपना काम जारी रखे और अपने उन साथियों से, जो जेलों के बाहर थे, काम को जारी रखने के लिए कहा। लेकिन हमारी नामौजूदगी में ये लोग कमेटी में रहने और काम करने के लिए तैयार नहीं थे। मैंने इस बात की कोशिश की कि प्लानिंग कमेटी के कागजात और उसकी रिपोर्ट मुझे जेल में मिल जाये ताकि मैं उनको पढ़कर विस्तृत रिपोर्ट का मसौदा तैयार कर सकूं। हिंदुस्तान की सरकार ने दखल की और रोक दिया। यह कागजात न तो मुझ तक पहुंचने दिये गये और न इस सिलसिले में किसी मुलाकत की इजाजत दी गयी...।

आजाद हिंदुस्तान के लिए योजना की आवश्यकता

हम लोगों से हिंदुस्तान के लिए एक नेशनल प्लान बनाने या इसके लिए कम से कम मोटी मोटी रूपरेखा निश्चित करने के लिए कहा गया है, जिसका ब्यौरा समय समय पर लिया जाया करेगा। राष्ट्रीय विकास की इस योजना में संभवतया सारे देश के मौलिक और सांस्कृतिक सभी पहलुओं को शामिल किया जायेगा, इसलिए इस तरह की योजना के लिए सिद्धांत तय करने के पहले हमें अपने लक्ष्य और उन बुनियादी बातों के बारे में स्पष्ट धारणा बना लेनी चाहिए जिनसे यह योजना नियंत्रित होगी। यह स्पष्ट-सी बात है कि जब तक योजना बनाने वाली संस्था या वे जिनके प्रति वह उत्तरदायी है, योजना को अमल में लाने की स्थिति में नहीं हैं, तब तक एक व्यापक राष्ट्रीय योजना तैयार करने का काम सिर्फ बौद्धिक व्यायाम बन कर रह जाता है और उसका वास्तविकता से कोई सरोकार नहीं रहता। अगर यह संस्था अधिकारहीन या सीमाबद्ध अथवा प्रतिबंधित होती है और उसके क्रियाकलाप सीमित होते हैं, तब वह योजना नहीं बना सकता।

इसका मतलब यह हुआ कि जो निकाय राष्ट्रीय विकास योजना बनाती है, उसे अपनी बनायी योजना को कार्यान्वित करने का पूरा अधिकार होना चाहिए। इस तरह योजना तैयार करने के लिए पहली जरूरत यह है कि मुल्क की मुकम्मिल आजादी प्राप्त हो और विदेशी नियंत्रण खत्म हो। इसका मतलब यह है कि मुल्क को ऐसी हर हालत की कार्रवाई करने, ऐसी नीति बनाने या दूसरे मुल्कों के साथ ऐसे संबंध बनाने का सर्वोच्च अधिकार खुद प्राप्त है, जो उसकी प्रशासन सत्ता को मुल्क और यहां के लोगों के हित में सबसे अच्छा जान पड़े।

यह मुमकिन है कि आजाद और बराबरी वाले राष्ट्रों का विश्व संघ बनते समय उसके सदस्य देश विश्व योजना और विश्व सहयोग के हित में अपने इस सर्वोच्च अधिकार को स्वेच्छापूर्वक किसी हद तक सीमित कर दें, लेकिन इससे राष्ट्रीय योजना के निर्माण में कोई बाधा नहीं आयेगी। अगर यह सही तरीके से हुआ तब इससे मुल्क के अंदर बनने वाली योजना को मदद ही मिलेगी। जो भी हो, फिलहाल हमें इस संभावना पर गौर नहीं करना है, जो एक दूर की बात है।

नेशनल प्लानिंग कमेटी के सदस्यों में 4 जून, 1939 को वितरित टिप्पणी से। *सेलेक्टेड वर्क्स,* वाल्यूम 9, पृ. 376-79

इस योजना के सभी पहलुओं को कार्यान्वित करने के लिए जो भी कदम उठाने आवश्यक होंगे, उनके लिए अनिवार्य रूप से राष्ट्रीय स्वतंत्रता आवश्यक है। किसी अन्य सूरत में योजना की रूपरेखा बनाना भी मुमकिन नहीं है। इस वक्त जाहिर है कि हिंदुस्तान में हमें किसी भी तरह की राष्ट्रीय आजादी नहीं मिली हुई है और हम पर बहुत-सी बंदिशें, रोक और शर्तें लगी हुई हैं, जो हमारी योजना निर्माण और प्रगति के हमारे रास्ते में आड़े आती हैं।

इसलिए हमारी योजना आजाद हिंदुस्तान के लिए बनायी जानी चाहिए। इसका यह मतलब नहीं कि योजना के आधार पर अर्थव्यवस्था के विकास के बारे में कुछ भी करने के लिए हमें पहले आजादी का इंतजार करना चाहिए। हमें मौजूदा परिस्थितियों में भी इस तरह के ऐसे उपायों और नीतियों को अपनाने की कोशिश करनी चाहिए, जो मुल्क के संसाधनों का विकास करती हों और जनसाधारण का जीवन स्तर ऊंचा करती हों। ये सारी कोशिशें उस योजना को सफल बनाने के लिए की जानी चाहिए, जो हमने आजाद हिंदुस्तान के लिए तैयार की हैं। जहां तक मुमकिन हो उन्हें हमारे संवैधानिक अधिकारों पर लगी मौजूदा रोक को हटा देना चाहिए, नये स्वार्थी तत्वों को पैदा नहीं करना चाहिए या गलत नीतियों का निर्माण नहीं करना चाहिए, जो हमारे ध्येय की प्राप्ति और हमारी सारी योजना की सफलता में नये नये रोड़े बन सकें।

इस तरह हमें एक पूरी योजना तैयार करनी है, जो एक आजाद हिंदुस्तान पर लागू होगी, साथ ही हमें यह भी बता देना चाहिए कि मौजूदा परिस्थितियों में राष्ट्रीय क्रियाकलापों के विभिन्न क्षेत्रों में अभी क्या करना चाहिए।

कांग्रेस का उद्देश्य हिंदुस्तान में एक आजाद और लोकतांत्रिक राज्य की स्थापना करना है। लोकतांत्रिक राज्य में एक समतावादी समाज होता है। इस तरह के समाज में हर व्यक्ति को अपनी अभिव्यक्ति, अपना विकास करने के समान अवसर उपलब्ध कराये जाते हैं और हर सदस्य को सभ्य जीवन का न्यूनतम स्तर सुनिश्चित कराया जाता है, जिससे वह यह समान अवसर असलियत में हासिल कर सके। यही हमारी योजना की बुनियाद की पृष्ठभूमि होनी चाहिए।

हिंदुस्तान की मौजूदा हालत को ध्यान में रखते हुए कांग्रेस ने हिंदुस्तान में कुटीर उद्योगों के प्रोत्साहन पर बहुत ज्यादा बल दिया है। इसलिए जो भी योजना बनायी जाये, वहां इस बात को ध्यान में रखना चाहिए और उसे इसी आधार पर बनाया जाना चाहिए। जरूरी तौर पर इसके यह मायने नहीं हैं कि कुटीर उद्योगों और बड़े उद्योगों के बीच विरोध हो। बहुत से जरूरी बड़े उद्योगों को, जो मुल्क की आजादी और खुशहाली के लिए जरूरी हैं, लाजिमी तौर पर बड़े पैमाने पर चलाना होगा। जिस प्रस्ताव के तहत प्लानिंग कमेटी का गठन हुआ है, उसी प्रस्ताव के मुताबिक हमें बड़े बड़े बुनियादी उद्योगों, मझले दर्जे के उद्योगों

और कुटीर उद्योगों के विकास की व्यवस्था करनी है। इस प्रस्ताव में यह कहा गया कि औद्योगीकरण के बिना मुल्क का आर्थिक पुनरुद्धार नहीं हो सकता है। हमें जहां तक मुमकिन हो, बड़े पैमाने और छोटे पैमाने के उद्योगों के कार्यक्षेत्र अलग अलग निर्धारित करने होंगे और जिन क्षेत्रों में खास राष्ट्रीय आंदोलन की वजह से कुटीर उद्योग खोले गये हैं, वहां उन्हें हर तरह से संरक्षण और प्रोत्साहन देना होगा।

कांग्रेस ने बुनियादी अधिकारों के बारे में हुए कराची अधिवेशन में यह तय किया था कि बुनियादी उद्योगों और सेवाओं, खनिज संसाधनों, रेलवे, जलमार्गों, जहाजरानी और सार्वजनिक परिवहन के अन्य साधनों पर राज्य की मिल्कियत और नियंत्रण होगा। कांग्रेस की नीति का यह इशारा बहुत ही अहम है और यह बात सार्वजनिक उपयोग की सेवाओं पर ही नहीं, बल्कि बड़े पैमाने वाले उद्योगों और उद्यमों पर भी लागू होती है, जिनके स्वाभाविक रूप से एकाधिकार हो जाने की संभावना बनी रही है। कानूनी तौर से वाजिब यह होगा कि इस सिद्धांत को बड़े पैमाने वाले सभी उद्योगों पर लागू किया जाये। साफ बात है कि हमारी योजना को इसी आधार पर बनाया जाना चाहिए और अगर राज्य इन सब उद्यमों की मिल्कियत नहीं चाहता, तब उसे जनहित में इनका नियमन और नियंत्रण करना होगा।

इस बात पर जोर देना कि मौजूदा उद्योगों में से जो उद्योग किसी की मिल्कियत बन चुके हैं, उन उद्योगों का इंतजाम राज्य अपने हाथ में ले, अव्यावहारिक हो सकता है। लेकिन व्यक्तिगत नियंत्रण में जमे-जमाये जिन उद्योगों को राज्य से सहायता मिलती है या उन्हें राज्य का संरक्षण प्राप्त है या जो एकाधिकार की ओर बढ़ रहे हैं या जिन उद्योगों का कर्मचारियों या उपभोक्ताओं के संबंध में राज्य की आम पालिसी से टकराव होता है, वहां राज्य को अपनी बुनियादी नीति और योजना के निर्धारित उद्देश्यों के अनुसार समरूपता स्थापित करने के लिए आवश्यक कार्रवाई करनी ही चाहिए।

[1]कराची कांग्रेस के प्रस्ताव में बुनियादी अधिकारों में यह कहा गया है :

1. आर्थिक जीवन का गठन न्याय के सिद्धांत के समनुरूप होना चाहिए, जिससे जीवन का उत्तम स्तर प्राप्त किया जा सके।

2. राज्य विभिन्न उद्योगों के कर्मचारियों के हितों की रक्षा करेगा और वह उनके लिए उचित कानून द्वारा या अन्य रीति से जीवन निर्वाह करने योग्य वेतन, काम करने के लिए स्वस्थ वातावरण, काम का सुनिश्चित समय, मालिकों और कर्मचारियों में झगड़ों को निपटाने के लिए उचित तंत्र, बुढ़ापे, बीमारी और बेरोजगार होने की स्थिति में आर्थिक कठिनाइयों से बचने के लिए सुरक्षात्मक उपाय की व्यवस्था करेगा।

इस कमेटी के गठन के प्रस्ताव में यूं तो खेती का जिक्र नहीं, लेकिन किसी भी मुल्क और कम से कम हिंदुस्तान में तो राष्ट्रीय योजना की कोई भी स्कीम तब तक नहीं बन

सकती, जब तक कि उसमें खेती को शामिल नहीं किया जाये। खेती इस मुल्क का अकेला सबसे बड़ा उद्योग है और यह ऐसा ही बना रहेगा। यह अनेक सहायक उद्योगों से जुड़ा हुआ है। राष्ट्र की अर्थव्यवस्था में खेती में सुधार या परिवर्तन के दूरगामी परिणाम होते हैं। कुटीर उद्योगों का इसके साथ गहरा संबंध है क्योंकि किसानों को अपने खाली वक्त में इन उद्योगों से पर्याप्त काम मिल जाता है। इसलिए इस कमेटी को अपनी राष्ट्रीय योजना की स्कीम में खेती पर अवश्य ही विचार करना चाहिए।

राष्ट्रीय योजना के उद्देश्य

मैं समझता हूं कि शुरू में ही हमें यह तय कर लेना चाहिए कि मोटे तौर पर हमारे उद्देश्य और हमारी नीति क्या होगी। मैं यह मानता हूं कि पूंजीवादी ढांचे वाले समय में योजना तैयार करना मुश्किल से मुमकिन हो क्योंकि ऐसे में बहुत-से स्वार्थ आड़े आ जाते हैं। फासिस्ट राज्य में किसी हद तक कुछ योजनाएं तैयार की जा सकती हैं। लेकिन योजना का जो खाका हममें से बहुत से लोगों के दिमाग में है, उसका संबंध लाजिमी तौर से समाजवादी समाज से है।

जाहिर है कि हम जिस रूप में हैं और जिस तरह की प्लानिंग कमेटी बनायी गयी है, उसे देखते हुए हम इस सवाल पर समाजवादी नजरिये से शायद मुश्किल से गौर कर सकें। जो भी हो, बहुत हद तक हमें मौजूदा ढांचे को ही मानना होगा और इसी को साथ लेकर हम आगे विचार-विमर्श करेंगे। लेकिन इसके साथ साथ हमें कुछ एक जुदा लक्ष्य के बारे में भी सोचना चाहिए। जहां तक इस कमेटी का ताल्लुक है, यह जरूरी नहीं कि यह लक्ष्य पूरी तरह समाजवादी हो। कांग्रेस की मौजूदा नीति के मुताबिक हमारा उद्देश्य बुनियादी उद्योगों, बुनियादी सेवाओं, बैंकों आदि का राष्ट्रीयकरण करना है। हमें यह तो करना है। इस प्रसंग में आप कांग्रेस के कराची रिजोल्यूशन को देखें, जो बुनियादी अधिकारों वगैरह के बारे में है। इसके अलावा, जहां तक मुमकिन हो, हमें यह कोशिश करनी चाहिए कि हम उतना उत्पादन करें, जितना कि हम उपयोग कर सकें, उससे लाभ कमाना हमारा लक्ष्य न हो। हमें हर हालत में सामाजिक उद्देश्य को लाभ के उद्देश्य से ऊपर रखना चाहिए। यह कहना बहुत ही मुश्किल है कि मौजूदा हालात में यह कहां तक मुमकिन हो सकेगा। शायद यह मुमकिन भी नहीं है। अगर ऐसा है, तब हमें उन परिवर्तनों पर विचार करना होगा जिनसे हम ऐसा कर सकें। अगर हम यह सिद्धांत के रूप में मानकर चलें कि भोजन का काम सिर्फ समाजवाद आने पर ही हो सकता है, तब हम लोगों के मन में खौफ पैदा कर देंगे और नासमझ खीज जायेंगे। दूसरी तरफ अगर हम योजना के स्वरूप पर उसे समाज़वाद से अलग कर विचार करें और इसके बाद स्वाभाविक रूप से समाजवाद के किसी स्वरूप पर पहुंच सकें, तब वह तर्कसंगत होगा और इसके चलते बहुत-से लोगों की राय

नेशनल प्लानिंग कमेटी के सेक्रेटरी के.टी. शाह को 13 मई, 1939 को लिखे एक पत्र से। *सेलेक्टेड वर्क्स,* वाल्यूम 9, पृ. 373-74

तब्दील हो जायेगी—जो लफ्फाजी और नारों से उकता गये हैं।

मेरा ख्याल है कि मौजूदा ढांचे को चुनौती देने के बदले हमें कुछ इसी तरह काम करना चाहिए। इस ढांचे में उन तत्वों को समर्थन देकर शक्तिशाली बनाना भी गलती होगी, जो स्वार्थी हैं। हमें ऐसा कुछ नहीं करना चाहिए, जिससे तब्दीली के रास्ते में नयी रुकावटें पैदा हों।

क्या यह मुमकिन नहीं कि हम नीति की कुछ खास बातों पर अपने को केंद्रित रखें, जो योजना बनाने के काम में हमारा मार्गदर्शन करती रहें और जाहिर है कि जो इस ढांचे के बरखिलाफ नहीं हैं, लेकिन वे इसे काफी कुछ बदल सकती हैं।

मैं सोचता हूं कि हिंदुस्तान में इस वक्त मध्यवर्ग को साथ लेकर न चलने से हम कामयाब न हों। यह वर्ग इतना ताकतवर है कि इसे हटाकर नहीं रखा जा सकता। किसी भी दूसरे वर्ग में इतनी ताकत नहीं है, जो इसकी जगह ले सके या किसी सुनियोजित समाज का नेतृत्व कर सके। इसकी वजह यह है कि यूरोप के कुछ मुल्कों में भी, जहां हालत कहीं ज्यादा अच्छी है, इस तरह की कोशिश से कोई नतीजा नहीं निकला और इसकी प्रतिक्रिया हुई है। यहां हिंदुस्तान में वर्ग के आधार पर पहले ही संघर्ष होने से विघटन होगा और शायद बहुत दिनों तक कुछ भी काम न हो सकेगा। ऐसा लगता है कि मुल्क में विघटनकारी शक्तियां पूरी ताकत से उभर रही हैं और शायद यहां भी वही होने वाला है, जो चीन में हो रहा है।

हम कहां हैं?

हमें अपनी पालिसी और तरीकों के बारे में स्पष्ट होना और राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय विषयों पर अपने नजरिये की बारीकी से व्याख्या करना निहायत जरूरी है। दुनिया बदलती रहती है, नयी नयी समस्याएं पैदा होती हैं, नये नये सवालों का जवाब देना होता है और कल की पुरानी और घिसी-पिटी शब्दावली का आज शायद कोई मतलब ही नहीं हो। हम म्यूनिख समझौते के बाद वाले युग में रह रहे हैं। नक्शा रोजाना बदल रहा है। जंगलीपन और प्रतिक्रिया के काले कारनामों की जीत हो रही है। मैं जब यह सब कुछ लिख रहा हूं, तब मेरे दिमाग में अपने जमाने की सबसे बड़े ट्रेजडी आयी हुई है—स्पेन में लोकतंत्र की हत्या। स्पेन में गणतंत्र की हत्या, विद्रोहियों की कारगुजारी नहीं और न इसमें देशद्रोहियों का ही हाथ था। आखिरकार फासिस्ट ताकतें भी इसकी हत्या नहीं कर सकी थीं, हालांकि उन्होंने इसके लिए बेहद कोशिश भी की थी। इसके लिए चेकोस्लोवाकिया को धोखा देने के सवाल पर ब्रिटेन और फ्रांस को जिम्मेदार ठहराया जाना चाहिए। इतिहास युगों युगों तक इस कुकृत्य को याद रखेगा और उन्हें कभी भी माफ नहीं करेगा। चेक और स्पेनी जनता की उदास आंखें पीढ़ी दर पीढ़ी उनका पीछा करती रहेंगी, जिन्होंने उन्हें मुसीबत आने पर छोड़ दिया, उनके साथ धोखा किया और दोस्ती और निष्पक्षता की आड़ में उन्हें मौत और गुलामी के कुएं में धकेल दिया है।

यह वह दुनिया है, जिसमें हम रहते हैं। हिंदुस्तान में भी जो समस्याएं उठ रही हैं, वे उतनी ही खतरनाक हैं जितनी कि यूरोप की समस्याएं। हम अभी भी ब्रिटिश साम्राज्यवाद

आठ लेखों की लेख माला, जो सबसे पहले 'नेशनल हेराल्ड' में 28 फरवरी से 6 मार्च, 1935 तक प्रकाशित हुई थी, *सेलेक्टेड वर्क्स,* वाल्यूम 9 में पृ. 492-96, 506-508, -14 पर पुनः प्रकाशित। कांग्रेस में उस वक्त कुछ समय से जो मतभेद पैदा हो रहा था उसे अक्सर वामपंथी और दक्षिणपंथी के बीच का मतभेद कहा जाता था। यह मतभेद उस समय और भी साफ हो गया, जब पट्टाभिसीतारमैया को, जिन्हें गांधी जी का समर्थन प्राप्त था, सुभाष चन्द्र बोस कांग्रेस के दोबारा सभापति चुन लिये गये थे। त्रिचुरी में कांग्रेस का अधिवेशन शुरू होने के पहले ही कांग्रेस वर्किंग कमेटी के 22 सदस्यो में से 15 मेंबरों ने 22 फरवरी, 1935 को अपने इस्तीफे दे दिये। त्रिचुरी कांग्रेस के दो महीने के बाद सुभाष चन्द्र बोस ने कांग्रेस के सभापति पद से इस्तीफा दे दिया। जिन लेखों से ये उद्धरण लिये गये हैं, वे त्रिचुरी में कांग्रेस का अधिवेशन होने के पहले लिखे गये थे। इन लेखों में कांग्रेस के सैद्धांतिक गठन, मतभेद की प्रकृति और समाजवादियों की स्थिति और उनका कर्तव्य बताया गया है

के खिलाफ सीधे लड़ाई लड़ने की बात सोचते हैं। यह साम्राज्यवाद अपनी शक्ल बदल लेता है। इसे अपनी ताकत पर भरोसा नहीं है। इसलिए यह चुनौती का सामना अप्रत्यक्ष तरीके से और ज्यादा खतरनाक ढंग से करता है। यह प्रतिक्रिया खुद-ब-खुद एक दूसरी ही भाषा में बोलती है, प्रगतिशील नारों का इस्तेमाल कर अपने फायदे के लिए सियासी दांवपेंच से भोली-भाली आम जनता का शोषण करती है। सांप्रदायिकता और भी ज्यादा ठोस तरीके से प्रतिक्रियावादी शक्तियों का गढ़ और साम्राज्यवाद की रक्षा के लिए एक जबरदस्त दीवार बन जाती है।

आजकल सूक्तियों और नारों का बड़ा जोर है। अगर इनके पीछे कोई समझ की बात और साफ मकसद वगैरह नहीं है तो यह बहुत ही खतरनाक साबित हो सकते हैं। हममें से बहुत से लोग कभी इस बारे में नहीं सोचते। यह तरीका झंझटी और थका देने वाला है। इससे कभी कभी गलत नतीजे होते हैं। लेकिन जब कभी संकट और गतिरोध पैदा हो जाता है, तब उनसे यह फायदा होता है कि वह हमें सोचने पर मजबूर कर देते हैं। तो हम मौजूदा गतिरोध से इस तरह क्यों न फायदा उठायें।

मैं इसी ख्याल से अपने कुछ विचार और तजुर्बे यहां लिख रहा हूं। जब हालात तेजी से बदल रहे हों और स्थिति अनिश्चित हो, तब ऐसी दशा में इस गतिरोध से निकलने के रास्ते के बारे में कुछ भी कहना मेरे लिए मुश्किल बात होगी। हो सकता है कि जब तक लोग सोचें, उसके पहले ही कोई रास्ता अपने आप निकल आये। फिलहाल मेरे लिए यही ठीक रहेगा कि मैं उन प्रवृतियों का लेखा-जोखा रखूं, जो हिंदुस्तान में पिछले तीन बरसों में उभर आयी हैं...।

तीन बरस पहले (1936), मार्च के महीने में, मैं कांग्रेस का सदर मनोनीत हो, यूरोप से हिंदुस्तान वापस आया। मेरे विचारों और मेरी राय से सभी लोग वाकिफ थे। इसलिए कुछ हद तक मेरे लिए यह साचना वाजिब था कि कांग्रेस के लोग, जिन्होंने मुझे चुना, मेरे विचारों से सहमत थे। लेकिन मैं यह भी जानता था कि ऐसा मान बैठना भी वाजिब नहीं है क्योंकि चुनाव में अक्सर कई और बातें भी मद्देनजर रखी जाती हैं। कोई यह भी नहीं कह सकता था कि चूंकि डेलीगेटों ने मुझे सदर चुना है, इसलिए यह कांग्रेस समाजवादी बन गयी है। लेकिन इस चुनाव का यह मतलब तो था ही कि लोग एक ऐसी पालिसी चाहते थे, जो ज्यादा रेडिकल हो और यह कि मुल्क के लोगों में समाजवादी विचारधारा फैलती जा रही थी। पिछले एक बरस से कांग्रेस के लोगों के दिलों से गुस्सा और हताशा की वह भावना तेजी से दूर हो रही थी, जो सविनय अवज्ञा आंदोलन वापस लेने की वजह से उनमें घर कर गयी थी। इस प्रक्रिया में सेंट्रल असेंबली के चुनावों से मदद मिली। कांग्रेस की निष्क्रियता पर कुछ लोगों में झुंझलाहट थी. जो तेजी से परिवर्तन में विश्वास रखते थे।

एक संगठित समाजवादी दल बन चुका था। यह दल जवानी की तेजी और जोश में कांग्रेस के नेताओं की आलोचना किया करता और उन्हें बुरा-भला कहता था। यह ऐसी शब्दावली का इस्तेमाल करता, जो पश्चिम के समाजवादी साहित्य से उधार ली हुई होती और जिसे कांग्रेस का आम आदमी नहीं समझता था। इस दल ने कुछ लोगों को अपने जैसा बना तो लिया, लेकिन इसने बहुत-से लोगों को अपने खिलाफ भी कर लिया। कांग्रेस में मध्यवर्ग के लोगों की एक बहुत बड़ी जमात थी, जो इस नये ढंग के प्रोपेगेंडा को शक की नजर से देखती थी, जिसमें उसके नेताओं की आलोचना होती थी। इन लोगों का सियासी नजरिया तो वामपंथी था, लेकिन इनका सामाजिक नजरिया अस्पष्ट और अनिश्चित था फिर भी ये लोग आमतौर पर किसानों के समर्थक थे। कुछ सोशलिस्ट पुराने नेताओं को हटाने के बारे में खुलकर बातें करते थे और खुद को इस काम के लिए नियति द्वारा भेजा गया मानते थे। उन्होंने कांग्रेस की स्थानीय कमेटियों में अपने उम्मीदवार खड़े किये और लोग यह समझने लगे कि ये इन कमेटियों पर कब्जा करना और उनको अपने नियंत्रण में रखना चाहते हैं। लोकतंत्र के नजरिये से उन्हें ऐसा करने का पूरा हक था, लेकिन उनकी यह कोशिश और तरीके उनके लिए उल्टे साबित हुए और कांग्रेस का पूरा मध्यमवर्गीय गुट विरोधियों के खेमे में चला गया। इस तरह ज़िन पर सोशलिज्म का असर होना चाहिए था, वे लोग निकाल बाहर किये गये और उन्हें विरोधी बना दिया गया...।

कांग्रेस के नेताओं ने इन घटनाओं की बड़ी निंदा की। उन्हें सोशलिज्म के जटिल सिद्धांत नापसंद थे। उन्होंने सोचा कि सोशलिज्म का लाजिमी तौर से हिंसा से वास्ता है, जो कांग्रेस के बुनियादी सिद्धांतों के खिलाफ बात है। सबसे बड़ी बात तो यह थी कि वे जाती हमलों और आलोचनाओं से चिढ़ गये और कभी कभी वे भी उसी तरह का बर्ताव कर बैठते थे।

मुझे वापस आने पर कटुता और आपसी संघर्ष का यही माहौल मिला। मेरे दिमाग में जन मोर्चे और संयुक्त मोर्चे की बातें भरी हुई थीं, जो उन दिनों कुछ यूरोपीय मुल्कों में संगठित हो रहे थे। यूरोप में वर्ग संघर्ष और दूसरे और कई तरह के संघर्षों का जोर था। लेकिन इस सबके बावजूद एक मिलेजुले मंच पर इस तरह का सहयोग होना मुमकिन था। हिंदुस्तान में इस तरह के संघर्षों की अभी शुरुआत थी और ये संघर्ष उस बड़ी लड़ाई की आड़ में पड़ जाते थे, जो साम्राज्यवाद के खिलाफ लड़ी जा रही थी। जाहिर है कि साम्राज्यवाद की खिलाफत करने वाली सभी ताकतों के लिए एक ही रास्ता था कि वे कांग्रेस के मिलेजुले मंच पर मिलकर एक साथ काम करतीं। जब तक हम आजादी और ताकत हासिल नहीं कर लेते हैं, तब तक सोशलिज़्म एक सैद्धांतिक मुद्दा था, सिवाय वहां तक जहां तक वह हमारे संघर्ष को प्रभावित नहीं करता था। आजादी मिलने के पहले सोशलिज्म नहीं आ सकता था...।

कुछ सोशलिस्टों और मार्क्सिस्टों ने, जो यूरोप और उसके शांतिवादियों की तरह सोचते थे, अहिंसा के रास्ते का मखौल उड़ाने की कोशिश की। मैं यूरोप के शांतिवादियों का प्रशंसक नहीं हूं। इसके बाद एक संकट ने यह साबित कर दिया है कि वह न सिर्फ बिल्कुल बेअसर रहे हैं, बल्कि वह किसी बात की खिलाफत या लोगों को उकसा तक नहीं सकते। उनका नजरिया नकारात्मक और निष्क्रिय रहा है, जो बुराई और हिंसा के सामने घुटने टेक देता है क्योंकि प्रतिरोध करते वक्त उनके शांतिवादी सिद्धांतों में बाधा पड़ने लगती है। राजनैतिक आत्मसमर्पण लाजिमी तौर पर, नैतिक आत्मसमर्पण की शक्ल अख्तियार कर लेता है।

लेकिन कांग्रेस का अहिंसा का सिद्धांत बिल्कुल इसका उल्टा था। इसके आधार पर वह जिसे बुरा समझती थी, उसके आगे आत्मसमर्पण का कोई सवाल ही नहीं था। इसमें और सब सिद्धांतों की तरह, हालात के मुताबिक समझौता करने की बात तो शामिल है, लेकिन बुनियादी तौर पर वह और सिद्धांतों के मुकाबले ज्यादातर गैर-समझौतावादी है। यह गतिशील है, निष्क्रिय नहीं है। यह गैर-प्रतिरोधात्मक नहीं है, लेकिन यह हर बुरे काम का प्रतिरोध करता है, हालांकि यह प्रतिरोध शांतिपूर्ण होता है। यह सिद्धांत व्यवहार में बहुत ज्यादा कारगर साबित हुआ है; इसके न सिर्फ ठोस नतीजे ही निकले, बल्कि इससे कहीं ज्यादा महत्वपूर्ण काम यह किया कि इसने मुल्क के लोगों का मनोबल ऊंचा बनाये रखा और शांतिपूर्ण अनुशासित और संयुक्त कार्रवाई के लिए उनको तैयार भी किया।

लगभग सभी ने, जिसमें सोशलिस्ट भी थे, इसे कौमी पालिसी के रूप में स्वीकार किया और माना कि इसके बदले कोई दूसरा रास्ता भी नहीं है। यह सच है कि कुछ लोगों ने मकसद पर पूरी तरह गौर किये और इस पर पूरी तरह से अमल किये बगैर ही इसे आंख बंद कर मान लिया था। जहां तक मेरा ताल्लुक है, मुझे इसे मान लेने में कोई दिक्कत नहीं हुई हालांकि मुझे इस पर पूरी तरह यकीन नहीं था और न मैं यही कह सकता था कि यह पालिसी सभी मौकों पर लागू होगी ही। मेरे लिए तो यही काफी था कि यह पालिसी हिंदुस्तान पर और हमारे संघर्ष पर लागू होती थी।

मैंने पुराने नेताओं और नये सोशलिस्ट गुट के बीच खाई खत्म करने में अपनी ताकत का इस्तेमाल करने का फैसला किया। कुछ हद तक मैं इस काम के लिए ठीक भी था क्योंकि दोनों के साथ मेरा नजदीकी ताल्लुक था। मुझे पूरा यकीन था कि इन दोनों गुटों में से किसी एक गुट के बगैर हिंदुस्तान का काम नहीं चल सकता। साम्राज्यवाद के खिलाफ संघर्ष करने में इन दोनों के बीच पूरा सहयोग नहीं हो सकता, इसकी मुझे कोई खास वजह नहीं दिखाई देती थी। पुराने नेता परखे हुए लोग थे, जनता में उनकी इज्जत और उनका असर था। उन्हें बरसों तक इस आंदोलन को चलाने का अनुभव था। वे किसी भी मानी

में दक्षिणपंथी नहीं थे। सियासी मामलों में वे वामपंथियों से भी आगे थे। वे साम्राज्यवाद के पक्के विरोधी थे। गांधी जी का, जो बेशक इनके और मुल्क के लिए शक्ति के स्तंभ थे, इन पर हाथ था और वे संस्था से बाहर रहकर इनका समर्थन कर रहे थे। गांधी जी सारे हिंदुस्तान पर छाये हुए थे। उनके बगैर किसी भी बड़े आंदोलन की धारणा करना मुश्किल था। सोशलिस्टों का गुट एक ताऊनवी और उभरते हुए वर्ग की नुमाइंदगी करता था, जो हालांकि छोटा था और जो अल्पसंख्यकों की आवाज उठा रहा था। उनका असर फैल रहा था, जो खासतौर पर नवयुवकों पर हो रहा था। मैं इनके आदर्श और मकसद से मेल खाता था। मेरे लिए और बहुत-से और लोगों के लिए ये भविष्य के प्रतीक थे...।

पिछले साल जब मैं यूरोप गया हुआ था, तब अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में गहरे संकट का दौर चल रहा था। मैंने अपने मन को इसके मुताबिक ढाल लिया और मैं सीधा बार्सीलोना गया, जिसे सर्वेंटिस ने 'दुनिया के खूबसूरत शहरों में से खूबसूरत शहर' कहा है। अफसोस, इस शहर को कुचला जा रहा था। स्वतंत्रता इस प्राचीन नगर पर दुश्मनों का कब्जा था। इस शहर ने आजादी के लिए फर्डिनेंड और इसावेना के जमाने में भी संघर्ष किया था। लेकिन जब मैंने इस खूबसूरत शहर का दौरा किया, तब यह शहर उस वक्त भी इंसान की अजेय शक्ति का आवास बना हुआ था, जो हारना नहीं जानता, आजादी के मकसद के लिए मौत और तबाही को नहीं गिनता। रात में मैंने आसमान से बम गिरते देखे, जो यहां के लोगों पर मौत और तबाही बरसा रहे थे। मैंने सड़कों पर लोगों की भीड़ देखी, जो भूखे थे। शरणार्थियों की दुर्दशा देखी। मैं मोर्चे पर जाकर फौज के सिपाहियों से और इंटरनेशनल ब्रिगेड के बहादुर नौजवानों से भी मिला। मैंने देखा कि इनमें से न जाने कितनों ने स्पेन की भूमि पर हमेशा के लिए अपनी आंखें मूंद ली थीं। मैं लौटा तो मेरा मन स्पेन के दुखों से भरा हुआ था, जिसका गला उतना उसके दुश्मन नहीं घोट रहे थे जितना कि वे लोग, जो अपने को लोकतंत्र का हिमायती कहते थे।

बाद में मैं चेकोस्लोवाकिया गया। यहां मैंने एक और त्रासदी देखी, अपनी आंखों के सामने एक और विश्वासघात होते देखा। इन सारी घटनाओं का मुझ पर जबरदस्त असर पड़ा। मैं उनके मुकाबले अपने स्वतंत्रता संग्राम को समझने की कोशिश करने लगा। मुझे इस तेजी से बदलते हुए नाटक में फेडरेशन और हिंदुस्तान की और बहुत-सी छोटी-मोटी समस्याएं ऐसी लगीं, जैसे ये कोई खास समस्याएं नहीं रही हैं। बहुत-सी बड़ी बड़ी घटनाएं होने वाली थीं और हिंदुस्तान को इनको मद्देनजर रखकर सोचने का यही वक्त भी था...।

यूरोप की घटनाओं, फासिज्म की बढ़ोत्तरी, स्पेन की क्रांति और सबसे ज्यादा इंग्लैंड और फ्रांस की तथाकथित लोकतंत्रात्मक सरकारों द्वारा जानबूझ कर नाजी और फासिस्ट

ताकतों को बढ़ावा देता देख मुझे ऐसा लगा कि जिस किसी वर्ग के पास ताकत होती है, उसमें हर तरीके से अपने स्वार्थ की रक्षा करना ही सबसे मुख्य प्रेरणा होती है। जब राष्ट्रवाद का मतलब उनके स्वार्थ की सुरक्षा करना होता है, तब वे राष्ट्रवादी और देशभक्त हो जाते हैं, लेकिन जब उनके स्वार्थ पर आंच आने लगती है, तब उनके लिए राष्ट्रवाद और देशभक्ति की कोई कीमत नहीं रह जाती। ब्रिटेन और फ्रांस में शासक वर्ग लोकतंत्र की सुरक्षा के लिए सोवियत रूस के साथ सहयोग करने के बजाये अपने अपने साम्राज्य को भी खतरे में डालने के लिए तैयार हैं क्योंकि इस सहयोग के बाद कुछ ऐसी ताकतें पैदा हो सकती हैं, जिनसे उनकी विशेष स्थिति हो सकती है। हालांकि वे जोर-शोर से लोकतंत्र और स्वतंत्रता की बातें करते हैं, लेकिन उनके लिए इसका कोई मतलब नहीं है, उनकी मुख्य चिंता तो अपने स्वार्थ और विशेष सुविधाओं की रक्षा करना होती है। अगर वे उन्हें खो दें तो यह उनकी बदनसीबी होगी, चाहे वह उनकी पालिसी की वजह से ही क्यों न हो।

मार्क्सवादी दर्शन मोटे तौर पर मुझे पसंद है। यह मुझे इतिहास की प्रक्रिया को समझने में मदद देता है। मैं कोई कट्टर मार्क्सवादी नहीं हूं और न मुझे कोई और ही तरीके का कट्टरवाद पसंद है। लेकिन मैं इस बात का कायल हूं कि इंग्लैंड में या और कहीं पुराना उदारवादी दृष्टिकोण अब काम लायक नहीं रह गया है। हस्तक्षेप न करने का सिद्धांत तो मर चुका है। और जब तक पर्याप्त तेजी से दूरगामी परिवर्तन नहीं किये गये तब हम चाहे इंग्लैंड में हो या हिंदुस्तान में, तबाह होने से बच नहीं सकते। आज सामाजिक और आर्थिक न्याय की स्थापना के लिए समाज को संगठित किया जाना है। यह संगठन फासिस्ट आधार पर संभव है, लेकिन इससे न्याय या समता नहीं हासिल होगी। इसलिए यह लाजिमी तौर पर ठीक नहीं है। दूसरा रास्ता सिर्फ समाजवाद का रास्ता है।

समता के बगैर स्वतंत्रता और लोकतंत्र के कोई मायने नहीं हैं। और समता तब तक स्थापित नहीं हो सकती, जब तक उत्पादन के मुख्य साधनों पर इंसान का व्यक्तिगत अधिकार बना रहता है। इस तरह उत्पादन पर व्यक्तिगत साधनों का अधिकार होना असली लोकतंत्र के रास्ते में एक रुकावट है। लोकमत के निर्माण में बहुत से तत्वों का योग रहता है। इनमें सबसे ज्यादा अहम और बुनियादी बात है, संपत्ति के साथ संबंध, जो आखिर में हमारी संस्थाओं और हमारे सामाजिक ढांचे को नियंत्रित रखता है। जिन लोगों को मौजूदा संपत्ति-संबंध से फायदा होता है, एक वर्ग के रूप में वे स्वेच्छा से किसी ऐसे परिवर्तन के लिए राजी नहीं होंगे, जिससे उनकी ताकत और उनकी विशेष सुविधाएं छिन जाती हों। हम एक ऐसी स्थिति पर आ पहुंचे हैं, जहां मौजूदा संपत्ति संबंध और उत्पादन की शक्तियों के बीच लाजिमी तौर पर विरोध है और जब तक संबंधों में कोई रद्दोबदल नहीं होता, लोकतंत्र प्रभावी तरीके से काम नहीं कर सकता। मौजूदा व्यवस्था में वर्ग संघर्ष अंतर्निहित है। जब इस व्यवस्था को बदलने की कोशिश होती है और इसे मौजूदा जरूरतों के मुताबिक ढालने

की कोशिश होती है, तब शासक और मिल्कियत वाला वर्ग इसकी डटकर खिलाफत करते हैं। आज के संघर्ष की यही बुनियाद है। इसका किसी व्यक्ति की सद्भावना या दुर्भावना से कोई ताल्लुक नहीं है, जो व्यक्तिगत हैसियत में अपनी वर्ग निष्ठा से ऊपर उठने में कामयाबी पा जाते हैं, लेकिन समूचा वर्ग एकजुट हो जाता है और परितर्वन का विरोध करता है।

मैं यह नहीं मानता कि समाजवाद में व्यक्ति को क्योंकर ज्यादा आजादी नहीं रहेगी, बेशक उसे उससे कहीं ज्यादा आजादी रहेगी जितनी कि मौजूदा व्यवस्था उसे देती है। उसे अंतःकरण और मस्तिष्क की आजादी, उद्योग करने की आजादी और सीमित मात्रा में व्यक्तिगत संपत्ति रखने की आजादी भी मिल सकती है। इसके अलावा उसे वह आजादी भी रहेगी, जो आर्थिक सुरक्षा से आती है, यह आर्थिक सुरक्षा भी आज बहुत थोड़े-से लोगों को ही हासिल है।

अगर कोई महान विपत्ति आकर दुनिया को खत्म नहीं कर देती तो मैं समझता हूं कि हिंदुस्तान और दुनिया को समाजवाद के इसी रास्ते पर चलना होगा। इसमें मुख्तलिफ मुल्क के लोगों की गति में कुछ फर्क रहेगा और उनके कदम एक जैसे नहीं पड़ेंगे। यह सोचना तो बेवकूफी होगी कि मुख्तलिफ मुल्कों में ठीक एक जैसा दौर चलेगा। अगर हिंदुस्तान ने इसे अपने लक्ष्य के रूप में स्वीकार कर लिया तो उसे अपना रास्ता अलग चुनना पड़ेगा क्योंकि हमें अनावश्यक बलिदान और अव्यवस्था के रास्ते से बचकर चलना होगा, जो पीढ़ियों तक हमारी एक पीढ़ी की प्रगति को पीछे की ओर धकेल देगा।

लेकिन हिंदुस्तान ने अभी इसे अपने लक्ष्य के रूप में स्वीकार नहीं किया है और फिलहाल हमारा लक्ष्य सियासी आजादी है। हमें हमेशा अपने लक्ष्य को याद रखना है, वरना हमें न तो समाजवाद हासिल होगा और न आजादी ही। हमने यूरोप में देखा कि वहां मध्यवर्ग इतना ताकतवर है कि वह हर आंदोलन को दबा डालता है, जिसका लक्ष्य बुनियादी सामाजिक परिवर्तन लाना होता है और कोई खतरा दिखता है, तब उसमें फासिज्म का पल्ला पकड़ने की प्रवृति होती है। हिंदुस्तान में मध्य वर्ग थोड़ा-बहुत इतना ही ताकतवर है। अगर हमने उसे अपना बिरोधी बना दिया और विरोधियों के खेमे में फेंक दिया तो यह बहुत बड़ी गलती होगी। इसलिए हमारी राष्ट्रीय नीति ऐसी होनी चाहिए, जो सियासी आजादी और साम्राज्यवाद विरोध के सामान्य आधार पर उनमें से अधिकांश को अपने साथ मिलाकर चले और हमारी अंतर्राष्ट्रीय नीति निश्चित रूप से फासिज्म विरोधी होनी चाहिए।

मार्क्सवाद और समाजवाद हिंसा की नीतियां नहीं हैं, हालांकि बहुत से दूसरे सिद्धांतों, पूंजीवादी या उदारवादी की तरह, उनमें हिंसा की संभावना बनी रहती है। क्या ये सिद्धांत कांग्रेस की शांतिपूर्ण तरीकों से, न सिर्फ अस्थायी उपाय के रूप में बल्कि खरे तरीके से और हकीकत में, मेल खाते हैं? हमारे लिए अहिंसा के सिद्धांत में अंतर्निहित समूचे दर्शन

पर बहस करना या यह विचार करना जरूरी नहीं है कि यह सिद्धांत दूर के और नाजुक मामलों पर लागू होता है या नहीं। हमारी समस्या तो हिंदुस्तान की है—आज के हिंदुस्तान और कल के हिंदुस्तान की है। मैं तो इस बात का कायल हूं कि अहिंसा का रास्ता सिर्फ हमारे लिए ही व्यावहारिक रास्ता नहीं है, बल्कि अपने गुणों की वजह से यह सबसे अच्छा और सबसे ज्यादा कारगर रास्ता है। मैं सोचता हूं कि जैसे जैसे लोग इसकी उपयोगिता को समझने लगेंगे, वैसे वैसे यह ज्यादा से ज्यादा इस्तेमाल किया जाने लगेगा। हिंदुस्तान में बहुत-से लोगों ने इसे समझा है और यह हमारे आंदोलन का ठोस आधार बन गया है। यह काफी कारगर साबित हो चुका है और मुमकिन है कि ज्यों ज्यों हमें अनुभव होता जायेगा, इसका मुख्तलिफ तौर पर इस्तेमाल होना शुरू हो जाये। इसके महत्व को घटाना और इसकी सफलताएं गिनाना आसान है, लेकिन हिंसा की अनगिनत असफलताएं गिनाना तो उससे भी ज्यादा आसान है। हमने जबरदस्त हथियारों से लैस मुल्कों को बिना लड़े ही हारते और गुलाम होते देखा है। हथियारों से लैस नहीं होने के बावजूद हिंदुस्तान कभी भी इस तरह हार नहीं मानता।

हिंदुस्तान में हिंसात्मक तरीकों के इस्तेमाल होने के कुछ खास खतरे हैं। इनका इस्तेमाल अनुशासित या संगठित रूप से नहीं किया जा सकता। इनका इस्तेमाल जनता को संगठित करने और जनता की कार्रवाई होने में आड़े आयेगा। इनके इस्तेमाल से लाजिमी तौर पर बड़े पैमाने पर आंतरिक संघर्ष होंगे। परिणामस्वरूप अव्यवस्था फैलेगी और हमारा आंदोलन खत्म हो जायेगा। मैं इतना आशावादी नहीं हूं कि यह सोचूं कि इस अव्यवस्था में से एक स्वतंत्र और प्रगतिशील हिंदुस्तान उभरेगा।

हिंदुस्तान में इस तरह की हिंसा के नजरिये से कोई नहीं सोचता। इसका तो सवाल ही नहीं होता। लेकिन लोगों में ऐसी भावना है कि हिंसक मनोवृत्ति आम जनता में जुझारूपन की वृत्ति को बढ़ाती है। इसलिए औद्योगिक कर्मचारियों और यहां तक कि किसानों में भी इसे थोड़ा-बहुत प्रोत्साहित करना जरूरी है। यह गलत बात है। अगर इसे जारी रखा गया, तब इसका नतीजा खतरनाक हो सकता है। जब तक कोई सरकार इसके साथ नरमी से पेश आती है, तब तक तो यह विकसित होती है, लेकिन जब कोई सरकार इसे खत्म करने पर आमादा हो जाये तब वह इसे आसानी से कुचल सकती है और वर्कर्स की हिम्मत पूरी तरह पस्त कर सकती है। ताकत उन प्रदर्शनों से नहीं हासिल होती, जो कोई एक व्यक्ति या गुट कभी कभी करता है, बल्कि यह तो जनसंगठन और जनता की कार्रवाई करने की क्षमता पर निर्भर करती है और हिंदुस्तान में कोई कार्रवाई असरदार हो, इसके लिए उसे शांतिपूर्ण होना बहुत जरूरी है।

जो कुछ भी हो, हकीकत यह है कि कांग्रेस की पालिसी शांति की पालिसी है। अगर हम इसे अपनाते हैं तो हमें पूरी तरह से और ईमानदारी के साथ वैसा करना भी चाहिए।

ऐसा न करना दो पाटों के बीच में फंसना है। जो भी सोशलिस्ट या कम्युनिस्ट मुंह से अहिंसा की तारीफ करता है और काम इसके उल्टे करता है, वह अपने ही आदर्शों को ठेस पहुंचाता है और लोगों को यह सोचने के लिए मजबूर कर देता है कि उसकी करनी उसकी कथनी के मुताबिक नहीं है।

हम अपने ही मतभेदों पर बहस करते हैं और कभी कभी उन पर जरूरत से ज्यादा जोर देते हैं। फिर भी हमें यह याद रखना चाहिए कि आजादी के लिए हमारे सियासी आंदोलन के पीछे एक बुनियादी एकता है, चाहे हमारे नजरिये में कितना भी फर्क क्यों न हो, यह फर्क इस एकता में कोई कमी नहीं लाता...।

असली अलगाव तो सांप्रदायिकतावाद की वजह से पैदा होता है और हमें यह समझ लेना चाहिए कि बड़ी बड़ी सांप्रदायिक संस्थाओं द्वारा पोषित एक ऐसी विचारधारा है, जो कौमी एकता की जड़ काटती है। लेकिन इस विचारधारा ने यहां तक कि सांप्रदायिक संगठनों के सदस्यों तक को भी बहुत ज्यादा प्रभावित किया है...

जहां तक कांग्रेस का ताल्लुक है, उसके सामने कोई ऐसी कठिनाई नहीं हुई है। असली दिक्कत इस बात में नहीं है कि हम क्या करते हैं। यह उन रिजोल्यूशनों को लेकर भी नहीं है, जो हम पास करते हैं। असली दिक्कत तो हमारे नजरिये और व्याख्या करने में है। कांग्रेस में बहुत-सी मुख्तलिफ विचारधाराएं हैं, लेकिन ये सभी एक समान सूत्र से एक दूसरे से जुड़ी हुई हैं। मोटे तौर पर यहां दो वर्ग हैं (इसके दक्षिणपंथी या वामपंथी जैसे कोई मायने नहीं हैं)। एक वर्ग उन लोगों का है, जिन्हें गांधीवादी कहा जा सकता है और दूसरा वर्ग उन लोगों का है, जो अपने को आधुनिक कहते हैं। ये शब्द कोई उचित या सटीक शब्द नहीं हैं क्योंकि इनसे ऐसा लगता है कि गांधीवादी बरसों पहले का सिद्धांत है और पुराना पड़ गया है। जबकि हकीकत यह है कि यह सबसे ज्यादा आधुनिक है और शायद कुछ हद तक हमारे युग से आगे का है। लेकिन यह पश्चिम के आधुनिकतावाद से जुदा है। धार्मिक या आध्यात्मिक पुट होने की वजह से यह विज्ञान की भावना से भी मेल नहीं खाता, जो आज पश्चिम की विचार शक्ति का निचोड़ है। इसमें बुद्धि या बुद्धि की प्रक्रिया पर बहुत कम, और सहज और प्रमाणिक व्याख्या पर ज्यादा जोर दिया गया है। लेकिन यह कोई ऐसी वजह नहीं है कि जिससे इस पर कुछ वैज्ञानिक नजरिये से विचार नहीं किया जा सके और इसका विज्ञान की भावना के साथ मेल न बिठाया जा सके।

आधुनिकतावादी वर्ग तो एक खिचड़ी है, इसमें जुदा जुदा तरीकों के सोशलिस्ट और कुछ छुटपुट लोग आते हैं, जो विज्ञान और आधुनिक प्रगति के बारे में अस्पष्ट-सी बातें करते हैं। इनमें से बहुत-से लोग उस राष्ट्रवाद के बचे-खुचे रूप हैं, जो पुराना पड़ चुका है और जिनका आधुनिकतावाद या विज्ञान से बहुत कम ताल्लुक है।

इन दो वर्गों को दक्षिणपंथी या वामपंथी के रूप में नहीं समझना चाहिए। इन दोनों

वर्गों में दक्षिणपंथी भी हैं और वामपंथी भी। इसमें कोई शक नहीं कि हमारे आंदोलन के सबसे ज्यादा संघर्षशील लोग गांधीवादी वर्ग में है। अगर कांग्रेस पर दक्षिणपंथी और वामपंथी नजरिये से विचार करना है, तब यह कहा जा सकता है कि इसमें कुछ दक्षिणपंथी हैं और कुछ वामपंथी। ढेर सारे ऐसे लोग हैं जो बीच के हैं, और बायें केंद्र के नजदीक हैं। गांधीवादी वर्ग को बीच में बायें केंद्र के नजदीक समझा जायेगा। सियासी रूप में कांग्रेस में ज्यादातर वामपंथी हैं, सामाजिक दृष्टि से इसका रुझान वामपंथी है, लेकिन मुख्यतया यह केंद्रवादी है। जहां तक किसानों का सवाल है, यह किसान समर्थक है।

कांग्रेस के मुख्तलिफ तत्वों का विश्लेषण करते वक्त यह हमेशा ध्यान रखना चाहिए कि गांधी जी का सबसे ऊंचा ओहदा है। वे कांग्रेस पर कुछ हद तो छाये हुए हैं, लेकिन इससे ज्यादा वे जनता पर छाये हुए हैं। वे आसानी से किसी भी वर्ग में नहीं आते और वे उस वर्ग से भी विशाल हैं, जिसे गांधीवादी कहा जाता है। कभी वे तीर की तरह अपने मकसद की ओर जाने वाले एकनिष्ठ क्रांतिकारी दिखाई देते हैं और इस प्रक्रिया में लाखों लोगों को झकझोरते चलते हैं। बाकी समय में वे स्थिर रहते हैं या वैसा दिखते हैं और उस समय वे लोगों को समझदारी से काम करने की सलाह देते दिखते हैं। उनके लगातार अस्वस्थ रहने से मामला उलझने लगा है। वे राष्ट्र के कामों में पूरी तरह हिस्सा नहीं ले सकते और बहुत-सी घटनाओं से उनका संपर्क नहीं है। फिर भी वे अपने अंतर्मन की प्रेरणा और जनता की इच्छा की वजह से कांग्रेस से और उसका मार्गदर्शन करने से अपने को अलग नहीं रख सकते। इससे कोई फर्क नहीं पड़ता कि वे औपचारिक तौर से कांग्रेस से जुड़े हुए हैं या नहीं। आज भी यह कांग्रेस उन्हीं की बनायी हुई है और लाजिमी तौर पर वे उसके हैं। मुल्क में उनका सबसे ऊंचा स्थान है। यह किसी ओहदे की वजह से नहीं है। जब तक वे जिंदा रहेंगे तब तक और उसके बाद भी लोगों के दिलों में उनके लिए यही ऊंचा स्थान रहेगा। जो भी पालिसी बनायी जायेगी, उसके बनाने में उनको कभी भी छोड़ा नहीं जा सकता। हर राष्ट्रीय आंदोलन में उनका पूरा पूरा सहयोग और मार्गदर्शन का होना जरूरी है।

आज के हालात की यह एक बुनियादी बात है। इस बात को सभी समझदार और विचारशील वामपंथी लोग मानते हैं। गांधी जी के साथ इन लोगों के चाहे जो भी सैद्धांतिक या स्वभावगत मतभेद हों, लेकिन इन्होंने हमेशा उस चीज से बचने की कोशिश की है जिससे विभाजन की नौबत आ जाये। उन्होंने कांग्रेस के मौजूदा नेतृत्व को बदलने की कोशिश कभी नहीं की। इसका मतलब है कि गांधी जी का नेतृत्व बना रहे। लेकिन इन लोगों ने इसके साथ ही इसे जहां तक मुमकिन हो, वामपंथ की ओर ले जाने की और उसमें आमूल परिवर्तन करने और अपने सिद्धांतों का प्रचार करने की कोशिश की है।

जब आम दिनों में कमोबेश ऐसी स्थिति है, तब जब संकट पैदा हो रहा हो तब

गांधी जी द्वारा मार्ग प्रदर्शन तो और भी ज्यादा जरूरी है। ऐसे संगीन मौकों पर जब हमें पूरी सम्मिलित शक्ति की जरूरत है, तब संस्था में विभाजन या इस तरह की कोई दूसरी चीज हमें कमजोर और नाकारा बना देगी।

हालांकि गांधी जी और उनके वर्ग के पुराने नेताओं का होना हमारे राष्ट्रीय कामों और हमारे आंदोलन के लिए लाजिमी है, लेकिन यह भी अधिकाधिक स्पष्ट होता जा रहा है कि कांग्रेस और मुल्क के बाकी बहुत से अहम तत्वों के सक्रिय सहयोग के बिना उन्हें मुश्किलाहट होगी और उनका काम बेअसर या कम से कम, उसका असर कम हो जायेगा। यह बात कांग्रेस के भीतर के उस वर्ग पर भी लागू होती है, जिसे आधुनिक कहा जाता है। इससे भी ज्यादा यह बात मुल्क की तमाम जनता पर, जो अपनी राय अभी तक निश्चित नहीं कर सकी है और बहुत से बुद्धिजीवियों पर भी लागू होती है। यह बात साधारण, पर सीधे सीधे भले ही लागू नहीं हो, लेकिन जो लोग इस ढंग से सोचते हैं, उनके जरिये जनसाधारण पर इसका असर जरूर पड़ता है।

इस तरह हम इस नतीजे पर पहुंचते हैं कि कांग्रेस को कारगर ढंग से चलाने के लिए आधुनिकतावादी लोगों के वर्ग का भी पूरा पूरा सहयोग जरूरी है। अगर दोनों के लोगों में सच्चे सहयोग की कमी होगी, तब एकसमान विरोधी के साथ संघर्ष करने की बात मुश्किल दिखती है...।

जाहिर है कि कांग्रेस को किसी एक खास वर्ग की संस्था नहीं कहा जा सकता है। यह सारे मुल्क की नुमाइंदगी करती है। जो लोग इसके मकसद और इसके तरीकों में यकीन करते हैं, उनके लिए इसके दरवाजे खुले हैं। इसके साथ ही इसे शायद मुख्तलिफ गुटों का कोई संघ भी नहीं कहा जा सकता और न इसे एक ऐसा मंच कहा जा सकता है, जहां परस्पर विरोधी मतों को मंजूर करने के लिए जबरदस्ती पेश किया जाता हो और ऐसे समझौते पर पहुंचने की कोशिश की जाती है, जिससे लोगों में किसी भी तरह का उत्साह नहीं पैदा होता। कांग्रेस संघर्षशील संस्था रही है और अभी भी है। अगर इसे अपना महान लक्ष्य पूरा करना है, तब इसे इसी तरह रहना होगा। मंच चाहे जितने भी मिले-जुले क्यों न हों, खुद-ब-खुद लड़ाई नहीं लड़ते और न वाद-विवाद वाली सोसाइटियां ही कारगर तरीके से कोई संघर्ष चला सकती हैं।

इससे पहले कांग्रेस के नेताओं में वर्गवादी, संकीर्णता और अलग-थलग रहने की प्रवृत्ति रही है। यह नामुनासिब है। इससे इन नेताओं और कांग्रेस तथा मुल्क की ढेर सारी जनता के बीच अवरोध पैदा होता है। इससे बाकी वर्ग के लोगों में आक्रामक तरीके से विरोधी दल की तरह काम करने, ऐसे तरीके अपनाने जो कांग्रेस की पालिसी से मेल नहीं खाते, अनुशासनहीनता और गैर जिम्मेदारी और कांग्रेस की एकरूपता को भंग करने की प्रेरणा पैदा होती है, हालांकि वे एकता और संयुक्त मोर्चे की बातें करते हैं। यह रास्ता खतरे

और तबाही का रास्ता है।

हो सकता है कि कभी ऐसा वक्त आये कि जब हकीकत के और समझदार वामपंथी लोग इतने ताकतवर हो जायें कि वे कांग्रेस की जिम्मेदारी संभाल लें और अपनी पालिसी के मुताबिक कांग्रेस का संचालन करें। आज वे ऐसा कर सकने की स्थिति में नहीं हैं। उन्हें मुल्क का समर्थन नहीं है और उनमें इसके लिए अनुशासन भी नहीं है। इन लोगों में आपस में बहुत से गुट हैं। ये गुट एक-दूसरे को दबाते हैं। इनमें एक-दूसरे के लिए कोई हमदर्दी नहीं है। उनमें एकता सामान्य विरोध के लिए थोड़ी देर की एकता है। यह एकता जल्दी ही टूट जायेगी। आज के वामपंथी ध्वंस कर सकते हैं, निर्माण नहीं कर सकते। वे अब भी तोड़-फोड़ वाली दुनिया में रह रहे हैं। वे इस बात को नहीं समझते कि कांग्रेस और राष्ट्रीय आंदोलन अब विशाल आंदोलन बन चुका है और वह अब हैसियत और जिम्मेदारी के साथ कुछ कह सकती है।

वामपंथियों में जो समाजवादी हैं, उन्हें हमारे इस आंदोलन को इतिहास के नजरिये से देखना चाहिए। उन्हें मौजूदा हालात को समझना चाहिए। अगर हम किसी तरह से अपने मकसद से आगे निकल गये, तब तय है कि कल इसकी प्रतिक्रिया होगी। अगर वे यह समझते हैं कि उन्हें कोई बड़ा काम करना है, तब उसके लिए उन्हें अपने को तैयार करना चाहिए और कांग्रेस और मुल्क के लोगों का विश्वास हासिल करना चाहिए। सबसे बड़ी बात तो यह है कि उन्हें अनुशासनहीनता और गड़बड़ी मचाने वाली ताकतों को पूरी ताकत से रोकने की कोशिश करनी चाहिए क्योंकि इसके बगैर न तो आजादी मिल सकती है और न समाजवाद आ सकता है...।

विज्ञान के बारे में हमारा नजरिया

आप अपने चारों ओर एक नये हिंदुस्तान को उभरते देख रहे हैं। मैं थोड़ा-बहुत उसका एक हिस्सा हूं। अगर इस नये हिंदुस्तान के साथ विज्ञान की दुनिया का गहरा ताल्लुक हो तो मैं समझता हूं कि यह बहुत ही ठीक होगा, मौजूं होगा और यह जरूरी भी है। इसी तरह यह भी लाजिमी है कि यह नया हिंदुस्तान विज्ञान की दुनिया के साथ गहरा ताल्लुक रखे। विज्ञान चाहे जितनी भी तरक्की कर ले, लेकिन अगर वह इस नयी दुनिया से, जो उभर कर सामने आ रही है, अपने को अलग-थलग रखना चाहता है तब वह बहुत दिनों टिकने वाला नहीं है।

अगर यह नया हिंदुस्तान ऐसे रास्ते पर चलता है जो विज्ञान का नहीं है, तब वह ऐसी गली में जा निकलेगा, जो आगे जाकर बंद हो जाती है। इसलिए यह जरूरी है कि ये दोनों साथ साथ आगे बढ़ें।

पिछली एक चौथाई सदी से और हाल में जो कुछ हुआ है, उससे आप में से बहुत से लोग वाकिफ हैं। मेरे जैसे आदमी को, जो ठेठ राजनीति का नहीं है, मुल्क के सियासी कामों में उलझना पड़ रहा है। अक्सर मैं अपने से पूछता रहा हूं कि ऐसा क्यों है? मैं सियासत में क्यों पड़ूं? यह इसलिए कि चूंकि किसी भी क्षेत्र में, खासतौर से विज्ञान के क्षेत्र में, तरक्की करना तब तक मुमकिन नहीं है, जब तक आप उन तमाम रुकावटों को दूर न कर दें जो लोगों को उस तरह काम करने से रोकती हैं, जैसा कि उन्हें करना चाहिए।

मुझे उम्मीद तो है कि अब, जब कि हिंदुस्तान को आजादी मिलने वाली है और हिंदुस्तान में विज्ञान भी जमाने के साथ आगे बढ़ रहा है, इस नये हिंदुस्तान की दिक्कतों को तेजी से, सभी क्षेत्रों में योजनाबद्ध तरीके से विकास कर हल करने की कोशिश की जायेगी और उसके नजरिये को भी ज्यादा से ज्यादा वैज्ञानिक बनाने की कोशिश की जायेगी।

जाहिर है कि विज्ञान सत्य की सिर्फ व्यक्तिगत खोज नहीं है। अगर यह काम समाज के लिए किया जाये, तब इसके उपयोग की संभावनाएं अनंत हैं और उनका कोई अंत नहीं है। इसका उद्देश्य समाज की बुराइयों को दूर करना है। इसके सामने एक सामाजिक उद्देश्य होना चाहिए। जो आदमी या औरत मूर्ख हो, उसके लिए सत्य के कोई मायने नहीं

दिल्ली में 3 जनवरी, 1947 को 'इंडियन साइंस कांग्रेस' के अधिवेशन में दिये गये अध्यक्षीय भाषण से

हैं। उसे अन्न चाहिए। हिंदुस्तान के लोग भूखे हैं। उन्हें पेट भर खाने को नहीं मिलता। लाखों करोड़ों ऐसे आदमियों के सामने जो भूखे हों, सत्य, ईश्वर और जिंदगी की ढेर सारी ऊंची ऊंची बातें करना मजाक करना है। हमें उनके लिए खाना, कपड़ा, मकान, शिक्षा, तंदुरुस्ती वगैरह मुहैया करना है, जो जिंदगी की बुनियादी जरूरतें हैं और जो हर एक को उपलब्ध होनी चाहिए। जब हम यह कर चुकेंगे, तब हम फिलासफी की बातें कर सकते हैं और ईश्वर के बारे में कुछ सोच सकते हैं। इसलिए विज्ञान को हिंदुस्तान के चालीस करोड़ लोगों की जरूरत के मुताबिक सोचना है...।

मैं नहीं जानता कि भविष्य हमारे लिए क्या लायेगा। मैं कोई भविष्यवाणी नहीं कर सकता। मेरे पास कोई ऐसा अधिकार नहीं है कि मैं अपने मुल्क के लोगों से यह कहूं कि आप भविष्य में यह करें और यह न करें। विश्वयुद्ध अभी हाल में होकर चुका है। लेकिन ऐसे वक्त में जब कि लोग जल्दी ही फिर युद्ध की बातें करने लग गये हैं और वैज्ञानिकों को भविष्य की लड़ाइयों की तैयारी में लगाया जा रहा है मैं यह कहना ठीक और जरूरी समझता हूं कि विज्ञान में लगे हमारे स्त्री-पुरुष इस बात पर भी गौर करें कि उनका किस तरह अक्सर नाजायज इस्तेमाल किया जाता है, बुरे कामों के लिए उनका शोषण किया जाता है। उन्हें चाहिए कि वे साफ साफ बता दें कि हम अपना इस तरह इस्तेमाल नहीं होने देंगे...।

यह एक अफसोस की बात है कि दुनिया में जब लोगों के हित के कामों के लिए मनुष्य की जिंदगी को इतनी ऊंचाई तक ले जाने के लिए, जिसका हमने सपना भी नहीं देखा था, इतने ढेर सारे साधन मौजूद हों तब भी लोग विश्वयुद्ध, लड़ाई-झगड़े की बातें करें और ऐसे आर्थिक और सामाजिक ढांचे बनाना चाहें, जिनसे एकाधिकार को बढ़ावा मिलता है और जो विभिन्न समुदायों और मुल्कों के बीच आर्थिक दृष्टि से भेद पैदा करते हों। इसके बारे में लोग चाहे जो भी करें, लेकिन यह एक ट्रेजेडी है और किसी वैज्ञानिक को, चाहे वह औरत हो या आदमी, इसे सही मानकर नहीं मंजूर करना चाहिए। इसी तरह हिंदुस्तान में आज जबकि हम अपनी राजनैतिक और आर्थिक समस्याओं को सुलझाने में लगे हुए हैं, हम लाजिमी तौर पर बड़ी से बड़ी समस्याओं के बारे में सोच रहे हैं, जो हमारे सामने हैं, और जिनके बारे में फैसला करना है, विज्ञान को लाजिमी तौर पर एक बहुत बड़ी भूमिका निबाहनी है।

मैं यहां पर मौजूद सभी लोगों से, विज्ञान के क्षेत्र में काम कर रहे नौजवानों और बुजुर्ग लोगों से यह चाहता हूं कि वे हिंदुस्तान के भविष्य के बारे में उसे एक विशाल परिप्रेक्ष्य में रख कर सोचें, वे यहां की 40 करोड़ जनता की खुशहाली के काम की अगुआई करें, वे हिंदुस्तान में और सारी दुनिया में शांति के और अंतर्राष्ट्रीय शांति और सहयोग के अग्रदूत बनें।

मेरा तो यह पक्का विश्वास है कि दुनिया की समस्याओं और हमारी राष्ट्रीय समस्याओं को हल करने का सही रास्ता ही विज्ञान का रास्ता है यानी विज्ञान का यही निचोड़ है और उसका यही उद्देश्य है। कभी कभी हमारे बड़े बड़े मशहूर वैज्ञानिक जब अपने स्टडी या लेबोरेटरी से बाहर आते हैं, तब वे जिंदगी के बाकी क्षेत्रों में विज्ञान के इस उद्देश्य और लक्ष्य को भूल जाते हैं। हम किसी खास क्षेत्र में चाहे जितना भी क्यों न ध्यान दें, लेकिन जब हम सामाजिक और आर्थिक क्षेत्र में आते हैं तब हम वैज्ञानिक दृष्टिकोण को भूल जाते हैं। मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि हम अपनी समस्याओं को विज्ञान की भावना और तरीके को अपनाकर ही हल कर सकते हैं। सारी दुनिया में हमारी जो बहुत-सी समस्याएं पैदा होती हैं, उसकी वजह यही है कि हम वैज्ञानिक दृष्टिकोण को भूल जाते हैं...।

आप विज्ञान को दुनिया की सामाजिक और राजनैतिक घटनाओं और उसके आर्थिक ढांचे से अलग नहीं कर सकते। इसलिए यही वक्त है कि विज्ञान अपने दर्शन का और अगर मैं कहूं कि वह अपने विभिन्न कार्यकलापों के बीच एकत्व का विकास करे। पुराने जमाने में इसकी यही विशेषता थी कि विज्ञान आज की तुलना में इतना ज्यादा फैला हुआ नहीं था। इस कारण इसमें एक तरह की सहज एकता थी। अब हर क्षेत्र अलग अलग दिशाओं में फैलता जा रहा है, इसलिए यह मुश्किल हो गया है। मैं यही सोचता हूं कि दुनिया की मौजूदा हालत में हमें अपने नजरिये और दुनिया की समस्याओं को समझने में एकता लानी होगी। कोई दो साल हुए, हिरोशिमा पर एक बम फेंका गया था। इससे काफी खलबली मच गयी जो लाजिमी बात भी थी। मुझे तो ऐसा लगा था कि यह किसी भारी तब्दीली की जैसे कोई अग्रिम सूचना थी, जो रचनात्मक भी हो सकती थी और विनाशपूर्ण भी। इसने लोगों के दिमाग में उलझन भी पैदा कर दी कि आखिरकार हम कहां जा रहे हैं, यह सभ्यता किधर जा रही है, कैसी कैसी घटनाएं हो सकती हैं? मुझे नहीं मालूम कि ऐसा होना ही था या नहीं, लेकिन जाहिर है कि इससे एक सवाल पैदा हुआ जिसने बहुत से लोगों को हैरत में डाल दिया। यह सवाल था कि अगर हम कुछ भी हासिल करना चाहें तो उसके लिए कोई भी तरीका इस्तेमाल किया जा सकता है? यह इसलिए कि जो तरीका हिरोशिमा पर इस्तेमाल किया गया, वह इतना खतरनाक था कि उसे लफ्जों में बयान नहीं किया जा सकता। यह बात सही है कि जो कुछ चाहा उसे हासिल किया गया, लेकिन यह एक ऐसा सवाल है कि जिस पर हर वैज्ञानिक को गौर करना चाहिए।

जैनस नामक ग्रीक देवता की तरह विज्ञान के भी दो चेहरे हैं। एक उसका विनाशकारी पहलू है तो दूसरा रचनात्मक या सृजनात्मक पहलू है। दोनों एक साथ रहते हैं और दोनों आगे भी साथ साथ रहेंगे। कोई नहीं जानता कि कब कौन-सा पहलू हावी हो जायेगा। हिरोशिमा इस संघर्ष का प्रतीक बन गया...।

विज्ञान के आणविक बम वाले पहलू के अलावा दूसरी तरफ देखिए तो पता चलेगा

कि हम एक नये युग के सामने खड़े हैं। यह इस तरह कि मानवता और समाज की खातिर शक्ति के अनंत स्रोत उपलब्ध हैं। क्या यह नया युग समाज के पूरे ढांचे में कोई भारी तब्दीली ला देगा और मैं सोचता हूं कि यही होगा भी। मैं उन दिनों की बात सोचता हूं जब दुनिया में बारूद ईजाद हुई थी। बारूद के आ जाने से मध्यकाल का युग पूरी तरह से और काफी तेजी से पीछे छूट गया और ज्यों ज्यों जमाना बीतता गया, इसने एक नये राजनैतिक और आर्थिक ढांचे को पैदा किया या उसके करने में मदद की।

यह सच है कि उस वक्त बहुत-सी ताकतें काम कर रही थीं। फिर भी बारूद की वजह से समाज पर एक गहरा असर हुआ और इसके आ जाने से सामंती व्यवस्था में से एक नयी पूंजीवादी व्यवस्था का धीरे धीरे विकास हुआ। अब मैं सोचता हूं कि यह आणविक बम भी क्या किसी नये युग के आने, समाज का एक नया ढांचा शुरू होने की पूर्व सूचना तो नहीं है, जिसे मौजूदा हालात में फिट बैठने के लिए स्थापित किया जाना है। मैं इस पहलू को इस बड़े परिप्रेक्ष्य में समझना चाहता हूं। मैं बहस-मुबाहिसे में नहीं पड़ता चाहता। इसलिए यह सब विचार मेरे दिमाग में आते रहते हैं। खुद मैं इस बात पर यकीन करता हूं कि जब तक समाज के ढांचे में कुछ बुनियादी परिवर्तन नहीं होते, तब तक विज्ञान में या और किसी क्षेत्र में कोई ज्यादा प्रगति नहीं होगी। हिंदुस्तान में तो यहां एक खास ढांचा है। आप जगह जगह तरह तरह की सामाजिक व्यवस्था देखते हैं। आप ऐसी सामाजिक व्यवस्था देखते हैं, जो मध्य युग के शुरू के दिनों जैसी है। आपको ऐसी व्यवस्था भी देखनी है, जो बीसवीं सदी की है। लेकिन ये सब घटनाएं जो बीसवीं सदी की व्यवस्था को भी बड़ी तेजी से बदल रही हैं, आज की समस्याओं का कोई हल नहीं पेश करतीं।

इसलिए मैं निजी तौर पर यह मानता हूं कि बुनियादी परिवर्तन होना चाहिए; एक ऐसा परिवर्तन होना चाहिए, जिसमें सारे समाज को, न कि चोटी पर बैठे हुए थोड़े-से वर्ग को, विकास करने का पूरा मौका मिले। मैं नहीं मानता कि हिंदुस्तान में जो बड़ी बड़ी परियोजनाएं शुरू करने की सोच रखी हैं, वे आम जनता के सहयोग के बिना वास्तविक रूप से सफल हो सकती हैं। मैं सोचता हूं कि हम इस मूलधारा को सही दिशा की ओर ले जा सकते हैं और उसके सोच को वैज्ञानिक रूप दे सकते हैं...।

अगर यह मुल्क उसी तरह तरक्की करता रहा जैसा कि वह कर रहा है, तब वह तरक्की इकतरफा नहीं हो सकती, हमें इसे समन्वित करना होगा, इसकी योजना बनानी होगी और इसे एक-दूसरे से जोड़ना होगा। जब तक यह नहीं किया जायेगा, आप जयादा दूर तक नहीं जा सकेंगे...।

मैं समझता हूं कि हर तरीके से और खासतौर से विज्ञान के नजरिये से पहला उद्देश्य एक आजाद और आत्मनिर्भर हिंदुस्तान का निर्माण करना है। हिंदुस्तान ने विज्ञान की दुनिया में, खासतौर से थ्योरीटिकल फिजिक्स में और कुछ और क्षेत्रों में काफी तरक्की की है।

हमने काफी कुछ किया है, लेकिन हमने हिंदुस्तान की असली प्रतिभा को नहीं छुआ है। हमने हिंदुस्तान के लोगों को सतही तौर से छुआ है, लेकिन तब भी हमने काफी कुछ किया है। और अब जब कि हम जानते हैं कि हम क्या कर सकते हैं, तब हम निश्चय ही और भी ज्यादा करेंगे। जब हम विज्ञान के क्षेत्र में हिंदुस्तान की तमाम जनता के लिए तरक्की के रास्ते खोल देंगे, तब मैं जो तस्वीर देख रहा हूं वह हम लोगों के मन की होगी। अगर हम हिंदुस्तान के पांच फीसदी प्रतिभावान लोगों को भी विज्ञान की ओर ला सके, तब हिंदुस्तान में भी काफी बड़ी तादाद में वैज्ञानिक पैदा हो जायेंगे।

आज हम मुश्किल से एक फीसदी से भी कम लोगों को इस ओर ला सके हैं। हमारा मुख्य मकसद यह होना चाहिए कि हम लोगों के लिए तरक्की के ज्यादा से ज्यादा अवसर मुहैया करें और एक ऐसी राजनैतिक और सामाजिक व्यवस्था का निर्माण करें, जो लोगों को समाज के हित में अपनी क्षमता का विकास करने में और समाज के लिए काम करने में मदद दे...।

4

धर्म, संस्कृति और सांप्रदायिक राजनीति

'धर्म' क्या है?

हिंदुस्तान और सब बातों से ज्यादा एक धार्मिक देश समझा जाता है। यहां पर हिंदू, मुसलमान व दूसरे लोग अपने अपने धर्म पर गर्व करते हैं और अपनी अपनी सच्चाई का सबूत देने के लिए एक-दूसरे का सिर तक फोड़ देते हैं। जिस चीज को धर्म कहा या कभी कभी संगठित धर्म कहा जाता है, उसके हिंदुस्तान में और बाकी जगहों में इस तरह प्रदर्शन ने मेरे दिल में खौफ पैदा कर रखा है। मैंने अक्सर इसे बुरा-भला कहा है और चाहा है कि इसे जड़ से ही खत्म कर दिया जाना चाहिए। मैंने अक्सर यह महसूस किया है कि यह तो अंधविश्वास और प्रतिगामी विचारों, रूढ़ियों और कट्टरता, मूढ़ विश्वास, शोषण और स्वार्थ साधने की चीज है। मगर मैं जानता हूं कि इसमें कुछ और भी है, कुछ ऐसी चीज है जो मानव प्राणियों के दिलों में गहरा आकर्षण पैदा करती है। नहीं तो इसका एक जबरदस्त ताकत बनना और अब भी ऐसे ही बने रहना और दुखों के मारे अनगिनत लोगों को सुख और शांति देना कैसे मुमकिन था? क्या यह शांति सिर्फ उन लोगों को मिलती है, जो लोग अंधविश्वास करते हैं और जो तर्क की भावना को छोड़े हुए होते हैं? क्या यह वैसी ही शांति होती थी, जो समुद्र के तूफान से बचकर किसी को बंदरगाह में आने पर मिलती है या कुछ और भी थी? कुछ मामलों में तो सचमुच यह इससे कुछ ज्यादा ही थी।

संगठित धर्म पहले चाहे जैसा भी रहा हो, लेकिन आज तो यह खाली एक खोल ही रह गया है, जिसके अंदर कोई भी असली चीज नहीं है। मिस्टर जी. के. चेस्टरटन ने इसकी (खुद अपने धर्म के किसी खास ब्रांड की नहीं बल्कि दूसरों के धर्म की) मिसाल एक फॉसिल से दी है, जो किसी जानवर या किसी और प्राणी की शक्ल का होता है, लेकिन जिसके भीतर से उसका जीवन तत्व बिल्कुल निकल चुका होता है। लेकिन जिसका ऊपरी हिस्सा सिर्फ इसलिए वैसा ही रह गया है कि उसके अंदर कोई बिल्कुल ही जुदा चीज भर गयी है। और अगर कोई कीमती चीज अब भी बाकी है तो उस पर कोई दूसरी और ही खराब चीज लिपटी हुई है...।

मेरे एक रोमन कैथलिक दोस्त ने मुझे जेल में कैथलिक धर्म पर कई किताबें और पोप द्वारा जारी आदेशों वगैरह की प्रतियां भेजी थीं। मैंने इस सामग्री को बड़े चाव से पढ़ा। पढ़ते वक्त मैंने यह महसूस किया कि ढेर सारे लोगों पर इनका कितना असर है। इस्लाम

एन आटोबायोग्राफी पृ. 374-80

और आम हिंदू धर्म की तरह यह भी लोगों को तर्क-कुतर्क और बौद्धिक द्वंद्व की स्थिति में आश्रय देता है और भविष्य के जीवन के बारे में भरोसा दिलाता है कि अगले जन्म में इस जीवन की कमियां पूरी हो जायेंगी।

अगर मैं इस तरह की क्रांति चाहूं तो यह असंभव है। इसके बदले मैं तो समुद्र में रहना चाहता हूं, जहां खूब तूफान और बवंडर हो। जीवन के बाद या मरने के बाद क्या होता है? इसी जिंदगी की इतनी समस्याएं हैं कि इनसे ही दिमाग भरा रहता है। मुझे तो परंपरा से चली आयी चीनियों की जीवन दृष्टि पसंद आती है, जो बुनियादी तौर पर नैतिक है, पर उसमें धार्मिकता नहीं है और वह धर्म के नजरिये से नास्तिक है। हालांकि जिस तरह वह व्यवहार में लाई जा रही है, उससे शायद मैं सहमत नहीं हूं। मुझे तो ताओ पसंद है यानी वह भाग जिस पर चलना चाहिए, वह जो जीवन की पद्धति होनी चाहिए। किस तरह जीवन को समझा जाये, उसको त्यागा नहीं बल्कि स्वीकार किया जाये। उसके अनुसार चला जाये और उसको उन्नत बनाया जाये। मगर धर्म के बारे में आम नजरिये का इस दुनिया से नाता नहीं रहता। मुझे तो यह नजरिया इस बात के खिलाफ लगता है साफ साफ सोचा जाये। इसकी वजह यह है कि यह नजरिया कुछ निश्चित और अटल सिद्धांतों और मतों को चुपचाप स्वीकार करने का है, इसके अलावा यह श्रद्धा और भावना पर आधारित है...। यह संकीर्ण है और दूसरों के मत और विचारों को बरदाश्त नहीं करता। यह आत्मकेंद्रित और अहंकारपूर्ण होता है और इस तरह स्वार्थी और अवसरवादी लोग इससे लाजिमी तौर पर अनुचित फायदा उठाते हैं।

इसका यह मतलब नहीं कि धर्म मानने वाले व्यक्ति उच्च कोटि के सदाचारी और आध्यात्मिक नहीं होते। लेकिन यह बात जरूर है कि अगर नैतिकता और आध्यात्मिकता को इस दुनिया की कसौटी से परखा जाना हो और इसके अलावा कोई दूसरी कसौटी नहीं हो, तब इस धार्मिक नजरिये से किसी भी राष्ट्र की नैतिक और आध्यात्मिक प्रगति होने में कोई मदद नहीं मिलती, बल्कि अड़चन ही पैदा होती है। आमतौर पर धर्म ईश्वर या परमतत्व की ऐसी तलाश का साधन हो जाता है, जिसका समाज से कोई सरोकार नहीं होता और धार्मिक व्यक्ति को समाज के हित के बजाय अपनी मुक्ति की ज्यादा फिक्र होती है। रहस्यवादी व्यक्ति समाज का हित चाहने के बजाय अपने में छुटकारा पाने की कोशिश करता रहता है और इस प्रक्रिया में आमतौर पर यही अहं उस पर सवार हो जाता है। नैतिक कसौटी का संबंध समाज की जरूरतों से नहीं रहता, बल्कि यह कसौटी पाप के बारे में अत्यंत सूक्ष्म सिद्धांतों पर आधारित होती है और संगठित धर्म तो हमेशा स्वार्थ को जन्म देता है, और इस तरह लाजिमी तौर पर वह परिवर्तन और प्रगति के लिए एक प्रतिगामी शक्ति होता है...।

हम सभी जानते हैं कि शब्द खुद ही संचार के बहुत ही अपूर्ण साधन हैं और उनको

कई तरीकों से समझा जाता है। 'धर्म' (दूसरी भाषाओं में इसी अर्थ वाला शब्द) शब्द से अलग अलग जितने अर्थ अलग अलग व्यक्तियों द्वारा लगाये जाते हैं, उतने अर्थ शायद ही किसी दूसरे शब्द के लगाये जाते हों। इस शब्द को सुनने या पढ़ने पर शायद ही किन्हीं दो व्यक्तियों के मन में एक जैसे विचार या बिंब आते हों। शब्द सुनकर हमारे मन में कर्मकांडों और रीति-रिवाजों, धर्म ग्रंथों, मनुष्यों के एक खास समुदाय, कुछ खास मतों, नैतिक आदर्शों, श्रद्धा, प्रेम, भय, घृणा, दया, त्याग, तपस्या, उपवास, भोज कराने, प्रार्थना, प्राचीन इतिहास, विवाह, मृत्यु, परलोक, लड़ाई-झगड़े और सिर फुटौवल वगैरह के दृश्य या भाव पैदा होते हैं। इन तरह तरह के बिंबों या अर्थों के पैदा होने पर मन में बड़ी उलझन तो पैदा होती ही है, साथ ही हम भावुक भी हो उठते हैं, जिससे तटस्थ होकर सोचना-समझना मुश्किल हो जाता है। 'धर्म' शब्द का सटीक अर्थ (अगर कोई था) बिल्कुल ही खत्म हो गया है और हमें अब यह सिर्फ उलझन में डाल देता है और जब इसके बिल्कुल ही जुदा अर्थ लगाये जाते हैं, तब लंबी-चौड़ी बहस होने लगती है और तर्क-कुतर्क पेश किये जाते हैं। यह बहुत ज्यादा अच्छा हो यदि इस शब्द का इस्तेमाल बिल्कुल ही बंद कर दिया जाये और ब्रह्म विज्ञान, दर्शन, आदर्श, नैतिकता, अध्यात्म, तत्वमीमांसा, कर्तव्य, लोकाचार आदि कुछ और दूसरे ही शब्दों का इस्तेमाल किया जाये जिनका अर्थ सीमित होता है। यों तो ये शब्द भी काफी अस्पष्ट हैं, लेकिन 'धर्म' की तुलना में इनके अर्थ तो सीमित हैं। इसका एक सबसे बड़ा लाभ तो यह होगा कि इन शब्दों के साथ लोगों का उतना लगाव नहीं है, जितना कि धर्म के साथ है।

तो धर्म क्या है (यहां इस शब्द से होने वाली हानि के बावजूद इसी का प्रयोग किया जा रहा है)? शायद इस शब्द के अर्थ में व्यक्ति का आंतरिक विकास, एक निश्चित दिशा में व्यक्ति की चेतना के विकास की भावना निहित है। अब यह बहस हो सकती है कि यह दिशा कौन-सी है। लेकिन जहां तक मैं समझता हूं, धर्म इस आंतरिक परिवर्तन पर बल देता है और बाहर होने वाले परिवर्तन को आंतरिक परिवर्तन की अभिव्यक्ति मानता है। इसमें कोई शक नहीं कि यह आंतरिक विकास बाहरी वातावरण पर जबरदस्त असर डालता है। लेकिन यह भी स्पष्ट है कि बाहरी वातावरण आंतरिक विकास पर जबरदस्त असर डालता है। दोनों का एक-दूसरे पर असर होता है और आपस में क्रिया-प्रतिक्रिया होती है। यह सभी जानते हैं कि पश्चिम के औद्योगिक मुल्कों में आंतरिक विकास की बनिस्बत बाहरी विकास बहुत ज्यादा हुआ है, लेकिन इसका यह मतलब नहीं है कि जैसा कि पूरब के मुल्कों में बहुत से लोग समझते हैं कि चूंकि हम लोग औद्योगिक दृष्टि से पिछड़े हुए हैं और हमारा बाहरी विकास धीमा रहा है, इसलिए हमारा आंतरिक विकास बहुत ज्यादा हुआ है। यह एक भ्रम है, जिससे हम लोग अपने को तसल्ली देते हैं और अपनी हीनता की भावना से ऊपर उठने की कोशिश करते हैं। हो सकता है कि कुछ इक्के-दुक्के लोग

अपनी परिस्थितियों और वातावरण से ऊपर उठ जायें और अत्यधिक आत्मिक उन्नति कर लें। लेकिन बड़े बड़े वर्गों और राष्ट्रों के लिए आंतरिक विकास होने के पहले कुछ हद तक बाहरी विकास का होना जरूरी है। जो व्यक्ति आर्थिक परिस्थितियों का शिकार है और जीवन संघर्ष से घिरा हुआ है और उसके सामने तरह तरह की रुकावटें हैं, वह शायद ही कुछ ज्यादा ऊंची आत्मिक उन्नति कर सके। जो वर्ग पददलित और शोषित होता है, वह कभी भी आत्मिक उन्नति नहीं कर सकता। जो मुल्क सियासी और आर्थिक दृष्टि से किसी दूसरे मुल्क का गुलाम होता है, जो बंधनों से बंधा और चारों तरफ से घिरा होता है, जो शोषित होता है वह कभी भी आत्मिक उन्नति नहीं कर सकता। इस तरह आत्मिक उन्नति के लिए भी बाह्य स्वतंत्रता और समुचित वातावरण का होना जरूरी होता है। इस बाह्य स्वतंत्रता को हासिल करने और वातावरण को बदलने के लिए, जिससे आत्मिक विकास के रास्ते में आने वाली सभी रुकावटें दूर हो सकें, यह आवश्यक है कि साधन ऐसे हों, जिससे असली उद्देश्य ही न खत्म हो जाये। जब गांधी जी यह कहते हैं कि उद्देश्य की तुलना में साधन ज्यादा महत्वपूर्ण होते हैं, तब उनका कुछ ऐसा ही आशय होता है। मगर साधन ऐसे जरूर होने चाहिए, जो हमें हमारे उद्देश्य तक ले जायें, नहीं तो हमारी सारी कोशिशें बेकार जायेंगी और इसका नतीजा यह भी हो सकता है कि आत्मिक और बाहरी दोनों दृष्टियों से हमारा और भी पतन हो जाये।

गांधी जी ने कहीं लिखा है, "कोई भी व्यक्ति धर्म के बिना नहीं रह सकता। कुछ ऐसे लोग हैं, जो अपने तर्क के घमंड में रहते हैं कि हमारा धर्म से कोई संबंध नहीं है। मगर यह तो ऐसी बात हुई जैसे कोई आदमी सांस लेता हो, लेकिन यह कहता हो कि मेरे नाक नहीं है।" वे एक दूसरी जगह पर कहते हैं, "सत्य के प्रति मेरी आस्था मुझे राजनीति के क्षेत्र में लाई और मैं बिना किसी झिझक के विनम्रतापूर्वक यह कहता हूं कि जो लोग यह कहते हैं कि 'धर्म' का राजनीति से कोई नाता नहीं है, वह यह समझते ही नहीं कि 'धर्म' का क्या अर्थ है। अगर वे यह कहते तो शायद ज्यादा ठीक होता कि जो लोग धर्म को जीवन और राजनीति से अलग करना चाहते हैं, उनमें से ज्यादातर लोग धर्म के वह माने नहीं जानते, जो मैं समझता हूं। जाहिर है कि वे इसका इस्तेमाल एक ऐसे अर्थ में कर रहे हैं, जो धर्म की आलोचना करने वालों के अर्थ से जुदा है। इस तरह एक ही शब्द का इस तरह जुदा जुदा तरीके से इस्तेमाल होने से एक-दूसरे को समझना मुश्किल हो जाता है।"

धर्म की एक सबसे आधुनिक परिभाषा प्रोफेसर जान डेबी ने की है, जिससे धार्मिक लोग सहमत नहीं होंगे। उनके मुताबिक, जो भी हमें लोक जीवन के खंड खंड और परिवर्तनशील दृश्यों को समझने के लिए शुद्ध दृष्टि देता है, वह धर्म है। या फिर यह कि अगर कोई कार्य किसी आदर्श के अनुसार और बाधाओं के विरुद्ध, व्यक्तिगत हानि की

आशंका के बावजूद किया जाता है, तब उसका गुण धार्मिक होता है क्योंकि इस कार्य की पृष्ठभूमि में विश्वास और सनातन मूल्य होता है। अगर यही धर्म है, तब जाहिर है कि किसी को कोई एतराज नहीं होना चाहिए।

रोम्यां रोलां ने भी धर्म का कुछ और ही अर्थ बताया है, जिससे शायद संगठित धर्म को मानने वाले कट्टर लोग भयभीत हो जायेंगे। वह अपनी पुस्तक 'लाइफ आफ रामकृष्ण' में लिखते हैं--बहुत से व्यक्ति ऐसे हैं, जो सभी तरह की धार्मिक आस्थाओं से मुक्त हैं और अपने को ऐसा ही समझते हैं, लेकिन इन लोगों में असलियत में एक अति बौद्धिक चेतना व्याप्त रहती है, जिसे वे समाजवाद, साम्यवाद, मानवतावाद, राष्ट्रवाद और यहां तक कि बुद्धिवाद भी कहते हैं। यह किसी भी विचार का गुण ही होता है न कि उसका उद्देश्य, जो उसके स्रोत को निर्धारित करता है और हमें यह निर्णय करने की छूट देता है कि अमुक का मूल धर्म है या कुछ और। अगर यह विचार हमें निर्भय होकर किसी भी बलिदान के लिए तैयार हो, एकनिष्ठ हो, सत्य की खोज में प्रवृत्त करता है, तब मैं इसे धार्मिक कहता हूं क्योंकि इसमें यह विश्वास निहित रहता है कि मानवीय पुरुषार्थ मौजूदा समाज के जीवन से, बल्कि समस्त मानवता के जीवन से भी ऊंचा होता है। नास्तिकता भी, जब वह बलवती प्रवृत्तियों से होकर मूल की ओर बढ़ती है, जब वह किसी निर्बलता की नहीं, शक्ति की अभिव्यक्ति होती है, तब वह धार्मिक आत्मा की महान सेना के प्रमाण में शामिल हो जाती है।

मैं यह नहीं कह सकता कि मैं रोम्यां रोलां की इन शर्तों को पूरा करता हूं, लेकिन इन शर्तों के आधार पर मैं उस महान सेना का विनम्र सैनिक बनने को तैयार हूं।

धर्म, दर्शन और विज्ञान

हिंदुस्तान के लोगों को चाहिए कि वह इस मुल्क के बीते हुए जमाने की बातों को छोड़ दें और पिछले जमाने को मौजूदा जमाने पर हावी न होने दें। हमारी जिंदगी इस गुजरे हुए जमाने की बेकार की बातों से दबी हुई है। जो बीत चुका है और जिनका मकसद पूरा हो चुका है, उसे जाना ही चाहिए। लेकिन इसका यह मतलब नहीं कि गुजरे जमाने की उन चीजों से हम अपना नाता तोड़ दें या उनको बिल्कुल भूल जायें, जो गुजरे जमाने में ताकत और जिंदगी देती थीं। हम उन आदर्शों को कभी नहीं भूल सकते, जिन्होंने हमारी कौम को जिंदा रखा है। हम उन सपनों को नहीं भूल सकते, जो हिंदुस्तान की जनता वर्षों से देखती आयी है। पुराने जमाने के लोगों की बुद्धिमत्ता को, जिंदगी और प्रकृति के बारे में अपने पुरखों के प्रेम और उमंग को, उनकी खोज और जिज्ञासा की भावना को, विचारों के क्षेत्र में उनकी साहसिकता को, सच्चाई, सुंदरता और आजादी के लिए उनकी मुहब्बत को, उनके द्वारा स्थापित उन बुनियादी मूल्यों को, जिन्हें उन्होंने स्थापित किया था, जिंदगी के रहस्य के बारे में उनकी समझ को, अपने से ज्यादा दूसरों के तौर-तरीके समझने के उनके स्वभाव को, दूसरे मुल्क के लोगों और उनकी संस्कृति की सफलताओं को अपनाने की उनकी सामर्थ्य को और इन सबका अपने साथ समन्वय कर बहुरंगी और मिली-जुली संस्कृति का विकास करने की क्षमता को हम बिल्कुल भी नहीं भूल सकते हैं, जिन्होंने हमारी प्राचीन कौम का निर्माण किया और जो हमारे दिमाग में कहीं न कहीं दबे हुए पड़े हैं। हम उन्हें कभी नहीं भूल सकते। हमें अपनी इस विरासत पर हमेशा गर्व रहेगा और अगर हिंदुस्तान उनको भूल जायेगा, तब वह हिंदुस्तान जैसी कोई चीज नहीं रह जायेगा, जिससे हमें उस पर खुशी और शान महसूस होती है।

हमको अपना नाता इससे नहीं तोड़ना है, बल्कि सदियों की उस गर्द और गंदगी से, जिसने उसे ढक लिया है और जिसने उसकी अंदरूनी खूबसूरती और विशेषता को छिपा दिया है, उसकी फालतू और अधकचरी चीजों से नाता तोड़ना है, जिन्होंने उसके असली स्वरूप को तोड़-मरोड़ दिया और उसे भ्रष्ट कर डाला है, उसे एक कठोर सांचे में कस दिया है और उसके विकास को रोक दिया है। हमें उसकी फालतू बातों को निकाल देना है और

दि डिस्कवरी आफ इंडिया, पृष्ठ 541-47 से

पुराने ज्ञान को नये सिरे से अपनाना और अपनी मौजूदा परिस्थितियों के साथ उसका मेल बिठाना है। हमें सोचने और रहन-सहन के पुराने ढर्रे से बाहर आना है, जिसने गुजरे जमाने में काफी अच्छाई पहुंचाई और तब इनमें सचमुच ही बहुत अच्छाई थी, लेकिन आज इनकी कोई अहमियत नहीं है। हमें मानव जाति की सभी अच्छाईयों को अपनाना है और दूसरों के साथ मानव जाति द्वारा की जाने वाली साहसपूर्ण खोज में साथ साथ रहना है। यह खोज पुराने जमाने के मुकाबले में अब ज्यादा दिलचस्प है और हमें यह याद रखना है कि अब यह खोज देश की सीमाओं या पुराने बंधनों से नियंत्रित नहीं रह गयी है और अब इसमें सभी जगह के आदमी शरीक हैं। सच्चाई, खूबसूरती और आजादी के लिए उसको हमें फिर से जगाना है, जिससे जिंदगी सार्थक होती है और उस गतिशील नजरिये और खोज की उस भावना को फिर पैदा करना है, जिसने हमारी मानव जाति को यह एक खासियत दी कि हमारी सत्ता मजबूत और पक्की बुनियाद पर खड़ी हो सके। हमारी कौम बहुत पुरानी है, यह इतनी पुरानी है कि जितना समग्र मानव जाति का इतिहास और उसके अनथक काम हैं, लेकिन हमें मौजूदा वक्त के साथ कदम मिलाकर मौजूदा वक्त के भरपूर जोश और जवानों की खुशी के साथ भविष्य पर यकीन करते हुए फिर से जवान बनने की कोशिश करनी है।

तरह तरह के धर्मों ने मानवता की तरक्की में भारी मदद की है। उन्होंने मूल्य और मानदंड निश्चित किये हैं और जिंदगी में रास्ता दिखाने वाले उसूल भी बनाये हैं। लेकिन जो भी भलाई उन्होंने की है, उसके साथ ही उन्होंने सच्चाई को खास खास नियमों और सिद्धांतों में कैद कर रखने की भी कोशिश की है और उन्होंने कर्मकांड और रीति रिवाजों को बढ़ावा दिया है, जिनका असली मतलब जल्दी ही गायब हो गया और यह खानापूरी बन कर रह गया। आदमी के चारों ओर जो अज्ञात शक्ति है, धर्म ने उसके बारे में उसमें डर की भावना पैदा की और उसे रहस्यपूर्ण बताया। उसने उसके मन में न सिर्फ इस अज्ञात शक्ति को, बल्कि उन बातों को भी समझने से निरुत्साहित किया, जो उसके सामाजिक प्रयत्नों की राह में आती हैं। उसने जिज्ञासा और विचार शक्ति को बढ़ावा देने के बजाय प्रकृति, स्थापित संप्रदाय और मौजूदा सामाजिक व्यवस्था और ऐसी ही अन्य चीजों के आगे आत्मसमर्पण करने की विचारधारा की शिक्षा दी। इस विश्वास से कि कोई दैवी शक्ति हमारी हर चीज का नियंत्रण करती है, सामाजिक स्तर पर गैर जिम्मेदारी की भावना पैदा हो गयी और तर्कसंगत विचार और खोज करने की प्रवृत्ति की जगह भावुकता घर कर गयी। हालांकि इसमें कोई शक नहीं कि धर्म ने अपने मूल्यों द्वारा अनगिनत लोगों को आराम पहुंचाया, लेकिन इसके साथ ही उसने मानव समाज को बदलने और उन्नति करने की उस प्रवृत्ति पर रोक लगा दी, जो उसमें जन्मजात प्रवृत्ति रही है।

ये कमियां आमतौर पर दर्शन में नहीं मिलतीं और उसने खोज और विचार करने की

प्रवृत्ति को बढ़ावा दिया है। लेकिन आमतौर पर वह एक हवाई महल में पनपा और रोजमर्रा के सवालों से उसका कोई नाता नहीं रहा। उसका सारा ध्यान अंतिम लक्ष्यों पर रहा और इन लक्ष्यों के साथ आदमी की जिंदगी को जोड़ने में वह कामयाब नहीं हुआ। वह तर्क और बुद्धि से संचालित रहा। यह तर्क और बुद्धि उसे अनेक दिशाओं में बहुत दूर दूर तक ले गयी। इस तर्क का इस्तेमाल जरूरत से ज्यादा चिंतन की उड़ान के लिए किया गया और असलियत से उसका कोई ताल्लुक नहीं रहा।

विज्ञान ने अंतिम लक्ष्यों पर ध्यान नहीं दिया और सिर्फ असलियत पर ही गौर किया। इसकी वजह से दुनिया ने काफी तरक्की की और बहुत दूर निकल गयी। जानकारी के लिए अनगिनत रास्ते खुल गये और आदमी को इतना ज्यादा ताकतवर बना दिया कि यह महसूस होने लगा कि वह अपने चारों ओर फैली प्रकृति और उसके वातावरण को अपनी मुट्ठी में रख सकता और मनमाने तरीके से उसको अपने मुताबिक ढाल सकता है। आदमी एक तरीके से भूगर्भिक शक्ति बन गया, जो इस पृथ्वी की शक्ल को रासायनिक, भौतिक और दूसरे तरीकों से बदल सकता है। लेकिन दुनिया की सभी चीजों को बदलने की या दुखद ताकत अब उसे अपने हाथ में आती मालूम हुई और ऐसा महसूस हुआ कि मैं अपनी इच्छा के मुताबिक हर चीजों को ढाल सकता हूं, तभी उसे किसी बुनियादी चीज की कमी भी महसूस हुई और ऐसा लगा कि कोई ऐसी चीज छूट गयी है, जो उसे जिंदगी देती है। हमें अपने अंतिम लक्ष्य का भी कुछ पता नहीं था। इसकी वजह यह थी कि विज्ञान ने जिंदगी के उद्देश्य के बारे में कुछ भी नहीं बताया था। हालांकि इस आदमी में कुदरत पर काबू पाने की जबरदस्त ताकत थी, लेकिन उसमें खुद अपने पर काबू पाने की ताकत नहीं थी और अब यह दानव, जिसका उसने निर्माण किया था, चारों ओर तोड़-फोड़ करने लग गया। शायद प्राणिशास्त्र, मनोविज्ञान या ऐसे ही दूसरे विज्ञान के विकास से और प्रणिशास्त्र और भौतिकी की व्याख्याओं से आदमी को पहले के मुकाबले अब अपने को समझने और अपने पर काबू पाने में सहायता मिले। यह भी मुमकिन है कि ऐसी तरक्की से आदमी की जिंदगी पर बहुत कुछ असर पड़े, उससे पहले ही वह अपनी बनायी हुई सभ्यता को नष्ट कर दे और उसे फिर नये सिरे से शुरू करना पड़े।

अगर विज्ञान को तरक्की करने के लिए छोड़ दिया जाये तो जाहिर है इसकी तरक्की की कोई हद नहीं दिखाई देती। फिर ऐसा भी हो सकता है कि गौर करने का वैज्ञानिक तरीका हर तरह के मानव अनुभव के लिए लागू न हो और वह हमारे चारों और फैले विशाल अनजान समुद्र को पार न कर सके। दर्शन की मदद से वह कुछ और आगे जा सकता है और इस विशाल समुद्र में कुछ हाथ-पैर चला सकता है। लेकिन जब विज्ञान और दर्शन दोनों ही आगे काम न दे सकें, तब हमें ज्ञान की उन सभी शक्तियों का सहारा लेना होगा, जो हमारे लिए उपलब्ध हों। लेकिन ऐसा लगता है कि कोई ऐसी हद है, जिसके आगे तर्क

या हमारी बुद्धि-जैसी कि इस वक्त है, नहीं जा सकती।

तर्क और वैज्ञानिक तरीके की इन सीमाओं को जानते हुए भी हमें पूरी कोशिश कर उन्हें अपना आधार बनाये रखना है क्योंकि इस पक्की बुनियाद और पृष्ठभूमि के बिना हम किसी भी सच्चाई या असलियत को अपने काबू में नहीं रख सकते। सच्चाई के किसी भी एक पहलू को समझ लेना और उसे अपनी जिंदगी में अमल में लाना इस बात से कहीं ज्यादा बेहतर है कि हम उसे बिल्कुल भी नहीं समझ सकें और अस्तित्व के रहस्य को खोज करने की कोशिश में कामयाब न होने पर इधर-उधर भटकते रहें। आज हर मुल्क के लिए और हर कौम के लिए विज्ञान का इस्तेमाल जरूरी और लाजिमी है। लेकिन इसके इस्तेमाल के मुकाबले कुछ और ज्यादा जरूरी है, वैज्ञानिक तरीका खोज करने और साथ साथ विश्लेषण करने का विज्ञान का तरीका, सच्चाई जानने और जानकारी हासिल करने की कोशिश, परीक्षण या प्रयोग किये बिना किसी भी चीज को मानने से इंकार करना, नये सबूत मिलने पर पिछले नतीजों को बदल सकने की ताकत, पहले से मानकर बनाये गये सिद्धांतों के बजाय देख-परख कर हासिल की गयी जानकारी पर भरोसा, अपनी बुद्धि के तर्क पर कठोर अनुशासन आदि भी जरूरी है। यह सब बातें सिर्फ विज्ञान के इस्तेमाल में ही नहीं, बल्कि खुद जिंदगी के लिए और इसकी बहुत-सी समस्याओं को हल करने के लिए भी जरूरी होती हैं। आज बहुत से वैज्ञानिक, जो अपने आपको विज्ञान का पुजारी कहते हैं, अपने निश्चित दायरों से बाहर निकल कर इन बातों को भूल जाते हैं। वैज्ञानिक तरीका या दृष्टिकोण जिंदगी का एक आम रवैया हमारे सोचने, हमारे काम करने और अपने साथियों के साथ रहने-सहने का तरीका होता है और इसे वैज्ञानिक होना ही चाहिए। यह एक बहुत बड़ी चीज है और इसमें कोई शक नहीं कि हमें ऐसे बहुत कम लोग मिलेंगे, जो इस तरह कुछ हद तक काम करते हों। यही बात पूरी तौर से या बहुत हद तक उस रोक पर भी लागू होती है, जो दर्शन और धर्म ने हम पर लगा रखी है। वैज्ञानिक दृष्टि मानों उस रास्ते की ओर एक संकेत है, जिस पर हमें चलना चाहिए। यह आजाद आदमी की दृष्टि होती है। हम विज्ञान के युग में रहते हैं और हमसे यही कहा भी जाता है, लेकिन यह दृष्टि न तो जनता में और न ही उसके नेताओं में दिखाई देती है।

विज्ञान का प्रत्यक्ष-ज्ञान के क्षेत्र से ताल्लुक है, लेकिन जो इससे हममें प्रवृत्ति पैदा होती है, उसका ताल्लुक विज्ञान के अलावा दूसरे और क्षेत्रों से भी है। आदमी का आखिरी मकसद ज्ञान प्राप्त करना, सच्चाई को समझना, अच्छाई और खूबसूरती को पहचानना कहा जाता है। प्रत्यक्ष छानबीन का वैज्ञानिक तरीका इन सब पर लागू नहीं होता और ऐसा लगता है कि जो कुछ जिंदगी में जरूरी है, वह इसकी पहुंच से बाहर है, जैसे कला और कविता के प्रति संवेदनशीलता, वह भावना जो हममें सुंदरता से पैदा होती है या अच्छाई के बारे में पैदा होने वाली अनुभूति। हो सकता है कि वनस्पति-विज्ञानी, प्राणि-विज्ञानी के आकर्षण

और सौंदर्य को कभी नहीं महसूस कर पायें। इसी तरह समाज-विज्ञानी में भी मानवता के बारे में प्रेम का बिल्कुल ही अभाव हो। लेकिन जब हम ऐसे क्षेत्र में पहुंच जायें, जो वैज्ञानिक दृष्टिकोण से परे हो और पर्वत के शिखरों पर पहुंच जायें, जहां दर्शन का राज्य है और जिन्हें देख कर हमारे मन में तरह तरह की कल्पनाएं होने लगें या जिनके पीछे का विशाल भूभाग देख हम ठिठके से रह जायें, वह दृष्टिकोण और भाव भी बहुत जरूरी है।

धर्म का तरीका तो बिल्कुल ही जुदा है। इसका संबंध मुख्यतया उन बातों से है, जो प्रत्यक्ष छानबीन की पहुंच से परे हैं। इसकी बुनियाद भावना और अंतर्ज्ञान है। और यह इसी दृष्टिकोण को जिंदगी में हर चीज पर लागू करता है। धर्म का संगठित रूप धर्मशास्त्रों से जुड़ा रहता है और यह असलियत के बजाय ज्यादातर निहित स्वार्थों पर ध्यान देता है। यह एक ऐसी भावना को बढ़ावा देता है, जो विज्ञान की भावना के ठीक उल्टी होती है। यह संकीर्णता और असहनशीलता, सस्ती भावुकता और अंधविश्वास, भाव प्रवणता और तर्कहीनता को जन्म देता है। इसमें इंसान के दिमाग को बंद कर देने और उसे बांध देने और उसे किसी पर निर्भर रहने और आजाद न रहने की भावना पैदा करने की प्रवृत्ति पायी जाती है।

ज्यों ज्यों हमारा ज्ञान बढ़ता जाता है, धर्म का क्षेत्र, जहां तक इसके संकीर्ण अर्थ का संबंध है, सिकुड़ता जाता है। जिंदगी और प्रकृति को हम जितना ज्यादा समझते जाते हैं, उतना ही दैवी शक्तियों पर हम कम ध्यान देने लगते हैं। जो कुछ हम समझ सकते हैं और जो कुछ हम नियंत्रित कर सकते हैं, वह रहस्य नहीं रह जाता। किसी जमाने में खेती का काम, हमारा खाना, हमारे कपड़े, हमारे समाजी रिश्ते—ये सब धर्म और उसके बड़े बड़े महंतों के अधीन होते थे। धीरे धीरे इन पर से उनका नियंत्रण हट गया और इनका वैज्ञानिक अध्ययन होने लग गया। फिर भी इनमें से बहुत-सी बातों पर धार्मिक विश्वासों का अब भी जबरदस्त असर है। अब भी आखिरी रहस्य इंसान के दिमाग की पहुंच से बाहर है और शायद यह इसी तरह आगे भी रहेगा। जिंदगी के बहुत-से रहस्यों का हल हो सकता है और उसकी जरूरत भी है, लेकिन आखिरी रहस्य जानने की जिद करना अभी न तो जरूरी है और न यह उचित ही है। जिंदगी में सिर्फ दुनिया की खूबसूरती ही नहीं है, बल्कि उसमें नयी नयी खोज करने के लिए चीजें भी हैं, जिनका कोई अंत नहीं है। नये नये दृश्य और रहन-सहन के नये नये तरीकों का पता लग रहा है, जिनसे यह और भी समृद्ध व और भी अधिक भरी पूरी होती जा रही है।

इसलिए हमें वैज्ञानिक रवैये और दृष्टिकोण को दर्शन से जोड़कर और जो कुछ भी उसके परे है, उसके प्रति श्रद्धा का भाव रखकर जिंदगी का सामना करना चाहिए। इस तरह जिंदगी की एक समेकित जीवन दृष्टि का निर्माण हो सकता है। इसके विशाल आयाम में हमारा इतिहास और वर्तमान, उसकी सारी अच्छाईयां और कमजोरियां सभी कुछ शामिल

होगा और जो बड़ी शक्ति और गंभीरता से भविष्य पर भी विचार करेगी। वह गहरायी है, उसकी अनदेखी नहीं की जा सकती। वहां सुंदरता है, लेकिन उसके पास ही दुख-तकलीफें भी हैं, जो हमें घेरे हुए हैं। जिंदगी में इंसान का सफर खुशियों ओर आंसुओं का एक अजीब मेल है। वह इसी तरह सीख सकता और तरक्की कर सकता है। जिंदगी का सफर दुख भरी कहानी है, जिसे अकेले भोगना पड़ता है। बाहरी घटनाओं और उनके नतीजों का हम पर जबरदस्त असर होता है, लेकिन हमारे दिमाग पर सबसे बड़े धक्के तो अंदरूनी डर या द्वंद्व होने से लगते हैं। जाहिरा तौर पर हम तरक्की करते हैं, जो अगर बने रहना है तो हमें करनी ही चाहिए, लेकिन हमको अपने भीतर अपने आप पर, अपनों के बीच और अपने चारों और शांति हासिल करनी होगी। यह शांति न केवल हमारी भौतिक और पार्थिव जरूरतों को पूरा करेगी, बल्कि जो हमारी उन अंदरूनी कल्पनात्मक प्रेरणाओं और साहसिक भावनाओं की भूख को भी शांत करेगी, जिन्होंने इंसान को अन्य प्राणियों की तुलना में तब से एक विशिष्ट प्राणी बनाया है, जब से उसने विचारों और कर्म की दुनिया में अपना साहसिक सफर शुरू किया था। इस सफर का कोई अंतिम लक्ष्य है या नहीं, यह हम नहीं जानते; लेकिन इसके अपने फायदे हैं और यह उन लक्ष्यों की ओर संकेत करता है, जो हमारी पहुंच में काफी नजदीक हैं और जहां से फिर आगे बढ़ने के लिए एक नयी कोशिश शुरू की जा सकती है।

विज्ञान पश्चिम की दुनिया पर हावी हो गया है और वहां सभी इसके गुन गाते हैं, लेकिन वहां लोग फिर भी वैज्ञानिक स्वभाव के असली स्वरूप को नहीं अपना सके हैं। उनको अपनी जिंदगी में इसकी भावना को अपनाना है। हिंदुस्तान में जाहिर है कि काफी लंबी मंजिल तय की जानी है। लेकिन हमारे रास्ते में बड़ी मुश्किलें कुछ ही आयेंगी। इसकी वजह यह है कि बाद के जमाने को छोड़कर हमारे गुजरे जमाने में हिंदुस्तान की विचारधारा का वैज्ञानिक स्वभाव और दृष्टिकोण के और साथ ही अंतर्राष्ट्रीयतावाद के साथ मेल रहा है। इसकी बुनियाद सच्चाई की निडर खोज, इंसान की मजबूती, यहां तक कि हर जानदार चीज की अलौकिकता पर, हर व्यक्ति और प्राणी के मुक्त और सहयोग आश्रित विकास पर रही है, जिससे वह और भी अधिक मुक्त हो सके और उसका और भी अधिक विकास हो सके।

अतीत और वर्तमान

अतीत को याद करना और उस युग की विभूतियों से शक्ति और प्रेरणा प्राप्त करना अच्छी बात है, लेकिन इसमें खतरा भी है। हिंदुस्तान में तो यह खतरा सबसे ज्यादा है। यहां हम हमेशा अपने अतीत के बारे में बढ़ा चढ़ा कर वर्णन करते हैं और दुनिया की सारी अच्छाईयां पुराने जमाने में ही देखते हैं। हम इन गुणों के मुताबिक चलने की ख्वाहिश करने या ऊपर उठने की कोशिश करने के बजाय अपनी मौजूदा हालत पर अफसोस करने और अपनी तकदीर को कोसने लगते हैं। हमारे दिमाग में अपने प्राचीन काल के गौरव और समृद्धि के बारे में कुछ अस्पष्ट-सी तस्वीर बनी हुई है, जब दूध-दही की नदियां बहा करती थीं और कहीं किसी बात की तकलीफ नहीं थी। हम अपने अतीत को, इस महानता के कारणों को जानने या यह समझने की कोशिश नहीं करते कि पुराने लोगों में जो गुण थे, उनमें से कौन-से हममें नहीं हैं। मेरा ख्याल है कि हम उनसे बहुत कुछ सीख सकते हैं, लेकिन हमें यह याद रखना होगा कि पिछले कुछेक बरसों से दुनिया एक जगह पर नहीं रही। शिक्षा और संस्कृति को लेकर दुनिया तरक्की करती और आगे बढ़ती है, हालांकि कभी कभी इसमें रुकावट आ जाती है और पीछे हटना पड़ता है। हमें दुनिया भर के इतिहास में इसी आम तरक्की की बातें देखने को मिलती हैं और सच बात तो यह है कि अगर हम यह यकीन न करें कि दुख-तकलीफों से भरी हमारी इसी दुनिया में धीरे धीरे एक और भी अच्छी व्यवस्था का जन्म हो रहा है, तब जिंदगी एक ऐसा बोझ हो जायेगी जिसे ढोना मुश्किल होगा। हमारी पुरानी सभ्यता इस नयी व्यवस्था के विकास में बहुत कुछ योगदान कर सकती है, बशर्ते कि हम उसकी बुनियादी बातों को समझें और उनके मुताबिक अपनी जिंदगी को ढालें और असल चीजों और बुनियाद को भूलकर बाहरी चमक दमक में अपने को न भुला बैठें।

मैं यहां उस प्राचीन सभ्यता की बुनियादी बातों को तफसील से बयान नहीं करूंगा, वैसा करने की काबलियत मुझमें नहीं है। लेकिन कुछ मोटी मोटी बातों का मुख्तसर में जिक्र जरूर करूंगा। मुझे लगता है कि पुराने आर्य बड़े ही रचनात्मक थे। वे कर्मठ थे। उनमें हर बात को जानने की ख्वाहिश थी और वह अपने को हर तरह ढालना जानते थे। उन्हें आजादी से प्यार था और वह जिस्मानी या दिमागी आजादी पर किसी तरह की पाबंदी

अगस्त, 1934 में संभवतया लिखे गये लेख से, जब वह जेल में थे। *सेलेक्टेड वर्क्स,* वाल्यूम 6, पृष्ठ 435-39

बर्दाश्त नहीं कर सकते थे। वे सत्य, हर बात पर गहराई से सोचने, जरूरत पड़ने पर घोर कष्ट उठाने, सर्वथा नवीन तथा भयंकर से भयंकर निर्णय लेने से नहीं घबराते थे। वे नयी नयी कल्पनाओं और दुनिया के नये नये क्षेत्रों की खोज करते रहते थे, जिससे और आगे तरक्की और विजय हासिल की जा सके। उनमें साहस होता था, उनके लिए जिंदगी एक मनोरंजक खेल थी, इस दुनिया में और इसके बाद ज्ञान की खोज होती थी।

और हम, हम उनकी अदनी संतानें हैं। लेकिन हम अपने महान पूर्वजों पर गर्व करते हैं, हम क्या हैं? एक पस्त, निकम्मी और जाहिल कौम, जो अपनी आजादी या स्वाभिमान को भुला बैठी है। बहुत सारी पाबंदियां हमारी जिंदगी के उसूल बन गयी हैं। तुम दूसरों के साथ नहीं खाओ-पियोगे, तुम इन्हें या उन्हें नहीं छुओगे, तुम समुद्र पार नहीं जाओगे वगैरह वगैरह। हम इस पुराने जमाने की एक बहुत बड़ी पाबंदी को भूल गये। तुम किसी की गुलामी कबूल नहीं करोगे। मैं समझता हूं कि हमारे पास इस पाबंदी के बारे में सोचने का वक्त नहीं है क्योंकि हम अपने खान-पान और दूसरी रस्म-रीतियों में बेहतर उलझे हुए हैं। बूढ़े मेंढक की तरह हम एक तालाब में रह रहे हैं और हमने समझ लिया है कि यही सारी दुनिया है और हमारे अंदर सारा ज्ञान और सारे गुण मौजूद हैं और हमें कुछ और जानने या समझने की जरूरत नहीं है। प्रकृति ने हमसे इसका बदला ले लिया है। दुनिया आगे बढ़ गयी है। उसने हमें बहुत पीछे छोड़ दिया है। हम ऐसे ऐसे अंधविश्वास और रूढ़ियों से घिरे हुए हैं, जिन्हें हम समझते तक नहीं। हमारी आस्थाएं पुरानी इमारत का खंडहर बन अब साफ-सुथरी नहीं रह गयी हैं और वह हर तरह की गंदगी, निशान और लकीरों से खुरच उठी हैं। आज हमारी अंतरात्मा पर उन लोगों का कब्जा है, जो तंग नजर हैं, कट्टर हैं और जो खोखली रीति-रस्म के अलावा कुछ और नहीं जानते। गोमटे ने कहा कि ऐसे अध्यापक से ज्यादा खतरनाक बात और क्या हो सकती है, जो सिर्फ उतना ही जानता है जितना कि विद्यार्थियों से उम्मीद की जा सकती है। लेकिन यहां तो अध्यापक को उतनी भी जानकारी नहीं है, जितनी विद्यार्थी को है।

हमें मुर्दा और जड़ बने रहने की इस आदत को छोड़ देना चाहिए और उसे नये तर्क की रोशनी में परखते रहना चाहिए, चाहे वह रोशनी कितनी भी मद्धिम क्यों न हो। आज की दुनिया में कट्टरपंथियों के लिए कोई जगह नहीं है। हममें चीजों को जानने, उन्हें समझने की उमंग होनी चाहिए। हमें ज्ञान ग्रहण करते रहना चाहिए, जो चाहे वह पूरब के मुल्कों से मिले या पश्चिम से। कुल मिलाकर हमें उन तमाम बुराइयों से छुटकारा पाना है, जो हममें आ गयी हैं और हमारी सारी व्यवस्था में जहर भर देना चाहती हैं। अगर हम अपनी इन बुराइयों को दूर नहीं करेंगे, तब हम इस दलदल में और ज्यादा धंसते जायेंगे और खत्म हो जायेंगे।

लेकिन मुझे लगता है कि हम फिर उठेंगे और उठ सकते हैं। आज हिंदू धर्म को मजबूत

करने और वह जिस तरह अमल में है, उसे शुद्ध करने के बारे में जोर-शोर से बातें की जा रही हैं। हर व्यक्ति को, चाहे वह हिंदू हो या न हो, व्यापक संस्कृति और इंसानी तरक्की के हित में ऐसे हर आंदोलन का स्वागत करना चाहिए। हिंदुओं को तो सबसे आगे बढ़कर इसका स्वागत करना चाहिए। हर वह बात जो इंसान से इंसान का मेल कराने में आने वाली अड़चनों को दूर करे और आपस में इंसानियत की भावना पैदा करे, हर वह बात जो ज्यादा से ज्यादा मानव प्राणियों को ऊंचा उठाये और जो उनकी जिंदगी को जीने लायक बनाये, हर वह बात जो अज्ञान और कट्टरपन की जगह हममें तर्क की भावना पैदा करे, ऐसी हर बात का हमेशा स्वागत है। इसलिए जो आंदोलन हिंदू धर्म के आधार को व्यापक बनाने और उसकी बुराइयों को दूर करने के लिए शुरू किया जाये, उसका हमें स्वागत करना चाहिए। लेकिन मैंने यह देखा कि इस आंदोलन के पीछे हिंदू धर्म की भलाई करने का इरादा उतना नहीं है, जितना मुसलमानों पर अविश्वास और उनसे डर का है। इसका मुझे अफसोस है। बनारस में हिंदू महासभा की एक मीटिंग से वापस लौटने पर मेरा यह ख्याल और भी पक्का हो गया। उसके पीछे पूरा का पूरा मकसद सियासी है। इससे मैं इत्तिफाक नहीं रख सकता, क्योंकि इसका नतीजा सिर्फ एक होगा और वह है हिंदुस्तान की तमाम कौमों की तबाही। सुधार का कोई भी बडा आंदोलन कभी भी कामयाब नहीं रहा, अगर डर उसकी बुनियाद और नफरत उसकी खुराक रही हो। इस तरह के आंदोलन का सिर्फ एक नतीजा हो सकता है। वह यह कि आपस में डर और शक बढ़ेगा और दूसरी कौमों में भी इसी तरह के जज्बात पैदा होंगे। आहिस्ता आहिस्ता हिंदुस्तान फौजी कैंपों में बंट जायेगा और हर इंसान अपने भाई के खिलाफ हथियार उठा लेगा। यह भयंकर तबाही होगी। इस नतीजे को कोई भी बर्दाश्त नहीं कर सकता। हमें हर सूरत में ऐसी स्थिति से बचने की कोशिश करनी चाहिए।

यही वजह है कि मैंने यह सवाल किया था कि जनता में शुद्धि आंदोलन का चलाया जाना कहां तक मुनासिब है। मेरा कहना है कि हर आदमी को अपने मनपसंद धर्म को चुनने की आजादी होनी चाहिए। मेरा यह भी विश्वास है कि हर किसी के लिए, चाहे वह कोई भी हो, यह खुली छूट होनी चाहिए कि अगर उसकी ख्वाहिश हो तो वह हिंदू धर्म में आ जाये। लेकिन जहां तक मैं समझ सका हूं, मौजूदा शुद्धि आंदोलन कुछ दूसरी वजूहात पर निर्भर है और ऐसी राह पर चल रहा है जो गैर-मुनासिब है। शांति और मेल-मिलाप पैदा करने के बजाय इसने नफरत, अविश्वास और कड़वाहट पैदा की हैं। सहनशीलता तो रही नहीं और हममें से भले से भले लोग भी छोटी छोटी बातों पर आपस में शक करने लग गये हैं।

हिंदू धर्म ने अपनी सहनशीलता पर हमेशा नाज किया है। लेकिन आज उसको याद दिलाने की जरूरत आ पड़ी है। महान अशोक ने कहा था, "सभी धर्म एक न एक कारण

से आदर के योग्य हैं। हर व्यक्ति इस प्रकार आचरण कर अपने धर्म को गौरव प्रदान करता है और साथ ही दूसरे व्यक्तियों के धर्म की सेवा करता है—सम्राट को दान या सम्मान की उतनी अपेक्षा नहीं है, जितनी कि इस बात की कि सभी धर्मों में उनके मतों के सार का विकास होना चाहिए।"

हिंदुओं में एक आम विश्वास है कि इस्लाम एक असहनशील धर्म है और यह कि यह तलवार के बल पर फैला। जालिम मुसलमानों की मिसाल देते वक्त ये लोग ज्यादातर चंगेज खां और तैमूर और महमूद गजनी का नाम लेते हैं। मैं नहीं जानता कि कितने लोग यह जानते हैं कि चंगेज खां मुसलमान नहीं था। या तैमूर को पश्चिमी एशिया में, जहां हिंदुस्तान की तरह इस्लाम खूब फला-फूला, इंसानों की खोपड़ियों की मनपसंद ऊंची-ऊंची मीनारें बनवाने का शौक था। या यह कि महमूद गजनी ने बगदाद के खलीफा को दिल दहला देने वाली सजाएं देने की धमकी दी थी। कोई भी धर्म, चाहे वह कितना ही बड़ा क्यों न हो, जबरदस्ती धर्मपरिवर्तन कराने से नहीं पनप पाया है। अगर ईसाई संप्रदायों की असहनशीलता से, जो उन्हीं दिनों पश्चिमी एशिया और अफ्रीका में फल-फूल रहे थे, तुलना की जाये, तब इस्लाम धर्म के इतिहास से यह पता चलता है कि शुरू शुरू में सहनशीलता की वजह से यह बेहद कामयाब रहा। बहुतों को यह सुनकर ताज्जुब होगा कि स्पेन में मुसलमानों के खिलाफ ईसाई सम्राट फिलिप तीसरे ने एक बड़ा जुर्म यह लगाया कि उनमें सहनशील बने रहने की भावना है। स्पेन में मुसलमानों के धर्म त्याग और राजद्रोह के बारे में सन 1602 में बेलेंसिया के आर्कबिशप ने यह लिखा कि वे मजहब के सभी मामलों में अंतरात्मा की आजादी को जितना ऊंचा मानते हैं, उतना और किसी को नहीं, जबकि तुर्क और दूसरे मुसलमानों ने अपनी रियाया पर इसकी पाबंदी लगा रखी है और उसने दीगर बातों के साथ साथ इस बिना पर भी यह सिफारिश की थी कि मुसलमानों को स्पेन से निकाल बाहर किया जाये। यह सिफारिश मान ली गयी और बहुत से लोग बेरहमी से निकाल बाहर किये गये। तीन सौ बरस पहले की बात है, एक स्पेनी मौलवी को जब उसके मुल्क से बाहर निकाला गया, तब उसने मजहबी अदालत में तरह तरह की सजा देने, यातना देनेवाले अधिकारियों से जो कुछ कहा, उसे पढ़ कर ताज्जुब होता है :

"क्या हमारे विजयी पुरखों ने ईसाई धर्म को स्पेन से उखाड़ फेंकने की कोशिश की, जबकि उनमें ऐसा करने की ताकत थी? क्या उन्होंने तुम्हारे बाप-दादों को अपने रीति-रिवाजों का आजादी के साथ पालन नहीं करने दिया, जबकि वह गुलामी की बेड़ियों में थे? अगर जबरदस्ती से मजहब बदलने की कुछ मिसालें हुई हैं तो वह इतनी कम हैं कि काबिले जिक्र नहीं हैं। ऐसा करने की कोशिश सिर्फ उन लोगों ने की, जिनके मन में अल्लाह और पैगंबर का डर नहीं था और जिन्होंने ऐसा कर बेशक, इस्लाम की पाक हिदायतों और कानूनों

के खिलाफ काम किया, क्योंकि कोई भी इंसान मुसलमान होने की इज्जतदार उपाधि के लायक समझा जाता है, इनको अपने मजहब की तौहीन किये बिना नहीं तोड़ सकता। आपको हमारी ऐसी कोई भी मिसाल नहीं मिलेगी कि हमने मुख्तलिफ मजहब मानने की वजह से सजा देने के लिए वाजाब्ता खून की प्यासी ऐसी अदालतें कभी भी बनायी हों, जैसी आपकी ये घिनौनी अदालतें। सच तो यह है कि जो लोग हमारे मजहब को कबूल करना चाहते हैं, उन्हें हमने अपने मजहब में शामिल करने के लिए अपने दरवाजे हमेशा खुले रखे हैं और हमारा कुरान पाक जमीर वालों पर जुल्म करने की इजाजत हमें नहीं देता।"

यह हिंदू धर्म और इस्लाम की सहनशीलता की परंपरा रही है, लेकिन अब बीसवीं सदी में, जबकि यूरोप ने सदियों की खून खराबी और जुल्म के बाद सहनशीलता अपना ली है, हमारा अभागा मुल्क पीछे की ओर भाग रहा है और उस पाक को खुद ही भूलता जा रहा है, जो उसने पुराने जमाने में सारी दुनिया को सिखाया था। एक-दूसरे को नहीं जानने-समझने की वजह से असहनशीलता पैदा होती है। इसलिए हमें दूसरे के इतिहास को जानना चाहिए और एक-दूसरे की पुरानी संस्कृति को समझना चाहिए। जब हम एक साथ मिलकर चलना सीखेंगे, तभी हमारा भविष्य उज्जवल हो सकता है। आज हममें विवेक का अभाव ही हमारा सबसे बड़ा दुश्मन है और लाजिमी तौर पर इसका नतीजा है धर्म के मामले में कट्टरता। इसलिए जो लोग तर्क और विवेक में, इस मुल्क की आजादी में और इंसान की तरक्की में यकीन करते हैं, उन्हें इसी दुश्मन से लड़ना है, जो चाहे कहीं भी हो या चाहे जब दिखाई पड़े लड़ना है और उस पर विजय हासिल करनी है। तब हमारी एकता और तरक्की के रास्ते में कोई भी अड़चन या रुकावट नहीं रह जायेगी।

सांप्रदायिकता और प्रतिक्रिया

नवंबर (1935) में जब मैं बनारस गया हुआ था, उन्हीं दिनों मुझे वहां पर हिंदू विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों के बीच व्याख्यान देने के लिए बुलाया गया। मैंने बड़ी खुशी से इस निमंत्रण को स्वीकार कर लिया और एक बड़ी सभा में मैंने भाषण दिया, जिसके सभापति यूनिवर्सिटी के वाइस चांसलर पंडित मदन मोहन मालवीय थे। अपने व्याख्यान में मैंने सांप्रदायिकता के बारे में बहुत कुछ कहा और जोरदार शब्दों में उसकी निंदा की, मैंने खास कर हिंदू महासभा के कामों की बड़ी ही कड़ी निंदा की। इस तरह हमला करने का मेरा पहले से ही कोई इरादा रहा हो, सो बात नहीं थी, बल्कि सच बात तो यह थी कि सभी फिरकों के संप्रदायवादी लोगों की सुधार विरोधी कार्रवाइयों से, जो बढ़ती ही जा रही थीं, मेरे दिमाग में गुस्सा भरा हुआ था और जब मैं अपने विषय पर जरा जोश से बोलने लगा, तब कुछ गुस्सा उफन कर बाहर निकल पड़ा। मैंने संप्रदायवादी हिंदुओं के दकियानूसीपन पर जानबूझ कर ज्यादा जोर दिया क्योंकि हिंदू श्रोताओं के सामने मुसलमानों पर टीका-टिप्पणी करने का कोई अर्थ नहीं था। उस वक्त यह बात तो मेरे दिमाग में ही नहीं आयी कि जिस सभा के सभापति मालवीय जी हों, उसमें हिंदू महासभा पर टीका-टिप्पणी करना कोई मुनासिब बात नहीं थी क्योंकि वह बहुत दिनों तक इसके एक स्तंभ रहे थे। मैंने इस बात पर ज्यादा विचार भी नहीं किया क्योंकि मालवीय जी का कुछ दिनों से हिंदू महासभा से कोई खास संबंध नहीं रह गया था और ऐसा लगने लगा था जैसे महासभा के नये कट्टर नेताओं ने उन्हें बाहर निकाल फेंक दिया था।

एक और मूर्खतापूर्ण भूल के लिए मुझे खेद था, जिसका मैं शिकार बन गया था। किसी ने हम लोगों को डाक से एक ऐसे प्रस्ताव की नकल भेजी, जो अजमेर में हिंदू युवकों की एक सभा में पास हुआ बतलाया गया था। यह प्रस्ताव बहुत ही आपत्तिजनक था और मैंने बनारस के अपने भाषण में इसी का जिक्र किया था। असल में ऐसा कोई प्रस्ताव किसी भी संस्था द्वारा पास नहीं हुआ था और हम चकमे में आ गये थे।

बनारस के मेरे भाषण से, जिसकी रिपोर्ट अखबारों में महज संक्षेप में छपी थी, बड़ा हो-हल्ला मच गया। मैं ऐसे शोर-शराबे का आदी था, फिर भी, हिंदू महासभा के नेताओं के जबरदस्त हमले से मैं चकित रह गया। ये हमले ज्यादा व्यक्तिगत थे और असली मुद्दे

एन आटोबायोग्राफी, पृ. 458-72 से

से इनका कोई ताल्लुक नहीं था। ये हद से बाहर चले गये, लेकिन मुझे इस बात की बड़ी खुशी हुई कि इनकी वजह से मुझे भी इस विषय पर कुछ कहने का मौका मिल गया। इस बात पर तो मैं कई महीने से, यहां तक कि जेल में भी भरा हुआ बैठा था, लेकिन मेरी समझ में यह नहीं आ रहा था कि मैं इस बात को किस तरह छेड़ूं। यह तो बरों का छत्ता था। हालांकि मुझे इन छत्तों में हाथ डालने की आदत थी, लेकिन मुझे ऐसे विवादों में पड़ना पसंद नहीं था, जिनमें बाद में तू-तू मैं-मैं होने की नौबत आ जाती है। लेकिन अब मेरे पास कोई दूसरा चारा भी नहीं था और मैंने हिंदू और मुस्लिम सांप्रदायिकता पर एक तर्कपूर्ण लेख लिखा, जिसमें मैंने यह बताया कि दोनों ओर की सांप्रदायिकता कोई सच्ची सांप्रदायिकता तो नहीं थी, बल्कि यह एक राजनैतिक और सामाजिक प्रतिक्रिया थी, जिस पर सांप्रदायिकता का खोल चढ़ा हुआ था...।

मेरे इस लेख की हिंदुस्तान के अखबारों में खूब चर्चा हुई। हालांकि उसमें हिंदू और मुसलमान संप्रदायवादियों के बारे में बहुत कुछ बातें थीं, फिर भी ताज्जुब यह था कि उसका हिंदू और मुसलमान दोनों ही की ओर से कोई जवाब नहीं मिला। इस बार हिंदू महासभा के नेताओं ने भी चुप्पी साध ली, जिन्होंने पहले कभी बड़ी जोरदार और तरह तरह की भाषा में मुझे आड़े हाथों लिया था। मुसलमानों की तरफ से सर मुहम्मद इकबाल ने राउंड टेबुल कांफ्रेंस के बारे में मेरी कही बातों में संशोधन करने की कोशिश की, लेकिन मेरी दलील के बारे में उन्होंने भी कुछ नहीं कहा...।

इन लेखों का जैसा स्वागत हुआ, न सिर्फ उससे, बल्कि ये लेख ऐसे लोगों पर प्रकट रूप में असर डाल रहे थे जो समझने की कोशिश करते थे, उससे मेरा उत्साह बहुत कुछ बढ़ गया। असल में, मैंने यह सोचा ही नहीं था कि सांप्रदायिक भावना की तह में जो जोश छिपा रहता है, मैं उसे बाहर निकाल सकूंगा। मेरा मकसद तो यह बताना भर था कि सांप्रदायिक नेता हिंदुस्तान और इंग्लैंड के घोर प्रतिक्रियावादी फिरकों से मिले हुए हैं और असलियत में वे राजनैतिक और उससे भी ज्यादा सामाजिक प्रगति के विरोधी हैं। उनका मकसद तो ऊंचे तबके के कुछ छोटे छोटे फिरकों को फायदा कराना था। मेरा इरादा तो इस तर्कपूर्ण बहस को जारी रखना था, तभी मुझे फिर जेल हो गयी। हिंदू-मुस्लिम एकता के लिए आये दिन जो अपीलें होतीं, वह बिला शक फायदेमंद होते हुए भी मुझे बिल्कुल ही फिजूल मालूम पड़ीं, जब तक कि मतभेद के कारणों को समझने के लिए कुछ कोशिश न की जाये। मगर लगता है कि कुछ लोगों का यह ख्याल है कि इस मंत्र को बार बार रटने से अंत में एकता जादू की तरह आ टपकेगी।

सांप्रदायिकता के सवाल पर सन 1857 के विद्रोह से अब तक ब्रिटिश सरकार की जो नीति रही है, उस पर सिलसिलेवार नजर डालना दिलचस्प बात होगी। यह नीति बुनियादी तौर पर और अपने मकसद के मुताबिक हिंदू और मुसलमानों को एक साथ मिलकर नहीं

चलने देने और एक संप्रदाय को दूसरे संप्रदाय से लड़वाने की रही है। सन 1857 के बाद अंग्रेजों का वार हिंदुओं की बनिस्बत मुसलमानों पर गहरा रहा। उन्होंने मुसलमानों को ज्यादा उग्र और लड़ाकू समझा और यह समझा कि चूंकि हो सकता है कि मुसलमानों को हिंदुस्तान में कुछ बरस पहले की अपनी हुकूमत की याद बनी हुई है, इसलिए वे ज्यादा खतरनाक हैं। मुसलमान भी नयी तालीम से दूर-दूर रहे। सरकारी नौकरियों में उनकी तादाद भी कम थी। इन सब वजहों से अंग्रेज लोग उन्हें शक के नजरिये से देखते थे। हिंदुओं ने इसकी बनिस्बत अंग्रेजी भाषा और सरकारी नौकरियों को बहुत अधिक तत्परता से अपना लिया था और वे उन्हें ज्यादा आज्ञाकारी लगे।

इसके बाद नयी तरह की राष्ट्रीयता की भावना पैदा हुई—यह भावना उच्चवर्ग के अंग्रेजी पढ़े-लिखे बुद्धिजीवियों से आरंभ हुई। इसका हिंदुओं तक सीमित रहना स्वाभाविक था क्योंकि मुसलमान लोग शिक्षा के लिहाज से बहुत पिछड़े हुए थे। यह राष्ट्रीयता बड़ी ही विनम्र और दीन भाषा में प्रकट की जाती थी फिर भी, सरकार को यह सहन नहीं हुई और उसने यह फैसला किया कि मुसलमानों की पीठ ठोकी जाये और उनको राष्ट्रीयता की इस लहर से अलग-थलग रखा जाये। जहां तक मुसलमानों का ताल्लुक है, उनके लिए अंग्रेजी पढ़ा-लिखा न होना एक काफी बड़ी रुकावट थी, लेकिन इसका धीरे धीरे ही दूर होना लाजिमी था। अंग्रेजों ने बड़ी दूरदर्शिता से आगे के लिए इंतजाम कर लिया। खैर, उन्हें इस काम में एक बहुत बड़ी शख्सियत से मदद मिली—यह शख्सियत थी सर सैयद अहमद खां।

सर सैयद इस बात से दुखी थे कि उनकी बिरादरी के लोग पिछड़े हुए हैं, खास कर पढ़ाई-लिखाई के मामले में। उन्हें इस बात पर भी बेहद अफसोस था कि उनकी बिरादरी पर अंग्रेजों की न तो कोई कृपा दृष्टि थी और न उनकी नजरों में मुसलमानों का कोई असर ही था। उस जमाने के बहुत-से दूसरे लोगों की तरह वह भी अंग्रेजों के बहुत बड़े प्रशंसक थे और मालूम होता है कि उन पर यूरोप की यात्रा का जबरदस्त असर पड़ा था। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में यूरोप या यों कहें कि पश्चिमी यूरोप में सभ्यता का सितारा बहुत ही बुलंद था। वह दुनिया का सिरमौर था। उसमें सभी गुण थे, जिनकी वजह से वह महान बन गया था। उच्चवर्ग सुरक्षित था। यह वर्ग अपनी धन-दौलत को बढ़ाने में लगा हुआ था क्योंकि उसे यह डर बिल्कुल भी नहीं था कि कोई उसका मुकाबला करने में कामयाब हो सकेगा। यह उदारवाद के विस्तार का युग था। यह महान भविष्य में विश्वास का युग था। इसलिए इसमें कोई ताज्जुब नहीं कि जो भी हिंदुस्तानी यूरोप गये, वे वहां की शान शौकत देख कर मोहित हो गये। शुरू शुरू में हिंदू लोग ही ज्यादा गये और वे यूरोप और इंग्लैंड के प्रशंसक बनकर लौटे। धीरे धीरे वे इस तड़क-भड़क और चमक-दमक के आदी हो गये और जो आश्चर्य उनको शुरू में होता था, वह दिल से निकल गया। लेकिन सर

सैयद को पहली ही बार वहां की तड़क-भड़क देख जो ताज्जुब हुआ, वह बहुत ही जबरदस्त था। वह सन 1869 में इंग्लैंड गये। उस वक्त उन्होंने घर को जो पत्र लिखे, उसमें उन्होंने वहां के बारे में अपने विचार लिखे हैं। इनमें से एक पत्र में उन्होंने लिखा था, 'अंग्रेज लोग हिंदुस्तान में जिस तरह का नामुहज्जब बर्ताव करते हैं और हिंदुस्तानियों को जिस तरह जानवर और कमतर समझते हैं, उसके लिए उन्हें माफ तो नहीं किया जा सकता, लेकिन मेरा ख्याल है कि ऐसा वे हमें समझ न सकने की वजह से करते हैं, लेकिन इस सबका नतीजा यह निकलता है और मैं डरते डरते यह बात भी मानने को तैयार हूं कि उन्होंने हमारे बारे में जो राय कायम की है, वह कोई गलत नहीं है...बुनियादी और गैर बुनियादी दोनों ही नजरिये से सभी उम्दा उम्दा चीजें खुदा ने यूरोप और खास कर इंग्लैंड पर बख्श दी हैं।

कोई भी आदमी अंग्रेजों की और यूरोप की इससे ज्यादा तारीफ नहीं कर सकता। जाहिर है कि सर सैयद पर बड़ा ही जबरदस्त असर पड़ा। यह भी हो सकता है कि उन्होंने ऐसी जोरदार भाषा का इस्तेमाल जबरदस्त फर्क बताकर मुल्क के लोगों को गहरी नींद से जगाने और तरक्की के रास्ते पर कदम बढ़ाने की नीयत से किया हो। यह उन्हें यकीन हो गया था कि यह कदम पश्चिमी शिक्षा की ओर उठाया जाना चाहिए, बिना उस तालीम के उनकी बिरादारी और भी पिछड़ती और कमजोर होती जायेगी। अंग्रेजी तालीम का मतलब था सरकारी नौकरियां, हिफाजत, दबदबा और इज्जत। इसलिए उन्होंने अपनी सारी ताकत इस तालीम के लिए लगा दी और हमेशा यही कोशिश करते रहे कि उनकी बिरादरी के लोग भी उनके जैसे ख्याल के हो जायें। वह इसमें कोई तब्दीली नहीं चाहते थे और न यह चाहते थे कि उनके रास्ते में कहीं बाहर से कोई रुकावट आये। मुसलमानों की काहिली और झिझक को दूर करना काफी मुश्किल काम था...।

मुसलमानों के लिए पश्चिमी तालीम दिलाने पर जोर देने के बारे में सर सैयद का निर्णय बेशक बहुत ही ठीक था। उसके बिना हिंदुस्तान में नये तरह की राष्ट्रीयता के निर्माण में कारगर हिस्सा ले सकना नामुमकिन था और उनको लाजिमी तौर पर हिंदुओं के साथ सुर में सुर मिलाकर ही रहना पड़ता क्योंकि हिंदुओं में शिक्षा भी ज्यादा थी और उनकी आर्थिक दशा भी अच्छी थी। उस वक्त तब मुसलमान ऐतिहासिक घटना चक्र और विचार-आदर्श दोनों ही नजरिये से बुर्जुआ राष्ट्रीय आंदोलन के लिए तैयार नहीं थे क्योंकि उनमें हिंदुओं की तरह कोई बुर्जुआ वर्ग नहीं बन सका था। इसलिए सर सैयद की कार्रवाई ऊपर ऊपर तो बड़ी ही नरम दिखती थी, लेकिन वह दरअसल सीधे ही क्रांति की ओर ले जाने वाली थी। मुसलमान अभी भी प्रजातंत्र विरोधी जागीराना विचारों में जकड़े हुए थे, जबकि हिंदुओं में जो मध्यवर्ग बन रहा था वह यूरोप के उदारपंथियों की तरह विचार रखने लग गये थे। दोनों ही पूरी तरह नरम विचारों वाले थे और अंग्रेजी हुकूमत पर निर्भर

थे। सर सैयद की नरम नीति जमींदार वर्ग की नरम नीति थी, जिसमें कुछ रईस घरों के मुसलमान आते थे। उधर हिंदुओं की नरम नीति एक होशियार पेशेवर या व्यापारी की नीति थी, जो उद्योग-धंधों और व्यापार में धन लगाने का साधन ढूंढ़ता हो। इन हिंदू राजनीतिज्ञों की नजर हमेशा इंग्लैंड के उदार दल के मशहूर नेता ग्लेडस्टन, ब्राइट वगैरह पर रहती। मुझे शक है कि मुसलमानों ने शायद ही ऐसा किया हो। शायद ये लोग इंग्लैंड के अनुसार दल और जमींदार वर्ग के प्रशंसक थे...।

सर सैयद की प्रभावशाली और जबरदस्त शख्सियत का मुसलमानों पर बहुत असर पड़ा और अलीगढ़ कालेज उनकी उम्मीदों और ख्वाहिशों का एक जीता-जागता प्रतीक बन गया। संक्रमित काल के दौरान अक्सर ऐसा होता है कि प्रगति की ओर जाने वाला जोश अपना मकसद पूरा कर लेने के बाद बहुत जल्द ठंडा पड़ जाता है और बाद में वह रुकावट बन जाता है। हिंदुस्तान के उदार दल के लोग इस बात की स्पष्ट मिसाल हैं। ये लोग अक्सर हमको इस बात की याद दिलाते रहते हैं कि पुरानी कांग्रेस परंपरा के असली वारिस वे ही हैं और हम लोग, जो बाद में उसमें शामिल हुए हैं, दाल-भात में मूसरचंद हैं। ठीक है। लेकिन ये लोग इस बात को तो भूल ही जाते हैं कि दुनिया बदलती रहती है और पुरानी कांग्रेस परंपरा जमाने के साथ खत्म हो गयी है और अब सिर्फ उसकी याद बाकी रह गयी है। इसी तरह सर सैयद की आवाज भी अपने जमाने के लिए और जरूरी थी, लेकिन वह एक प्रगतिशील जाति का सनातन आदर्श नहीं हो सकती। यह भी मुमकिन है कि अगर वह एक पीढ़ी के बाद होते, तब उन्होंने अपने संदेश को एक दूसरी ही सूरत दे दी होती। या दूसरे नेता उनके उस संदेश को नयी तरह से समझाते और उसे बदली हुई हालत के मुताबिक बना लेते। लेकिन सर सैयद को जो कामयाबी मिली और उनके नाम के साथ जो श्रद्धा जुड़ी रह गयी, उसने दूसरों के लिए उस पुरानी लकीर से हटना मुश्किल कर दिया...।

अलीगढ़ कालेज ने बड़ा अच्छा काम किया। उसने काफी बड़ी तादाद में लायक आदमी तैयार किये और मुस्लिम विचारधारा का सारा रुख ही बदल दिया। लेकिन फिर भी जिस सांचे में वह ढाली गयी थी, वह उससे पूरी तरह बाहर नहीं निकल सकी—उस पर बड़े बड़े जमींदारों की भावना हावी रही और औसत विद्यार्थी का मकसद सिर्फ सरकारी नौकरी हासिल करना रहा। उसमें साहस की भावना या किसी ऊंचे मकसद को हासिल करने की ख्वाहिश कभी नहीं हुई। उसे तो अगर कहीं डिप्टी कलक्टरी मिल गयी तो इसी में वह अपने को धन्य समझता था। उसका गर्व तो सिर्फ इस बात की याद दिलाने से संतुष्ट हो जाता था कि वह इस्लाम के महान लोकतंत्र का एक नुमाइंदा है। आपस में इस भाईचारे को बनाये रखने के लिए वह अपने सिर पर बड़ी शान के साथ एक लाल टोपी पहनता, जिसे 'टर्किश फैज' कहते हैं और जिसे खुद तुर्कों ने ही बाद में बिल्कुल उतार फेंका था। लोकतंत्र में

अपने अमिट अधिकार के बारे में विश्वास हासिल कर लेने के बाद, जिसके आधार पर वह अपने मुसलमान भाइयों के साथ खाना खा सकता और इबादत कर सकता था, वह फिर इस बात को सोचने की झंझट में नहीं पड़ता था कि हिंदुस्तान में राजनैतिक लोकतंत्र की कोई हस्ती है या नहीं।

यह तंग नजरिया और सरकारी नौकरियों के पीछे दौड़ना सिर्फ अलीगढ़ या दूसरी जगह के मुसलमान विद्यार्थियों तक ही सीमित नहीं था। हिंदू विद्यार्थियों में भी, जो स्वभाव से ही कुछ जोखिम लेने से घबराते थे, यह उसी परिमाण में पाया जाता था। लेकिन परिस्थितियों ने इनमें से बहुतों को इस गड्ढे में से निकाल दिया। इनकी तादात बहुत ज्यादा थी और मिलने वाली नौकरियां बहुत कम थीं। नतीजा यह हुआ कि इन वर्गहीन विचारशील युवकों की ऐसी जमात बन गयी, जो राष्ट्रीय क्रांतिकारी आंदोलनों की जान हुआ करती है।

सर सैयद के राजनैतिक संदेश का मुसलमानों पर इतना जबरदस्त असर हुआ कि वे उससे पूरी तरह निकल नहीं पाये, तभी बीसवीं सदी के आरंभ की घटनाओं ने कुछ ऐसे साधन उपस्थित कर दिये, जिससे ब्रिटिश सरकार की मुसलमानों और राष्ट्रीय आंदोलन के बीच की खाई को और भी चौड़ी करने में बड़ी मदद मिली, जो उस समय काफी जोर पकड़ चुका था। सर वेलेंटाइन शिरोल ने 1910 में अपनी किताब 'इंडियन अवरेस्ट' में लिखा था, "यह बात बड़े इत्मीनान के साथ कही जा सकती है कि हिंदुस्तान में मुसलमानों ने सामूहिक रूप से पहले कभी भी यह नहीं सोचा था कि उनकी भलाई और उनकी खुशहाली यहां पर अंग्रेजी हुकूमत के पक्की तौर से हमेशा बने रहने पर निर्भर है।" राजनीति में भविष्यवाणियां करना खतरनाक होता है। सर वेलेंटाइन की किताब के छपने के बाद पांच बरस में ही समझदार मुसलमान उन बेड़ियों को तोड़कर कांग्रेस का साथ देने की जी जान से कोशिश करने लगे, जो उनकी तरक्की के रास्ते में आड़े आ रही थीं। दस बरस के अंदर ही ऐसा मालूम होने लगा कि मुसलमान तो कांग्रेस से भी आगे निकल गये हैं और सचमुच उसका नेतृत्व भी करने लगे—पर ये दस बरस पड़े ही महत्वपूर्ण थे। इन्हीं दस बरसों में विश्वयुद्ध हुआ और खत्म भी हो गया और अपनी विरासत में दुनिया को उजाड़ कर चला गया।

लेकिन सर वेलेंटाइन जिस नतीजे पर पहुंचे थे, उसके कारण जाहिरा तौर पर ठीक ही थे। आगा खां कोई मध्यवर्ग के नेता नहीं थे। वह एक बहुत बड़े रईस प्रिंस थे और एक फिरके के मजहबी सदर थे। ब्रिटिश शासक वर्ग से घनिष्ठ संबंध होने के कारण वह अंग्रेजों के अपने आदमी थे। वह बड़े ही शिष्ट थे। वह बहुत बड़े जागीरदार और खेल के शौकीन थे और ज्यादातर यूरोप में ही रहते थे। इस तरह वह व्यक्तिगत तौर पर मजहब या फिरकेवाराना मामलों में उनके विचार बिल्कुल भी संकीर्ण नहीं थे। मुसलमानों के बारे

में उनके विचार बिल्कुल भी संकीर्ण नहीं थे। उनका मुसलमानों का नेतृत्व करने के मायने यह थे कि मुसलमान जमींदार और मध्यवर्ग जो उभर रहा था, उसके लोग अंग्रेज सरकार के हिमायती बन जायें। असल में सांप्रदायिक समस्या तो एक गौण बात थी। वह तो मुख्य उद्देश्य को सिद्ध करने के मकसद से इतने जोरों के साथ जाहिर की जाती थी। सर वेलेंटाइन शिरोह ने लिखा है कि आगा खां ने उस वक्त के वायसराय लार्ड मिंटो को बंग भंग होने पर राजनैतिक हालत के बारे में मुसलमानों की राय के बारे में बताया कि जल्दबाजी में हिंदुओं को ऐसी सियासी सहूलियतें न दे दी जायें, जिससे हिंदू बहुमन ताकतवर हो जायें क्योंकि यह अंग्रेजी हुकूमत के पक्की तौर पर बने रहने और मुस्लिम अल्पमत के हित में बिल्कुल भी नहीं है, जो बिला शक अंग्रेजों का तरफदार है।"

लेकिन अंग्रेजी सरकार का इस तरह जाहिर समर्थन करने वालों के साथ साथ कुछ और ताकतें भी काम कर रही थीं। नया मुस्लिम मध्यवर्ग मौजूदा परिस्थिति से दिनों-दिन असंतुष्ट होता जा रहा था और राष्ट्रीय आंदोलन की तरफ खिंचता आ रहा था। खुद आगा खां को इस बात की फिक्र हुई और उन्हें अंग्रेजों को एक खास ढंग से चेतावनी देनी पड़ी। उन्होंने जनवरी, 1914 के एडिनबर्ग रिव्यू में (अर्थात् विश्वयुद्ध के पहले) सरकार को हिंदू और मुसलमानों को एक-दूसरे से अलग करने की नीति को छोड़ने की सलाह दी और दोनों जातियों के नरम दृष्टिकोण वाले लोगों को एक झंडे के नीचे लाने के लिए कहा, जिससे हिंदुस्तान के हिंदू और मुसलमान दोनों ही नौजवानों की क्रांतिकारी राष्ट्रवादी प्रवृत्तियों से टक्कर लेने वाली ताकत पैदा हो जाये। इस तरह यह स्पष्ट था कि मुसलमानों के सांप्रदायिक हितों में उनकी दिलचस्पी उतनी नहीं, जितनी कि उनकी दिलचस्पी हिंदुस्तान में सियासी तब्दीली में रुकावट पैदा करने में थी।

लेकिन राष्ट्रीयता की ओर मुसलमान मध्यवर्ग के सहज झुकाव को न आगा खां रोक सके और न ही ब्रिटिश सरकार। विश्व युद्ध ने इस प्रक्रिया को और भी तेज कर दिया और जैसे जैसे नये नेता उभरने लगे, आगा खां का असर कम होता हुआ मालूम होने लगा। यहां तक कि अलीगढ़ कालेज का रुख भी बदल गया। नये नेताओं में सबसे ज्यादा प्रगतिशील अली बंधु निकले। ये दोनों ही अलीगढ़ की उपज थे। डा. मुहम्मद अहमद अंसारी, मौलाना अबुल कलाम आजाद और मध्य वर्ग के कुछ और नेता मुसलमानों के सियासी मामलों में महत्वपूर्ण भाग लेने लगे। इसी तरह कुछ हल्के तौर पर मिस्टर मोहम्मद अली जिन्ना भी। गांधीजी इनमें से बहुत से नेताओं को (मिस्टर जिन्ना को छोड़ कर) और आमतौर पर सभी मुसलमानों को अपने असहयोग आंदोलन में बहा ले आये और इन नेताओं ने 1919-1923 की घटनाओं में बढ़-चढ़ कर हिस्सा लिया।

इसके बाद प्रतिक्रिया शुरू हो गयी और हिंदुओं और मुसलमानों में सांप्रदायिक और पिछड़े हुए लोग अब फिर आगे आने लगे, जो बरबस पहले पीछे हट चुके थे। यह क्रिया

धीमी थी, लेकिन यह बराबर होती रही। हिंदू महासभा को पहली बार कुछ अहमियत मिली, जो खास कर सांप्रदायिक तनाव की वजह से हुई, लेकिन सियासी तौर पर वह कांग्रेस पर ज्यादा असर नहीं डाल सकी। मुसलमानों की सांप्रदायिक संस्थाएं मुस्लिम जनता में अपनी खोई हुई इज्जत को फिर से हासिल करने में ज्यादा कामयाब रहीं। फिर भी मुस्लिम नेताओं का एक जबरदस्त दल हमेशा कांग्रेस के साथ रहा। उधर ब्रिटिश सरकार ने मुस्लिम सांप्रदायिक नेताओं को हर तरह से बढ़ावा दिया, जो सियासी नजरिये से पूरे प्रतिक्रियावादी थे। इन प्रतिक्रियावादियों की सफलता को देखकर हिंदू महासभा ने प्रतिक्रियापूर्ण कार्रवाई करने में इन मुसलमान प्रतिक्रियावादियों के साथ मानो होड़ करने की ठान ली और इस तरह सरकार की मेहरबानी के लिए मुंह ताकने लगी। हिंदू महासभा में बहुत से प्रगतिशील लोग निकाल बाहर किये गये या उन्होंने खुद ही उसे छोड़ दिया और यह धीरे धीरे ऊंचे मध्यवर्ग की ओर, खासतौर से बड़े बड़े साहूकारों की ओर झुक गयी।

दोनों ओर से सांप्रदायिक राजनीतिज्ञों को, जो हमेशा कौंसिलों में सीटों की तादाद के बारे में बहस किया करते थे, सरकार की मेहरबानी की फिक्र रहती थी क्योंकि इसी में उनका फायदा था। यह तो मध्यवर्ग के पढ़े-लिखे लोगों के लिए बड़ी बड़ी नौकरी पाने की लड़ाई थी। यह स्पष्ट है कि नौकरियां इतनी तो हो ही नहीं सकती थीं कि सबको मिल जातीं, इसलिए हिंदू और मुसलमान संप्रदायवादी लोग इसी के बारे में झगड़ते रहते। हिंदू लोग अपने बचाव की फिक्र में होते थे क्योंकि ज्यादातर नौकरियां उन्होंने ही घेर रखी थीं और मुसलमान लोग हमेशा और और की रट लगाये रहते थे। नौकरियों की इस लड़ाई के पीछे एक और भी बड़ी कशमकश चल रही थी, जो सांप्रदायिक तो नहीं थी, लेकिन जिसका असर सांप्रदायिक समस्या पर पड़ रहा था। पंजाब, सिंध और बंगाल में हिंदू लोग सब तरह से ज्यादा मालदार, साहूकार और शहरों में रहने वाले थे। इन सूबों के मुसलमान गरीब, साहूकार और शहरों में रहने वाले थे। इसलिए इन दोनों की टक्कर अक्सर आर्थिक मुद्दों को लेकर होती, लेकिन उसे सांप्रदायिक रंग दे दिया जाता था। पिछले महीनों इन सूबों की धारा सभाओं की बहसों में यह बात बिल्कुल साफ हो जाती है जो गांवों के लोगों पर, खास कर पंजाब के गांवों के लोगों पर, कर्ज के बोझ को कम करने के लिए पेश किये बिलों पर हुई। हिंदू महासभा के प्रतिनिधि ने इन बिलों का जमकर विरोध किया और हमेशा साहूकारों की तरफदारी की।

जब हिंदू महासभा मुसलमानों की सांप्रदायिकता पर आक्षेप करती है, तब वह हमेशा अपनी ही राष्ट्रीयता का सुर अलापती है और उसे निर्दोष बताती है। सभी जानते हैं कि मुस्लिम संस्थाओं ने अपना एक बिल्कुल अजीब सांप्रदायिक रूप अख्तियार किया है। हिंदू महासभा की सांप्रदायिकता इतनी स्पष्ट नहीं है क्योंकि इसने राष्ट्रीयता का चोगा पहन रखा है। परीक्षा का मौका तो तभी आता है, जब राष्ट्रीय और सर्वसाधारण के हित में

कोई ऐसा निर्णय होता है, जिससे ऊंचे तबके के हिंदू लोगों के स्वार्थ पर आंच आती है और ऐसे मौकों पर हिंदू महासभा बार बार नाकामयाब रही है। इन लोगों ने सिंध में बहुमत की घोषित इच्छा के बावजूद वहां के अल्पमत के आर्थिक लाभ का ध्यान रखकर उसे अलग किये जाने की बार बार खिलाफत ही की।

हिंदू और मुस्लिम दोनों ही दलों के नेताओं की राष्ट्र विरोधी और प्रतिक्रियावादी प्रवृत्तियों का सबसे ज्यादा विलक्षण प्रदर्शन तो राउंड टेबुल कांफ्रेंसों में हुआ। ब्रिटिश सरकार उसके लिए ऐसे मुसलमानों को नामजद करने पर तुली हुई थी, जो हर तरह से सांप्रदायिक हों और आगा खां के नेतृत्व में तो ये लोग इतने नीचे उतर गये कि इंग्लैंड के सार्वजनिक जीवन के सबसे ज्यादा प्रतिक्रियावादी और हिंदुस्तान ही नहीं, बल्कि सभी प्रगतिशील वर्गों के नजरिये से सबसे ज्यादा खतरनाक व्यक्तियों तक के साथ मिलने के लिए तैयार हो गये। आगा खां और उनके दल के लोगों का लार्ड लायड के साथ घनिष्ठ संबंध एक बड़ी ही असाधारण बात थी। ये लोग एक कदम आगे बढ़ गये और इन्होंने राउंड टेबुल कांफ्रेंस में यूरोपीय एसोसिएशन के प्रतिनिधियों तक से समझौता कर लिया। यह बड़े ही दुख और निराशा की बात थी क्योंकि यह एसोसिएशन हिंदुस्तान की आजादी का सबसे कट्टर और जबरदस्त विरोधी रहा है और अब भी है।

हिंदू महासभा के प्रतिनिधियों ने इसका जवाब इस तरह दिया कि उन्होंने खास कर पंजाब के लिए लोगों पर हर तरह की रोक लगाने की मांग की, जो अंग्रेजों के हक में थे। उन्होंने ब्रिटिश सरकार के साथ सहयोग करने की पहल करने में मुसलमानों को भी हरा दिया। इससे उन्हें मिला तो कुछ भी नहीं, उल्टे अपने पक्ष को ही उन्होंने नुकसान पहुंचाया और इस आजादी के काम में विश्वासघात किया। मुसलमानों के बोलने के ढंग में कम से कम कुछ संजीदगी तो थी, लेकिन हिंदू सांप्रदायिकों के पास तो यह भी नहीं थी।

मुझे सबसे बड़ी बात तो यह जान पड़ती है कि दोनों तरफ के सांप्रदायिक नेता एक छोटे से ऊंचे तबके के प्रतिक्रियावादी वर्ग के प्रतिनिधि होने के सिवा और कुछ नहीं हैं और ये लोग जनता की धार्मिक भावनाओं का अपने स्वार्थ साधन के लिए दुरुपयोग करते और उससे बेजा फायदा उठाते हैं। दोनों ही तरफ आर्थिक सवालों पर विचार करने के बजाय उनको दबाने और टालने की कोशिश की जाती है। वह वक्त जल्दी ही आने वाला है जब इन सवालों को आगे दबाया जाना नामुमकिन हो जायेगा और तब दोनों ओर के सांप्रदायिक नेता आगा खां की बीस बरस पहले की चेतावनी को दोहरायेंगे कि नरम दल वालों को एक साथ मिलकर सब कुछ बदल देने वाली प्रवृत्तियों के खिलाफ मोर्चा बना लेना चाहिए। कुछ हद तक तो यह बात जाहिर हो ही चुकी है कि दोनों राष्ट्रविरोधी कानूनों को पास कराने में सरकार की मदद करने के लिए असेंबली और ऐसी ही दूसरी जगहों पर आपस में मिल जाते हैं, भले ही वह जनता के सामने एक-दूसरे को कितना ही बुरा-भला

क्यों न कहें...।

पिछले दिनों कुछ मुसलमान सांप्रदायिक नेताओं के व्याख्यानों और वक्तव्यों में एक मजेदार तब्दीली हुई है। इसका कोई असली महत्व नहीं है, लेकिन मुझे शक है कि मेरी जैसी राय और लोगों की नहीं हो। फिर भी यह बात सांप्रदायिकता की मनोवृत्ति को प्रकट करती है और इसे अहमियत भी खुद दी गयी है। हिंदुस्तान में 'मुस्लिम राष्ट्र', 'मुस्लिम संस्कृति' और हिंदू और मुस्लिम संस्कृतियों में घोर असंबद्धता पर खूब जोर दिया जा रहा है। इसका नतीजा स्वाभाविक रूप से यह निकलता है (हालांकि इसे इतने खुले तौर पर नहीं कहा गया है) कि न्याय करने और दोनों संस्कृतियों में बीच बचाव करने के लिए हिंदुस्तान में अंग्रेजों का अनंत काल तक बना रहना बहुत ही जरूरी है।

कुछेक हिंदू सांप्रदायिक नेता भी ठीक यही सोचते हैं। फर्क सिर्फ इतना ही है कि उन्हें यह उम्मीद है कि चूंकि उनका बहुमत है, इसलिए आखिर में उन्हीं की संस्कृति का बोलबाला होगा।

हिंदू और मुस्लिम संस्कृतियां और मुस्लिम राष्ट्र—ये शब्द पुराने इतिहास तथा वर्तमान और भविष्य की कल्पना के कैसे मनमोहक दृश्य उपस्थित कर देते हैं। हिंदुस्तान में मुस्लिम राष्ट्र—एक राष्ट्र के भीतर दूसरा राष्ट्र और वह भी संगठित नहीं, बल्कि बिखरा हुआ और अनिश्चित। सियासी नजरिये से देखा जाये तो यह सोचना ही बिल्कुल वाहियात है और आर्थिक दृष्टि से शेखचिल्ली जैसा है; यह ध्यान देने लायक ही नहीं है। लेकिन फिर भी इनके पीछे जो मनोवृत्ति छिपी है, इसके जरिये थोड़ा-बहुत उसे समझने में मदद मिलती है। मध्ययुग में और उसके बाद भी ऐसे कई राष्ट्र एक साथ मिलकर रहते थे, जो आपस में एक सूत्र में बंध नहीं सकते थे। तुर्की के मुसलमानों के शासनकाल के शुरू में कुस्तुनतुनिया में ऐसे ही एक एक राष्ट्र लैटिन ईसाई, कट्टर ईसाई, यहूदी वगैरह अलग अलग रहते थे और उनके पास कुछ न कुछ स्वत्वाधिकार भी होता था। यह उस देशेतर भावना की शुरुआत थी, जो हाल में पूरब के कुछ मुल्कों के लिए हौवा बन गयी थी। इसलिए 'मुस्लिम राष्ट्र' की बात चलाने का मतलब यह है कि राष्ट्र कोई चीज नहीं है, बल्कि एक धार्मिक सूत्र है, इसका मतलब है कि मौजूदा अर्थ के किसी भी राष्ट्र को विकसित नहीं होने दिया जाये, इसका मतलब है कि वर्तमान सभ्यता को धता बता दी जाये और हम सब फिर मध्ययुग के रीति-रिवाज इख्तियार कर लें, इसका मतलब है कि या तो तानाशाही सरकार हो या फिर विदेशी सरकार हो या फिर इसका मतलब और कुछ नहीं, बल्कि मन की भावुकता है या असलियत खास कर आर्थिक असलियत का जान-बूझ कर या बगैर जाने-बूझे सामना नहीं करने की इच्छा...।

हिंदू और मुस्लिम 'संस्कृति' की भावनाएं भी इसी किस्म की हैं। अब तो राष्ट्रीय संस्कृति का भी जमाना तेजी से बीत रहा है और सारी दुनिया एक सांस्कृतिक इकाई बन रही है। मुख्तलिफ राष्ट्र अपनी विशेषताओं को, जो उनकी निजी हैं, जैसे भाषा, रस्म-रिवाज,

विचारधारा आदि और शायद बहुत समय तक वह इन्हें छोड़ें भी नहीं। मगर मशीनों का युग और विज्ञान—जिसके उपकरण हवाई जहाज, अखबार, टेलीफोन, रेडियो, सिनेमा वगैरह हैं, इन राष्ट्रों को ज्यादा से ज्यादा एक समान बना देंगे। इस अवश्यम्भावी प्रवृत्ति की खिलाफत कोई भी नहीं कर सकता। मौजूदा सभ्यता को नष्ट-भ्रष्ट कर देनेवाला संसार व्यापी विप्लव ही इसको रोक सकता है। जिंदगी के बारे में परंपरा से चले आ रहे हिंदू और मुस्लिम विचारों में जरूर बहुत-से मतभेद हैं। लेकिन अगर हम इन दोनों की तुलना जिंदगी के बारे में मौजूदा वैज्ञानिक और औद्योगिक नजरिये के संदर्भ में देखें, तब यह मतभेद करीब करीब लुप्त हो जाता है क्योंकि इस दृष्टिकोण में और परंपरागत विचारों में जमीन-आसमान का फर्क है। आज हिंदुस्तान में असली झगड़ा हिंदू संस्कृति या मुस्लिम संस्कृति के बीच नहीं है, बल्कि इन दोनों और आधुनिक सभ्यता की वैज्ञानिक संस्कृति के बीच है जो लगातार हावी होती जा रही है। जो लोग 'मुस्लिम संस्कृति' की हिफाजत करना चाहते हैं, जो चाहे कैसी भी हो, उन्हें हिंदू संस्कृति से घबराने की जरूरत नहीं, लेकिन उन्हें पश्चिम से चले आ रहे इस दानव का मुकाबला करना चाहिए। जाती तौर पर मुझे इस बात में कोई शक शुबह नहीं मालूम होता है कि आधुनिक वैज्ञानिक और औद्योगिक सभ्यता का विरोध करने के लिए सारी कोशिशें बेकार जायेंगी, चाहे वह हिंदुओं की या मुसलमानों की तरफ से क्यों न हों और यह देखकर मुझे तो कोई अफसोस नहीं होगा। जिस वक्त रेलें वगैरह हमारे यहां शुरू हुई, उसी वक्त हमने अनजाने में और खुद-ब-खुद इसे मंजूर कर लिया था। सर सैयद ने अलीगढ़ कालेज की स्थापना कर हिंदुस्तान के मुसलमानों की ओर से यही रास्ता चुन लिया था। इस मामले में हम कुछ और कर भी नहीं सकते थे, जैसे जब कोई डूबने लगता है तब उसे कोई ऐसी चीज तो पकड़नी ही होती है, जो उसे बचा सके।

तब यह 'मुस्लिम संस्कृति' क्या चीज है? क्या यह अरब, फारस, तुर्की वगैरह मुल्कों में रहने वाले लोगों के बड़े बड़े कारनामों की कोई कौमी यादगार है? या कोई जुबान या भाषा है? या कोई कला या संगीत है? या कोई रस्मो-रिवाज है? मुझे किसी ऐसी शख्सियत के बारे में नहीं मालूम, जिसने आधुनिक मुस्लिम कला या संगीत का जिक्र किया हो। हिंदुस्तान में मुस्लिम विचारधारा पर अरबी और फारसी दो भाषाओं का और खास कर फारसी का प्रभाव पड़ा है। लेकिन फारसी के प्रभाव में धर्म की कोई बात नहीं उठती। फारसी भाषा और बहुत-सी फारसी रीति-रस्म और परंपराएं हजारों बरसों में हिंदुस्तान में आयीं और सारे उत्तरी हिंदुस्तान पर इनका जोरदार असर पड़ा। फारस तो पूरब का फ्रांस कहा जाता था। उसकी भाषा और संस्कृति उसके आस-पड़ोस के मुल्कों में फैलती रही। यह हम सब हिंदुस्तानियों के लिए एक समान और अनमोल विरासत है।

इस्लामी कौमों और मुल्कों के पुराने जमाने के कार्यों पर गर्व ही शायद सबसे अधिक मजबूत सूत्र है। क्या किसी को इन कौमों के गौरवपूर्ण इतिहास के कारण मुसलमानों पर

एतराज है? जब तक वे इन कार्यों को याद करते रहेंगे और दिल से उसका पोषण करते रहेंगे, तब तक कोई भी इन्हें उनसे छीन नहीं सकता। सच तो यह है यह पुराना इतिहास काफी हद तक हम सभी के लिए समान रूप से गौरव की चीज है क्योंकि शायद हम लोग एशियाई होने के कारण यह महसूस करें कि यूरोप के हमले के खिलाफ हमको एकता के सूत्र में बांध देनेवाली यही चीज है। मुझे याद है कि जब कभी मैं स्पेन में या क्रसेड के वक्त अरब लोगों के साथ हुई लड़ाइयों के बारे में पढ़ता, तब मेरी हमदर्दी हमेशा अरबों के साथ रहती। मैं निष्पक्ष और वस्तुपरक होने की कोशिश करता हूं, लेकिन मैं चाहे जितनी भी कोशिश करूं फिर भी जब कभी एशिया के लोगों की बात आती है तो मेरे एशियाई होने की भावना मेरी विचारधारा को प्रभावित किये बिना नहीं रहती।

मैंने यह समझने की बार बार कोशिश की कि आखिर यह 'मुस्लिम संस्कृति' है क्या चीज? लेकिन मैं जानता हूं कि मैं इसे पूरी तरह नहीं समझ सका। मैं देखता हूं कि उत्तरी हिंदुस्तान में मुसलमानों और हिंदुओं दोनों में कुछ थोड़े-से ऐसे लोग हैं, जिन पर फारसी भाषा और फारसी परंपराओं की छाप है। अगर आम जनता में देखा जाये तो मुस्लिम संस्कृति के सबसे ज्यादा स्पष्ट चिह्न ये हैं : एक खास तरह का पायजामा, न ज्यादा लंबा न ज्यादा छोटा, एक खास तरह की हजामत अर्थात मूंछों को तो काटते रहना, लेकिन दाढ़ी को बढ़ने देना और एक लोटा जिसमें खास तरह की टोंटी होती है। इसी तरह हिंदुओं में धोती पहनने, सिर पर चोटी रखने और एक मुख्तलिफ किस्म का लोटा रखने का रिवाज है। सच तो यह है कि यह फर्क भी ज्यादातर शहरी है और अब धीरे धीरे खत्म होता जा रहा है। मुसलमान किसान और मजदूर और हिंदू किसान और मजदूरों में कोई फर्क नहीं दिखता। मुस्लिम बुद्धिवर्ग के लोग अब कम ही दाढ़ी रखते हैं, हालांकि अलीगढ़ के मुसलमान अभी भी लाल तुर्की टोपी पहनना पसंद करते हैं (यह तुर्की कहलाती है, हालांकि अब कोई भी तुर्क इसे नहीं पहनता)। मुसलमान औरतें साड़ी पहनने लगी हैं और धीरे धीरे पर्दे से बाहर निकल रही हैं। मेरी अपनी पसंद इनमें से कुछ तौर-तरीकों से मेल नहीं खाती और मुझे दाढ़ी या मूंछ या चोटी से कोई लगाव नहीं है, लेकिन मैं अपनी पसंद की कसौटी को दूसरों पर थोपना चाहता भी नहीं। लेकिन मैं यहां बता दूं कि जब काबुल में अमानुल्ला ने इनको एक सिरे से उड़ाना शुरू किया तो मुझे बेहद खुशी हुई थी।

मैं यह भी कहना चाहता हूं कि मुझे ऐसे हिंदुओं और मुसलमानों को देखकर बड़ी दया आती है, जो हमेशा पुराने जमाने का रोना रोया करते हैं और जो हमेशा ऐसी चीजों से चिपके रहना चाहते हैं, जो उनके हाथों से छूटती जा रही है। मैं पुरानी बातों को बुरा नहीं कहता। मैं उनको बिल्कुल ही छोड़ देना भी नहीं चाहता क्योंकि हमारे अतीत में बहुत-सी बातें ऐसी हैं, जो बड़ी अच्छी और बेमिसाल हैं। ये चीजें हमेशा रहेंगी, इसमें मुझे रत्ती भर कोई शक नहीं है। लेकिन ये लोग इन अच्छी बातों को तो नहीं रखते, बल्कि ऐसी चीजों को पकड़ते हैं जो निकम्मी और नुकसानदेह होती हैं।

हिंदू और मुस्लिम सांप्रदायिकता

हिंदू संप्रदायवादियों और हिंदू महासभा के बारे में हाल में, मैंने जो कुछ कहा उससे बहुत-से लोगों के दिलों को चोट पहुंची है, जिसने तूफान खड़ा कर दिया है। बहुत दिनों तक मुझे हर सुबह अखबारों में अपनी आलोचना और निंदा की खबरें पढ़ने को मिलतीं, जो मेरे लिए ताकत की गोलियों का काम करतीं। जिन लोगों ने यह किया मैं सबका शुक्रगुजार हूं। हर किसी के लिए यह मुमकिन भी नहीं होता कि जिस तरह लोग उसे देखते हैं, उसी तरह वह भी अपने को देखे। चूंकि यह मौका मुझे दिया गया है और लिखाई-पढ़ाई, पालन-पोषण, वंश परंपरा, संस्कृति तथा दूसरे और कई मामलों में, जिनके लिए मैं खुद जिम्मेदार हूं, मुझमें अनगिनत कमजोरियां बड़े ही नरम शब्दों में गिनाई गयी हैं, मैं इसके लिए भी एहसानमंद हूं। खैर, मुझे जो डांट पिलाई गयी है, उससे मैं फायदा उठाने की कोशिश जरूर करूंगा, लेकिन अफसोस इस बात का है कि मैं वह उम्र पार कर चुका हूं, जब किसी के विचारों और कामों की पुश्त को बदला जा सकता है।

मैंने इन आलोचनाओं का जवाब देने में जल्दी नहीं की। मैंने सोचा कि गुस्सा ठंडा होने तक इंतजार करना ठीक रहेगा, जिससे हम इस सवाल पर शांतिपूर्वक और शख्सियतों को घसीटे बि ा विचार कर सकें। यह हम सभी हिंदुस्तानियों के लिए एक बड़ा ही अहम सवाल है, खासतौर से उनके लिए जो अपनी पैदाइश की वजह से हिंदू हैं या जो अपनी इच्छा से हिंदुओं के तरफदार हैं...।

जहां तक मुख्य मुद्दे का सवाल है, मैं कबूल करता हूं कि मुझे कोई पछतावा नहीं है और मैं यह भी कहता हूं कि हिंदू महासभा समेत सभी हिंदू संप्रदायवादी संस्थाओं के कार्यकलाप सांप्रदायिक, राष्ट्रविरोधी और प्रतिक्रियावादी रहे हैं। बेशक यह बात इन संस्थाओं के सभी मेंबरों पर लागू नहीं होती, लेकिन यह बात इनमें से बहुमत वाले वर्ग और उस

दि ट्रिब्यून में 30 नवंबर, 1933 को सर्वप्रथम प्रकाशित लेख से। इसे *सेलेक्टेड वर्क्स,* वाल्यूम 6 में पृष्ठ 161-67 पर पुनः प्रकाशित किया गया। जवाहरलाल नेहरू को 26 दिसंबर, 1931 को कैद किया गया, 30 अगस्त, 1933 को छोड़ दिया गया और दोबारा 12 फरवरी, 1934 को कैद किया गया था। यहां हाल में मैंने जो कुछ कहा उससे संकेत उन बातों की ओर है, जो बनारस हिंदू यूनिवर्सिटी के छात्रों की सभा में एक भाषण में कहे गये थे। यह लेख इस भाषण के बाद लिखा गया। इस पर *मेरी कहानी* में सांप्रदायिकता और प्रतिक्रिया शीर्षक अध्याय में चर्चा हुई है

वर्ग पर लागू हो सकती है, जिसका इन पर नियंत्रण है। संस्थाएं समय समय पर अपनी नीतियां बदलती रहती हैं और जो बात आज सच हो सकती है, हो सकता है कि वह दूसरे दिन पूरी तरह सच नहीं हो। जहां तक मेरी जानकारी है, हिंदू सांप्रदायिक संस्थाएं खास कर पंजाब और सिंध में और भी ज्यादा सांप्रदायिक, राष्ट्र विरोधी और सियासी नजरिये से प्रतिक्रियावादी होती जा रही हैं।

मुझे बताया गया है कि यह मुस्लिम सांप्रदायिकता और प्रतिक्रियावादी नीति का अंजाम है और मुझे इसलिए फटकार बतायी गयी है कि मैंने मुस्लिम संप्रदायवादियों को कुछ भी बुरा-भला नहीं कहा। मैं पहले ही कह चुका हूं कि हिंदू श्रोताओं के सामने बोलते हुए मुस्लिम संप्रदायवादियों और प्रतिक्रियावादियों को कुछ भी कहना मेरे लिए निहायत बेमानी होता। ऐसा करना उन लोगों के सामने बोलना होता, जो अपना मजहब बदल चुके हैं क्योंकि औसत हिंदू उन बातों से अच्छी तरह वाकिफ हैं। दूसरों की कमजोरियों को देखने के मुकाबले अपनी कमजोरियों को देखना ज्यादा मुश्किल होता है। मेरा यह विचार है कि आपसी शुबह के मौजूदा माहौल में दूसरे धर्म वाले लोगों को नसीहत देने से कोई फायदा नहीं होता, गोकि जब जरूरत पड़े तब हकीकत का सामना करना चाहिए और सच बात कहनी चाहिए।

मैं नहीं समझता कि मुस्लिम सांप्रदायिक संस्थाएं हिंदुस्तान की किसी बड़ी जमात की नुमाइंदगी करती हैं, सिवा इस बात के कि वे मुसलमानों में उनके मौजूदा जज्बात से अपना फायदा करती हैं। इन संस्थाओं में मुस्लिम आल पार्टीज कांफ्रेंस और मुस्लिम लीग भी शामिल हैं। लेकिन यह बात अपनी जगह कायम है कि वे मुसलमानों की तरफ से बोलने का दावा करती हैं और फिलहाल कोई भी दूसरी संस्था ऐसी नहीं है, जो इस दावे को झुठला सके। चूंकि इन संस्थाओं का मिजाज लड़ाका और सांप्रदायिक होता है, इसलिए ये संस्थाएं उन बहुत-से राष्ट्रीय मुसलमानों से बाजी मार ले जाती हैं, जो कांग्रेस में आ चुके हैं। इन संस्थाओं के नेता खुल्लमखुल्ला और कट्टर सांप्रदायिक हैं। इनकी बातों से इन्हें पहचाना जा सकता है। और यह भी साफ पता चल जाता है कि इनमें से बहुत से तो बिला शक पहले दर्जे के राष्ट्रविरोधी और सियासी प्रतिक्रियावादी हैं। जाहिर है कि वह यह नहीं चाहते कि हिंदुस्तान में कोई मिली-जुली कौम फल-फूल सके। कहा गया है (31 दिसंबर, 1932 का 'दि स्टेट्समैन') कि पिछले बरस ब्रिटिश हाउस आफ कामंस की एक मीटिंग में आगा खां, सर मुहम्मद इकबाल और डा. शफान अहमद खां ने इस बात पर जोर दिया था कि हिंदुओं और मुसलमानों में आपस में मेल बुनियादी तौर से नामुमकिन है, चाहे वह सियासी आधार पर या बेशक सामाजिक मामले में ही क्यों न हो। इन वक्ताओं ने आगे यह भी कहा कि अंग्रेजों के अलावा किसी दूसरे से हिंदुस्तान पर हुकूमत कभी भी मुमकिन नहीं हो सकेगी। इस तरह के बयानों से अभी या आगे भी राष्ट्रीय भावनाओं की हिंदुस्तान की आजादी के लिए जरा भी गुंजाइश नहीं रह जाती।

मैं नहीं समझता कि ये बयान आम मुसलमानों या ज्यादातर उन मुसलमानों के ख्याल हो सकते हैं, जिनका झुकाव सांप्रदायिकता की ओर है। लेकिन बेशक ये ख्याल उस वर्ग के हो सकते हैं, जो मुसलमानों पर हावी है और सियासी मामलों को लेकर शोर मचाता है। अगर कोई इन ख्यालों को राष्ट्रीयता और आजादी से जोड़ता है, तब यह उसकी जेहनियत पर धब्बा है और असली आर्थिक आजादी तो उनके लिए अभी भी बहुत दूर की बात है। बुनियादी तौर पर यह नजरिया सियासी, सांस्कृतिक, राष्ट्रीय और सामाजिक, अर्थात पूरी तरह से प्रतिक्रियावादी है। इन संस्थाओं का अगर जायजा लिया जाये तो इनके ऐसा होने पर किसे ताज्जुब होगा। इन संस्थाओं के खास खास मेम्बरों में से बहुत से सरकारी अफसर, सरकार के पुराने अफसर, मिनिस्टर, आगे होने वाले मिनिस्टर, सर और दूसरे खिताबयाफ्ता और बड़े बड़े जमींदार वगैरह हैं। आगा खां इनके लीडर हैं, जो एक मालदार मजहबी जमात के सरगना हैं और जिनमें सामंती व्यवस्था और उस ब्रिटिश हुक्मरान तबके की आदतों का कमाल का घोल है, जिनके साथ उनका बहुत बरसों का नजदीकी ताल्लुक रहा है...।

जाती तौर पर मैं सोचता हूं कि अगर संप्रदायवादियों का सियासी मकसद एक जैसा हो, तब उनसे सहयोग करना आमतौर पर मुमकिन है। लेकिन प्रगति और प्रतिक्रियावाद के बीच या जो आजादी के लिए लड़ते हैं और जो गुलामी से खुश हैं और उसे आगे भी बरकरार रखना चाहते हैं उनके बीच, मेल मिलाप की कोई गुंजाइश नहीं है। यह वह सियासी प्रतिक्रिया है, जो सांप्रदायिकता की आड़ में मुल्क पर छाई हुई है और जो एक जमात के दूसरी जमात से डरते रहने का फायदा उठाती है।

सांप्रदायिक समस्याओं में हमें डरने की इसी मनोवृत्ति से निपटना है। सच्ची सांप्रदायिकता है डर और झूठी सांप्रदायिकता है राजनीतिक प्रतिक्रिया।

अल्पसंख्यक समुदाय के लोगों में यह डर कुछ हद तक जायज है या समझ में भी आता है। जहां तक मुसलमानों का ताल्लुक है, हम इस डर को हिंदुस्तान भर में देखते हैं। हिंदुओं के मामले में हम इस डर को इतने ही जबरदस्त रूप में पंजाब और सिंध में देखते हैं और पंजाब में सिखों के लिए...।

मुस्लिम सांप्रदायिक लीडरों के रुख के वर्ग के बारे में मैंने यह खुद सिर्फ तस्वीर को पूरा करने के लिए नहीं लिखा है, बल्कि इसलिए कि यह हिंदुओं की सांप्रदायिक भावनाओं को समझने के लिए शुरू में जरूरी था। इन दोनों में कोई बुनियादी फर्क नहीं है। लेकिन एक फर्क जरूर है कि हिंदू समाज के बड़े बड़े बहुत-से नेता कांग्रेस में आ गये थे, जिससे कांग्रेस और भी बड़ी जमात बन गयी। इन बातों की वजह से हिंदू सांप्रदायिक लोग राजनीति में कोई खास भूमिका नहीं अदा कर सके। हिंदू महासभा के लीडरों ने अपने को ज्यादातर कांग्रेस की नुक्ताचीनी करने के काम तक सीमित रखा। जब कांग्रेस के कार्यक्रम कुछ धीमे

पड़ गये, तब हिंदू सांप्रदायिक लोगों को खुद-ब-खुद आगे आने का मौका मिल गया। इनका रुख खुलेआम प्रतिक्रियावादी था।

यह याद रखना चाहिए कि बहुमत की सांप्रदायिकता के लिए यह जरूरी है कि अल्पमत की सांप्रदायिकता की तुलना में वह राष्ट्रीय भावना जैसी हो। इसकी जांच तो राष्ट्रीय आंदोलन के बारे में इसके रुख को देखने से हो सकती है। अगर यह सियासी तौर पर प्रतिक्रियावादी है या राष्ट्रीय समस्याओं के बजाय सांप्रदायिक मसलों पर ध्यान देती है, तब तो जाहिर है कि यह राष्ट्र विरोधी है।

हम सभी जानते हैं कि साइमन कमीशन का हिंदुस्तान में सब जगह और लगभग सब की राय से बायकाट हुआ था। भाई परमानंदजी ने अजमेर में अध्यक्ष की हैसियत से कहा कि हिंदुओं का इस बायकाट में हिस्सा लेना उनके हित में नहीं था। पंजाब में हिंदुओं ने (शायद उनके कहने पर) कमीशन का साथ दिया। उन्होंने यह बात इस सहयोग की पैरवी करते हुए कही। इस तरह भाईजी की राय है कि इस सवाल का कौमी पहलू चाहे जो रहा हो, हिंदुओं का ब्रिटिश सरकार का साथ देना एक ठीक कदम था, जिससे कुछ सांप्रदायिक लाभ हासिल किये जा सकें। जाहिर है कि यह नजरिया राष्ट्रविरोधी है। अगर इस कथन पर सांप्रदायिकता की संकीर्ण दृष्टि से भी देखा जाये, तब भी इसमें कोई भलाई नहीं दिखती क्योंकि किसी एक संप्रदाय को कोई लाभ दूसरे संप्रदाय के हित की अनदेखी करके ही दिया जा सकता है और अगर दोनों ही संप्रदाय सरकार की मेहरबानी चाहें, तब इस बात की गुंजाइश कम ही रहती है कि दोनों संप्रदाय के लोगों को थोड़ा-सा भी लाभ पहुंचेगा।

भाईजी अपनी जिस दलील को बार बार दुहराते हैं, वह यह कि ब्रिटिश हुकूमत हिंदुस्तान में इतनी मजबूती के साथ जमी हुई है कि जनता का कोई भी आंदोलन उसे डिगा नहीं सकता। इसलिए ऐसा करना बेवकूफी है। इसके बजाय सिर्फ एक उपाय है कि हम मेहरबानी पर निर्भर रहें। बड़ी इज्जत के साथ इस दलील के बारे में मैं यही कह सकता हूं कि ऐसा करना तो हर कौम के लिए शर्मनाक बात होगी, चाहे वह कितनी ही गिरी हुई क्यों न हो।

भाईजी का कहना है कि हिंदू-मुस्लिम एकता के बारे में सोचना ही बेकार है। यह एक गलत आदर्श है, जिसे पाने की कोशिश की जाये क्योंकि ताकत देना तो सरकार के हाथ में है। अगर हमें ताकत हासिल करनी है तब सरकार से मेहरबानी मांगने के सिवा और सब कोशिशों का कोई मतलब नहीं है। और अगर हिंदू-मुस्लिम सहयोग और मेल मिलाप नामुमकिन-सी बात है, तब राष्ट्रीयता के जो मायने अमूमन मुल्क भर में समझे जाते हैं, वह राष्ट्रीयत्ता भी नामुमकिन है। लाजिमी तौर पर इसका नतीजा और भाईजी इसे मानते भी हैं कि हमारी राष्ट्रीयता को 'हिंदू राष्ट्रवाद' कहा जाता है और जो हिंदू

सांप्रदायिकता का दूसरा नाम है। इसके लिए सस्ता क्या है? ब्रिटिश साम्राज्यवाद के साथ सहयोग करना। भाईजी अपने अध्यक्षीय भाषण में फरमाते हैं, "मेरा हृदय कहता है कि अगर नये हिंदुस्तान की राजनीतिक संस्थाओं में यहां की प्रमुख कौम के रूप में हिंदुओं के पद और प्रतिष्ठा को मान्यता दे दी जायेगी, तब हिंदू लोग खुशी से ग्रेट ब्रिटेन का साथ देने लगेंगे।"

किसी संप्रदाय की खिलाफत कर सरकार से मिलने की कोशिश करना बड़ी आसान-सी बात है और यह एक ऐसी नीति है, जिसे कोई सांप्रदायिक संस्था ही अपना सकती है। सरकार की ख्वाहिशों से बेशक इसका पूरा मेल बैठता है क्योंकि इस हालत में एक संप्रदाय को दूसरे संप्रदाय से भिड़ा सकती है। यह वही पालिसी है, जिसे मुस्लिम सांप्रदायिकों ने अपने थोड़े से चंदरोजा फायदे के लिए अपनाया था। यह वही नीति है, जिसका समर्थन हिंदू महासभा शुरू से ही कुछ हद तक करती रही, लेकिन जिसे राष्ट्रवादी हिंदुओं के दबाव की वजह से पूरी तरह अपना नहीं सकी है। ऐसा लगता है कि इसके नेताओं ने इसे पक्के तौर से अपना लिया है।

मध्यप्रांत हिंदू कांफ्रेंस के अध्यक्ष पद के लिए डा. मुंजे ने 17 मई, 1923 को साफ साफ कहा था, "महात्मा गांधी जिस तरह के असहयोग की सीख दे रहे हैं और उस पर अमल कर रहे हैं, उसमें महासभा का कभी कोई यकीन नहीं रहा। वह तो प्रेरणा और प्रतिफल यानी सहानुभूतिपूर्ण सहयोग के सनातन नियम में विश्वास करती है। डा. मुंजे सनातन विधि के अधिकारी विद्वान हैं। लेकिन मैं सोचता हूं कि उसमें यह नहीं कहा गया होगा कि ठोकरों से मारे जाने का जवाब यह है कि हम ठोकर मारने वाले के आगे पेट के बल लेट जायें। उन्होंने यह भाषण तब दिया था, जब राष्ट्रीय आंदोलन व्यापक रूप से छिड़ा हुआ था और आर्डिनेंस राज के तहत चारों ओर पूरे जोरों से दमन की कार्रवाई चल रही थी...।

डा. मुंजे 1930 में खुद राउंड टेबुल कांफ्रेंस में गये थे, जब सविनय अवज्ञा आंदोलन जोरों पर था। बल्कि उनके साथ इंसाफ करने के लिए यह कहना चाहिए कि वह वहां व्यक्तिगत हैसियत से गये थे। बेशक आगे चल कर हिंदू महासभा ने लंदन की कांफ्रेंसों और कमेटियों में पूरी तरह शिरकत की।

इन बैठकों में महासभा के नुमाइंदों ने, खासतौर से पंजाब और सिंधवालों ने, जो पार्ट अदा किया, उसके बारे में मैं इतना ही कहना चाहता हूं कि यह बहुत ही अफसोस की बात थी। सियासी नजरिये से देखा जाये तो यह बहुत ही प्रतिक्रियात्मक था और उसमें ब्रिटिश सरकार या गवर्नरों के सुरक्षित अधिकारों और अन्य उपबंधों में बढ़ोतरी के लिए कोशिश की गयी, जिससे कुछ सूबों में मुस्लिम बहुमत को कारगर तरीके से अपनी ताकत का इस्तेमाल करने से रोका जा सके। हिंदू सांप्रदायिकों ने सारे हिंदुस्तान में मुस्लिम

सांप्रदायिकों की ऐसी ही पालिसी और दलील कुछ सूबों के बारे में अपनायी...।

मिले-जुले चुनाव कराने की मांग के अलावा सिंध हिंदू महासभा का सारा मामला लोकतंत्र के उसूलों के खिलाफ है। इसमें बहुमत की ख्वाहिश को कारगर होने से रोकना है क्योंकि इससे अल्पमत को नुकसान हो सकता है। इसके अलावा अल्पमत वालों की धन-दौलत और तालीम को लेकर दलीलें पेश की गयीं। ये दलीलें राष्ट्रीय हित में नहीं हैं। हम सबके लिए वहां पर भारी भरकम ब्रिटिश शासन को जारी रखने की दलील देकर उसे स्वार्थ पूर्ति का जरिया बनाया गया। मौजूदा हालत में सिर्फ धन-दौलत या आर्थिक कंट्रोल खुद में काफी हिफाजत नहीं है। बल्कि इनकी हिफाजत भी की जानी जरूरी है। जो दलीलें सिंध की हिंदू महासभा ने पेश कीं, आमतौर पर वही दलीलें कुल मिलाकर सारे हिंदुस्तान में मुस्लिम अल्पमत भी पेश कर सकता है। फर्क सिर्फ यह होगा कि हिंदू आमतौर पर ज्यादा धनी और ज्यादा तालीमयाफ्ता तबका है और इसलिए उसके पास माली ताकत भी ज्यादा है।

सिंध में मुसलमानों की पिछड़ी हुई हालत को दिखाने की गर्ज से सिंध की हिंदू महासभा ने ज्वाइंट पार्लियामेंटरी कमेटी को दिये गये अपने मेमोरेंडम में वहां के मुसलमानों के बारे में बड़ी ही घटिया बातें कहीं हैं। इन्हें पद का बहुत अचरज और अफसोस होता है। उन्हें देखकर कैथरीन मेमो की याद आ जाती है, जिन्होंने हिंदुस्तान की हर चीज को बुरा बताया था।

मुझे नहीं मालूम कि यह पंजाब हिंदू महासभा क्या है? शायद हिंदू महासभा से इसका कोई ताल्लुक नहीं हो। हो सकता है कि यह महज कुकुरमुत्ते की तरह से उग आयी हो और इसकी सरपरस्त हमारी मेहरबान सरकार हो। पिछली मई में जब भाई परमानंद ज्वाइंट कमेटी के सामने गवाही देने जा रहे थे, तब इस सभा ने उन्हें एक पैगाम भेजा था। इस पैगाम में इस बात पर जोर दिया गया कि गवर्नरों के अधिकार बरकरार रखे जायें, जिससे पंजाब के हिंदू महफूज रह सकें...।

एक और संस्था, लाहौर की पंजाब यूथ लीग ने, जिसके बारे में मैं कुछ नहीं जानता, 29 मई, 1933 को एक आम बयान में कहा है, 'हम महसूस करते हैं कि अब एकता का वक्त आ गया है, यह हिंदुओं और मुसलमानों के बीच उतनी जरूरी नहीं है, जितनी कि ब्रिटिश और हिंदुस्तानियों के बीच...हिंदू लीडरों...को कांफ्रेंसों और कैबिनट की बैठकों में हिंदू अल्पसंख्यकों के हितों की हिफाजत पर जोर देना चाहिए।'

इन बयानों के लिए मैं हिंदू महासभा को जिम्मेदार नहीं ठहरा सकता, लेकिन हकीकत यही है कि उसके साथ इनका मेल बैठता है और ये बयान उसके रुख को कुछ तफसील से पेश करते हैं। इन बयानों से यह साफ जाहिर होता है कि बहुत से हिंदू सांप्रदायिक लोग ब्रिटिश साम्राज्य की मेहरबानी पाने के लिए उसका साथ देने की बात जरूर सोच

रहे हैं। यह बताने के लिए कि यह रवैया न सिर्फ एक संकीर्ण सांप्रदायिक रवैया है, बल्कि यह राष्ट्र विरोधी और बेहद प्रतिक्रियावादी है...

यह बिल्कुल सच बात है कि हिंदू महासभा ने शुरू से ही मिले-जुले चुनाव का समर्थन किया है और जाहिर है कि समस्या का सिर्फ यही राष्ट्रीय हल है। यह भी सच है कि कम्यूनल अवार्ड राष्ट्रीयता के बिल्कुल उल्टे है और उसका मकसद हिंदुस्तान को मजहबी हिस्सों में बांट देना है, जिससे और भी ज्यादा फूट हो और ब्रिटिश साम्राज्यवाद का शिकंजा मजबूत हो। यह याद रखना चाहिए कि अगर राष्ट्रीयता से सिर्फ बहुमत के लोगों का भला होता है, तब उसे मंजूर नहीं किया जा सकता। जांच तो उन सूबों में होती है, जिनमें मुसलमानों का बहुमत है और इस इम्तहान में हिंदू महासभा नाकामयाब रही है।

मुस्लिम संप्रदायवादियों को कसूरवार ठहराना भी काफी नहीं क्योंकि कुल मिलाकर बदकिस्मती से हिंदुस्तान के मुसलमान बहुत पिछड़े हुए हैं और दूसरे मुल्कों के मुसलमानों के मुकाबले में नहीं ठहरते। मुद्दा यह है कि हिंदुस्तान में हिंदुओं पर एक खास जिम्मेदारी आती है। इसकी दो वजहें हैं—एक तो यह है कि उनकी तादाद बहुत ज्यादा है और दूसरी यह कि आर्थिक और शिक्षा के क्षेत्र में वे बहुत आगे हैं। हिंदू महासभा ने यह जिम्मेदारी पूरी करने के बजाय इस ढंग से काम किया, जिससे मुसलमानों में सांप्रदायिकता की भावना बिला शक और भी तेज हो गयी और वे हिंदुओं पर और भी ज्यादा शक करने लगे। उनकी सांप्रदायिकता का मुकाबला करने के लिए जो एक ही रास्ता इन्होंने अपनाया, वह इनकी अपने ही ढंग की सांप्रदायिकता है। एक की सांप्रदायिकता दूसरे की सांप्रदायिकता को खत्म नहीं करती, एक से दूसरे को खुराक मिलती है और दोनों ही और भी ज्यादा बढ़ती जाती हैं।

महासभा ने अजमेर में 'कम्यूनल अवार्ड' पर एक लंबा-चौड़ा प्रस्ताव पास किया है, जिसमें इस अवार्ड की बहुत-सी कमियां और विरोधी बातें बतायी गयी हैं। लेकिन जहां तक मेरी जानकारी है, उसमें श्वेत पत्र की स्कीम के खिलाफ कुछ एक शब्द भी नहीं कहा है। जाती तौर पर मैं इस स्कीम की छोटी छोटी नुक्ताचीनी में कोई दिलचस्पी नहीं रखता क्योंकि मैं यह मानता हूं कि यह एकदम निकम्मी है और इसमें सुधार की कोई गुंजाइश नहीं है। लेकिन जिस तरह से महासभा ने उसे नजरअंदाज किया है, उसका मतलब यह था कि उसका सरोकार हिंदुस्तान की आजादी के सियासी पहलू से बिल्कुल भी नहीं है, जो हो सकता है किसी और सियासी पहलू से हो। उसके सोचने का ढंग सिर्फ यही है कि हिंदुओं को क्या मिला और क्या नहीं मिला। कहा जाता है कि आजादी के बारे में एक प्रस्ताव लाया गया था, लेकिन जाहिर है कि उसे दबा दिया गया। यही नहीं, राजनैतिक या आर्थिक मुद्दे से ताल्लुक रखने वाले किसी भी प्रस्ताव पर विचार नहीं किया गया। अगर महासभा हिंदुओं की नुमाइंदगी करने का दावा करती है तो क्या यह कहना पड़ेगा कि हिंदुओं

को आजादी में कोई दिलचस्पी नहीं है?

आमतौर पर यही काफी था। लेकिन मौजूदा हालात में और पिछले कुछ बरसों में शान के साथ जो लड़ाई लड़ी गयी और जो कुर्बानियां की गयीं, उन्हें देखते हुए इस तरह की भूल का एक ही मतलब हो सकता है कि महासभा ने राष्ट्रीय आधार पर सोचना बंद कर दिया है और छोटे छोटे सांप्रदायिक मसलों में उलझ गयी है। यह भी कहा जा सकता है कि यह पालिसी जानबूझ कर अपनायी जा रही है, जिससे जिस सरकार से महासभा मेल-जोल करना चाहती है, उसे कोई नाराजगी नहीं हो।

यह धारणा इस हकीकत से और भी पुष्ट हो जाती है कि महासभा के प्रस्तावों में या उसके अध्यक्षीय भाषणों में आर्डिनेंस राज के बारे में या सरकार ने दमन की जो असाधारण कार्रवाईयां की हैं और जो वह अब भी कर रही है, उसके बारे में कुछ भी नहीं कहा गया है। महासभा अपनी ही दुनिया में रहती दिखती है, जिसका हिंदुस्तान की जनता के संघर्ष से, इच्छाओं से और कुर्बानियों से कोई वास्ता नहीं है...।

मैं नहीं कह सकता कि हिंदू या मुस्लिम सांप्रदायिक संस्थाओं में कितने लोग हैं। मुमकिन है कि जब धार्मिक भावनाएं उभर आती हैं, उस वक्त दोनों तरफ बड़ी तादाद में शामिल हो जाते हों, लेकिन यह मैं जरूर कहूंगा कि दोनों ओर ये संस्थाएं आलदार ऊंचे दर्जे के लोगों के वर्गों की नुमाइंगी करती हैं और सांप्रदायिक लाभ के लिए संघर्ष का असली मतलब यह है कि ये वर्ग अपने लिए जितना भी मुमकिन हो ज्यादा से ज्यादा ताकत और अधिकार हासिल कर लें। ज्यादा से ज्यादा इसका मतलब है कि हमारे कुछ बेरोजगार पढ़े-लिखे लोगों के लिए नौकरियां मिल जायें। ये सांप्रदायिक मांगें कहां तक जनता की जरूरतों को पूरा करती हैं। मजदूरों, किसानों और निचले मध्यवर्ग के लोगों के लिए हिंदू महासभा या मुस्लिम लीग के पास क्या प्रोग्राम है, जो मुल्क की आबादी का एक बड़ा हिस्सा हैं। उनके पास कोई प्रोग्राम नहीं है, सिवा यह इनकार करना कि मौजूदा सामाजिक व्यवस्था में खलल न डाला जाये। यह बात खुद ही जाहिर करती है कि इन सांप्रदायिक संस्थाओं को काबू में रखने वाली ताकत ऊंची जमातवालों की है, जिनके हाथों में हमारे सामाजिक वर्ग हैं। मुस्लिम सांप्रदायिक लोग हमें इस्लाम के लोकतंत्र के बारे में बहुत कुछ बताते हैं, लेकिन असल में वे लोकतंत्र से खौफ खाते हैं। हिंदू सांप्रदायिक लोग राष्ट्रीयता की बातें करते हैं, लेकिन वे 'हिंदू राष्ट्रवाद' की कल्पना करते हैं।

मुझे जाती तौर पर इस बात का पूरा यकीन है कि हिंदुस्तान में राष्ट्रवाद हिंदू, मुस्लिम, सिख और दूसरे वर्गों के एक-दूसरे के साथ घुल-मिल जाने से ही आ सकता है। इसका यह मतलब न है और न होना चाहिए कि किसी वर्ग की मूल संस्कृति खत्म हो जायेगी, लेकिन इसका एक मतलब जरूर है और वह है एक आम राष्ट्रीय नजरिये का होना। बाकी सभी मामले इसके मातहत होंगे। मेरी समझ में यह नहीं आता कि हिंदू-मुस्लिम एकता

या कोई और एकता, क्या इसे सिर्फ मंत्र की तरह जपने से आ जायेगी? लेकिन मुझे इसमें कोई शक नहीं कि यह एकता आयेगी, लेकिन यह एकता समाज के निचले तबकों से आयेगी ऊपर से नहीं आयेगी क्योंकि ऊपरी तबके के बहुत से लोग अंग्रेजों की सरपरस्ती में बेहद दिलचस्पी रखते हैं। यह उम्मीद करते हैं कि इसके जरिये उनके अधिकार सुरक्षित रहेंगे। लाजिमी है कि सामाजिक और आर्थिक ताकतें जुदा जुदा मसलों को लेकर दरारें पैदा करेंगी, लेकिन यह मजहबी दरार तो खत्म हो जायेगी।

मेरे दोस्तों ने, जिनकी राय की मैं कद्र करता हूं, मुझे आगाह किया है कि धार्मिक संस्थाओं के बारे में मेरे दृष्टिकोण की वजह से बहुत-से लोग मुझसे नाराज हो जायेंगे। यह होना लाजिमी है। मैं अपने मुल्क में किसी को भी नाराज नहीं करना चाहता क्योंकि हम एक बड़े ही ताकतवर मुखालिफ के खिलाफ एक जबरदस्त लड़ाई के दौर से गुजर रहे हैं। और इस लड़ाई के वक्त यह जरूरी है कि हम मंजिल को हमेशा अपने सामने रखें और उन बातों से बचें, जो हमारे मकसद को नुकसान पहुंचाती हैं। यह होते देखकर अगर मैं चुपचाप बैठा रहूं तो मैं झूठा साबित होऊंगा—अपने तईं, अपने दोस्तों और साथियों के सामने, जिनमें से कितनों ही ने आजादी की बलिवेदी पर अपना सब कुछ न्यौछावर कर दिया है और उनके तईं भी, जो मेरे विचारों से इत्तफाक नहीं रखते। मैं समझता हूं कि जो लोग इस कोशिश में मदद कर रहे हैं, वे अपने अपने विश्वास के मुताबिक ईमानदार हो सकते हैं। मैं उनकी नेकनीयती पर शक नहीं करता। लेकिन इस सबके बावजूद उनकी धारणाएं गलत, राष्ट्र विरोधी और प्रतिक्रियावादी भी हो सकती हैं।

मैं यह जाती तौर पर लिख रहा हूं और इस मामले में मैं अपने अलावा किसी और का नुमाइंदा होने का दावा नहीं करता। बहुत-से लोग मुझसे इत्तफाक रख सकते हैं और मैं उम्मीद भी करता हूं। लेकिन वे रखें या न रखें, मुझे अपने मन की बात तो बेधड़क होकर कहनी चाहिए। लेकिन यह राजनीतिज्ञों का तरीका नहीं है, क्योंकि राजनीति के मामलों में लोग जो कुछ कहते हैं, बहुत होशियारी से कहते हैं और इस गरज से तो हरगिज नहीं कि किसी तबके या किसी व्यक्ति को नाराज कर दें और उसकी हमदर्दी खो दें। लेकिन मैं अपनी खुशी से राजनीति में नहीं आया, मुझे तो मुझसे कहीं ज्यादा जबरदस्त ताकतों ने इस दायरे में धकेल दिया है और हो सकता है कि राजनीति करने वाले लोगों के तरीके मुझे अभी सीखने पड़ें।

भाई परमानंद और स्वराज्य

भाई परमानंद जी का एक लेख, 'स्वराज्य क्या है' मैंने अभी पढ़ा ('सरस्वती', अगस्त 1935)। बहुत आशा से पढ़ा था कि इस कठिन सवाल के हल करने में या समझने में कुछ सहायता मिलेगी। लेकिन पढ़कर आश्चर्य हुआ। भाईजी हिंदू महासभा के एक बड़े नेता हैं और उस सभा का ध्येय क्या है या दृष्टिकोण क्या है, यह बताने का उनको पूरा हक है और कदाचित कोई और उतने अधिकार से यह न बतला सके। कांग्रेस का इस समय क्या राजनीतिक ध्येय है, वह छिपी बात नहीं है, लेकिन जो भाईजी उसको समझे हैं, वह अजीब बात है। अगर भाईजी की तरह और लोग भी कुछ ऐसा ही समझे हैं तो ताज्जुब क्या कि इतनी गलतफहमी है?

भाईजी ने 'स्वराज्य' के दो अर्थ लगाये हैं। मुख्तसर एक तो यह है कि अपने 'स्व' पर कायम रहें, यानी धर्म, सभ्यता, संस्कृति, आचार इत्यादि पर कायम रहें, और दूसरे यह कि अपने 'स्व' को छोड़कर हुकूमत के 'स्व' को स्वीकार कर लें—अपना धर्म छोड़ दें, पूर्वजों को तिलांजलि दे दें, जातीयता को त्याग दें। इस भेद को समझाने के लिए उन्होंने भारत में जब इस्लामी राज था, उस समय का उदाहरण दिया है और मिस्र और ईरान की भी मिसाल पेश की। फिर भाईजी ने हमको यह बताया है कि पहले तरह के स्वराज्य के लिए हिंदू महासभा यत्न कर रही है, यानी अपनी जातीयता और धर्म रखने की, और दूसरे प्रकार के स्वराज्य की कांग्रेस कोशिश करती है, यानी अपनी जातीयता मिटा दें और पराये की ओढ़ लें। यह भी उन्होंने दिखाया है कि इस प्रकार की नयी जातीयता और 'स्वराज्य' लेने का सबसे आसान तरीका यह है कि हम सब अपना धर्म छोड़कर ईसाई हो जायें—"हमारा 'स्व' इंग्लैंड के लोगों का 'सेल्फ' हो जायेगा और हम स्वतंत्र हो जायेंगे।"

छोटे-से मजमून में भाईजी ने बहुत बहस-तलब, और मेरी राय में गलत बातें लिखी हैं और उन पर कुछ कहने को जी चाहता है। बहुत अदब से मैं उनसे यह कहना चाहता हूं कि चंद कांग्रेस वाले भी ऐसे हैं, जो हिंदू इतिहास और विश्व-इतिहास कुछ जानते हैं (इतिहास हिंदू या मुसलमान या ईसाई कैसे हो जाता है, मैं समझा नहीं, लेकिन कदाचित उनका मतलब यह हो कि भारत के हिंदुओं का इतिहास)। मैं आशा करता हूं कि भाईजी

---

6 अगस्त, 1935 को अल्मोड़ा डिस्ट्रिक्ट जेल में मूल रूप से हिंदी में लिखा लेख। *सेलेक्टेड वर्क्स,* वाल्यूम 6, पृष्ठ 450-56

ज्यादा विस्तारपूर्वक इस मजमून को लिखेंगे और उसमें जिस सबूत और जिन वाकयात पर उन्होंने अपनी राय कायम की है, उसको पेश करेंगे।

खासतौर से उनको चाहिए कि कांग्रेस के ध्येय के बारे में जो उनकी राय है, उसको साबित करें, क्योंकि यह मुनासिब तो नहीं है कि कोई इल्जाम बगैर काफी वजह और सबूत के लगाया जाये। एक अजीब बात मालूम होती है कि कांग्रेस अंग्रेजों (या ईसाइयों) का 'स्व' हासिल करने को अंग्रेजी हुकूमत से असहयोग, सत्याग्रह, जंग करे, और हिंदू महासभा अपनी पुरानी जातीयता और 'स्व' कायम रखने को गवर्नमेंट से सहयोग करे।

भाईजी ने असल सवाल पर तो अपने मजमून में गौर किया ही नहीं। वह हम लोगों की पुरानी गलती में पड़ गये—शब्दों के गुलाम हो गये और उनमें फंसकर असली माने छोड़ दिये। स्वराज्य क्या चीज है, यह एक निहायत पेचीदा सवाल है और उसी के साथ निहायत जरूरी है।

स्वराज्य शब्द का पहले तो संबंध है एक देश का दूसरे देश या देशों से रिश्ता, और यह रिश्ता राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, सामाजिक इत्यादि होता है। अगर राजनीतिक और आर्थिक बातों में कोई देश अन्य देशों के अधीन नहीं है, तब वह आजाद या स्वतंत्र कहलाता है। इसमें भी धोखेबाजी अक्सर होती है—देश सियासी तौर पर स्वतंत्र गिने जाते हैं, लेकिन पर्दे के पीछे वह किसी और देश के आर्थिक गुलाम होते हैं। इसी के साथ यह भी याद रखना है कि आजकल की दुनिया में अंतर्राष्ट्रीय व्यापार, तेजी से सफर करने, हवाई जहाज, तार और रेडियो आदि की वजह से सब देशों में ऐसा घनिष्ठ संबंध हो गया है कि कोई भी पूरी तौर से स्वतंत्र नहीं कहला सकता और एक का असर दूसरे पर पड़ता है। फिर भी हम यह कह सकते हैं कि जो राजनीतिक और आर्थिक बातों में आजाद है, पर इंडिपेंडेंट या स्वतंत्र है। अगर यह आजादी उसकी है, तब कोई सवाल सांस्कृतिक या सामाजिक आजादी का नहीं उठता, क्योंकि वह तो उसमें मिली हुई है। इन मामलों में उस देश की अपनी हुकूमत या रहने वालों को अधिकार है, जो चाहे करें। अगर वह अपने पुराने आचार और संस्कृति पर कायम रहना चाहते हैं तो कोई उनको उससे हटा नहीं सकता। अगर वह उनको बदलना चाहें तो कौन उनको रोके?

एक दूसरा पहलू भी स्वराज्य का है। देश के अंदर लोगों का एक-दूसरे से क्या संबंध हो—राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक इत्यादि। इसमें बहुत पेचीदगियां पैदा हो जाती हैं और तरह तरह की राय हैं। अक्सर लोग आधुनिक संसार में (सिवाय उन देशों के जहां फासिज्म का जोर है) लोकतंत्रवाद को पसंद करेंगे। इसमें भी भेद है कि यह लोकतंत्रवाद खाली राजनीतिक हो कि आर्थिक और सामाजिक भी? पूंजीवाद, साम्यवाद इत्यादि के प्रश्न यहां पर उठते हैं।

कांग्रेस का क्या ध्येय है? पहले तो जाहिर है कि हमारा देश और देशों के मुकाबले

में स्वतंत्र और इंडिपेंडेंट हो, राजनीतिक और आर्थिक बातों में। इसके माने यह हैं कि सांस्कृतिक, सामाजिक, धार्मिक बातें उस आजादी में शामिल हैं और किसी बाहर वाले को उनमें दखल देने का कोई अधिकार नहीं है। जो हमारा देश खुद चाहे, वह तय करेगा।

अंदरूनी पहलू में कांग्रेस क्या चाहती है? इसका जवाब देना ज्यादा कठिन है, सिवाय इसके कि वह राजनीतिक लोकतंत्रवाद के हक में है। बाकी उसने अभी तक कोई फैसला नहीं किया है, जिसके माने किसी कदर यही हैं कि वह आधुनिक हालत में बहुत फर्क नहीं करना चाहती। कांग्रेस एक बड़ी संस्था की सूरत में देश के सामने है, लेकिन वह तो असल में एक सर्वदल सम्मेलन है, जिसमें बहुत तरह के और बहुत रायों के लोग हैं, जिनमें एकता खाली राजनीतिक स्वतंत्रता के बारे में है। इन लोगों में आपस में आर्थिक और सामाजिक प्रश्नों पर भेद है—साम्यवाद, पूंजीवाद और अन्य वादों के पक्षपाती सब ही हैं। कांग्रेस के नेता अधिकतर आधुनिक पूंजीवाद को पसंद करते हैं और उसमें बहुत फर्क नहीं करना चाहते।

परंतु भाई परमानंद जी के 'स्व' को छोड़ने का प्रश्न कहां उठता है? और अपनी जातीयता, धर्म और संस्कृति छोड़ने का? यह 'स्व' क्या है और भाईजी की राय में हिंदुत्व क्या है, यह ठीक ठीक मालूम हो तो उन पर विचार किया जा सकता है। हिंदुओं में जाति-भेद बहुत जड़ पकड़े हुए है। इसको भाईजी हिंदुत्व में रखेंगे? जहां तक मैं जानता हूं कि वह इसके विरुद्ध हैं और जात-पांत तोड़कर मंडल के सदस्य हैं। तो हमारे बहुत से रिवाज हैं—विधवाओं के संबंध में, विरासत के बारे में, विवाह के, मरने के, पूजा इत्यादि के, खाने के, छूत-छात के, कपड़ों के। इनमें से क्या क्या बातें हिंदुत्व में रखनी चाहिए? यह कहा जा सकता है कि ज्यादातर ये बातें ऊपरी हैं और मूल बातें पकड़ने के लिए हमें वेदों को लेना चाहिए या हमारे दर्शनशास्त्र को। बहुत हिंदू यह नहीं मानेंगे कि हम इन 'ऊपरी' बातों को अहमियत न दें। वह उनको वेदों से अधिक आवश्यक समझते हैं। और अगर हिंदुओं के आगे बढ़िए और बौद्ध, सिख, जैनों को लीजिए (जिनको मुझे खुशी है कि हिंदू महासभा ने अपनाने का यत्न किया है) तब और भी पेचीदगियां बढ़ती हैं। बौद्ध दर्शनशास्त्र में और हिंदू दर्शनशास्त्र में बहुत फर्क है। वह वेदों को नहीं मानते, वह तो ईश्वर तक को नहीं मानते। ऐसी हालत में अगर मेरे जैसे कम जानने वाले लोग गड़बड़ा जायें तो क्या आश्चर्य है? इसलिए यह आवश्यक है कि भाई परमानंद जी और हिंदू महासभा इस बात को बिल्कुल साफ कर दें कि किस 'स्व' के लिए वह कोशिश करते हैं, किस हिंदुत्व को वह इस हमारे देश में कायम रखना चाहते हैं। और यह भी साफ बताया जाये कि उनकी राय में कांग्रेस कहां कहां 'स्व' को छोड़ रही है। विचार करने वाले लोग गोल शब्दों की उलझन से निकलकर हर बात को साफ कहने और लिखने की कोशिश करते हैं। तब ही उस पर विचार हो सकता है, नहीं तो वे केवल जोश बढ़ाने के शब्द हो जाते हैं।

मेरा ख्याल था—संभव है कि यह गलत हो—कि जिस 'स्व' में हिंदू महासभा को खास दिलचस्पी है, वह सरकारी नौकरी-चाकरी और कौंसिलों वगैरह की मेंबरी से संबंध रखता है—कितने तहसीलदार, डिप्टी-कलेक्टर और पुलिस के अफसर हिंदू हों। यह भी मैंने देखा कि हिंदू महासभा को राजाओं, ताल्लुकदारों और बड़े जमींदारों और साहूकारों से बहुत मोहब्बत है और उनके हकूक की रक्षा की फिक्र रहती है। कर्ज-संबंधी कानूनों का उन्होंने विरोध किया, इस बुनियाद पर कि वे साहूकार को हानि पहुंचाते हैं, चाहे वे किसान और छोटे जमींदारों का फायदा क्यों न करें। क्या यह सब बातें हिंदुत्व में मिली हुई हैं और साहूकार का जबरदस्त सूद लेना भी एक उस हमारे 'स्व' का हिस्सा है, जिसकी हमें रक्षा करनी है?

एक और विचारणीय बात है। इतिहास-लेखकों का यह ख्याल है कि भारत में मुस्लिम राज्य स्थापित होने पर हिंदू सभ्यता और संस्कृति का केंद्र दक्षिण भारत की तरफ चला गया। वहां मुसलमानों की पहुंच कम थी। आजकल भी दक्षिण में पुराना हिंदू वर्णाश्रम धर्म उत्तर भारत से अधिक है, और भारत-भर में यह हिंदुत्व कदाचित पंजाब में सबसे कम हो। इसकी वजह साफ है। पंजाब और सिंध का इस्लामी राजाओं और हुकूमत से हमारे देश में सबसे अधिक संबंध रहा। विचारणीय बात तो यह है कि इस समय इसी पंजाब में हिंदू महासभा की शक्ति ज्यादा है और दक्षिण में तो उसकी पहुंच बहुत कम है।

मुझे सभ्यता और संस्कृति के इतिहास में बहुत दिलचस्पी रही है और असल में तो वही इतिहास है, बाकी राजाओं का आना और जाना और लड़ना है। जब कभी सभ्यता या संस्कृति का प्रश्न उठता है, तब मैं उधर खिंचता हूं और कुछ सीखने और समझने की कोशिश करता हूं। सर मुहम्मद इकबाल अक्सर इस्लामी संस्कृति का जिक्र करते हैं। मुझे यह बात गोल मालूम हुई, इसलिए मैंने उनसे इसको साफ करने को कहा और कई सवाल पूछे। वह खामोश रहे और कोई जवाब नहीं दिया।

भाईजी का यह कहना कि अगर हम सब ईसाई हो जायें तो हमारा 'स्व' इंग्लैंड का 'सेल्फ' हो जायेगा, वह हमें अपना लेगी और हम उसके ढंग से स्वतंत्र हो जायेंगे, एक ऐसी अजीब बात है कि पढ़कर आश्चर्य होता है कि कोई भी ऐसा ख्याल रखे। इसके माने यह हैं कि भाईजी समझते हैं कि यूरोप का आधुनिक साम्राज्यवाद ईसाई धर्म कहलाने का है। इस गलती में तो शायद कोई स्कूल का बच्चा भी न पड़े। साम्राज्यवाद से और धर्म से क्या संबंध? अबीसीनिया तो ईसाई देश है और सबमें पुराना ईसाई देश है, जबकि यूरोप वाले एक ईसाई नहीं हुए थे। उस पर इटली का हमला क्यों? यूरोप के ईसाई देशों में आपस में पिछली बड़ी लड़ाई क्यों हुई? आयरलैंड भी ईसाई देश एक हजार वर्ष से ऊपर से है। उस पर अंग्रेजी साम्राज्यवाद क्यों सात सौ बरस से चढ़ाई करता आता है?

देशों की जातीयता और सभ्यता को लीजिए। भाईजी मिस्र और ईरान की मिसाल

देते हैं कि उन्होंने अपनी जातीयता को मिटा दिया और अपने को एक विदेशी जाति के अंदर जज्ब करवा दिया। मिस्र का हजारों वर्ष का पुराना इतिहास चला आता था और उसमें बहुत ऊंच-नीच और तबादले, हमले और फतह हुई थीं, और फिर करीब 2200 वर्ष हुए सिकंदर ने मिस्र फतह किया और उसकी मृत्यु के बाद उसका एक जनरल टोलेमी वहां का बादशाह हुआ। उसने मिस्र के देवता और आचार स्वीकार किये। केवल उनमें कुछ अपने ग्रीस के भी मिला दिये। मिस्र एक बड़ा केंद्र ग्रीक सभ्यता और संस्कृति का हो गया। फिर बहुत दिन बाद रोमन साम्राज्यवाद के अधीन हो गया। ईसाई मजहब वहां शुरू ही में फैला। यूरोप के पहले और कई सौ वर्ष तक रहा। बाद में इस्लाम वहां आया और उसकी आसानी से जीत हुई। इस समय मिस्र में अधिकतर मुसलमान हैं और कुछ पुराने इस्लाम के पहले के ईसाई हैं, जो कोप्ट्स कहलाते हैं। इस्लाम भी वहां 1300 वर्ष से है। जब भाईजी कहते हैं कि मिस्र ने अपनी जातीयता को मिटा दिया, तब उनका क्या मतलब है? पिछले 7000 वर्षों के इतिहास में वह किस जमाने को मिस्र की असली जातीयता का जमाना गिनते हैं।

ईरान में इस्लाम की जीत मिस्र की तरह जल्दी हुई। लेकिन जाननेवालों की राय यह है कि उससे ईरानी सभ्यता और संस्कृति दबी नहीं, बल्कि अरबी मुसलमानों पर भी हावी हो गयी और अरबी खलीफा पुराने ईरानी बादशाहों की और बहुत रिवाजों की नकल करने लगे। यह ईरानी संस्कृति इतनी जोरदार थी कि उसका असर पश्चिमी एशिया से लेकर चीन तक लगातार कायम रहा। इस समय ईरान में यह पुरानी, इस्लाम के पहले की संस्कृति लोगों को जोरों से आकर्षित कर रही है।

हमारे देश के पुराने इतिहास की तरफ एक झलक देखिए। आर्यों के आने के पूर्व कई सहस्र वर्ष तक यहां एक ऊंचे दर्जे की सभ्यता थी, जिसका छोटा-सा नमूना हमको मोहनजोदड़ो में मिलता है। शायद उसका संबंध द्रविड़ सभ्यता से हो, जो स्वयं आर्यों के पहले की थी। फिर आर्य आये और द्रविड़ लोगों को हराया और उन पर हुकूमत की। कुछ रिवाज और धर्म के मामले में उनसे समझौता किया, कुछ अपने देवता उनके सामने रखे। समझौतों से एक मिली हुई संस्कृति पैदा हुई, जिसमें आर्यों का अधिक हिस्सा था। फिर और बहुत जातियां इस देश में हमला करके आयीं, जिनमें खासतौर से कई तुर्की जातियां थीं, और यहां बस गयीं। बहुत हमारे राजपूत खानदान राजपूताने और काठियावाड़ में तुर्की खून रखते हैं। उस जमाने में दूसरे धर्म का सवाल नहीं था, क्योंकि यह तुर्की लोग मध्य एशिया के सब बौद्ध थे। फिर भी वे बहुत अपने रिवाज और आचार यहां ले आये। इसी तरह से भारत में (और हर देश में ही) बहुत चश्मे और दरिया मुख्तलिफ देशों से बहकर आये और हमारी संस्कृति पर असर डालते गये। फिर इस्लाम फतह की सूरत में आया और हम अपने को उससे बचाने के लिए सुकड़ गये और अपनी संस्कृति की खिड़कियां,

जो खुली रहती थीं, उनको बंद कर दिया।

भाईजी की राय में हमारी हिंदू जातीयता कब शुरू होती है? आर्यों के आने पर? यह क्यों? हम उनके पहले मोहनजोदड़ो के जमाने को क्यों छोड़ दें, और फिर द्रविड़ जमाने को? क्या द्रविड़ लोगों को अधिकार नहीं है कहने का कि आर्य लोग बाहरी हैं, जो आकर यहां बलपूर्वक जम गये हैं? ऐसे बहुत सवाल उठ सकते हैं क्योंकि इतिहास में सभ्यता, संस्कृति, विचारधारा यह सब बहती हुई एक देश से दूसरे देश में जाती रहती हैं और एक-दूसरे पर असर डालती हैं। उनके बीच में अलग अलग करने को कतार खींच देनी कठिन है। किसी भी जीवित चीज की यह निशानी है कि वह बढ़ती है और बदलती है। जहां उसका बढ़ना रोका, वहां उसकी जान निकल गयी। सभ्यता और संस्कृति भी इसी तरह उसी समय तक जिंदा रहती हैं, जब तक उनमें मादा है बदलती हुई दुनिया के साथ खुद भी कुछ बदलने का। सबसे बड़ा सबक जो इतिहास हमको सिखलाता है, वह यह है कि कोई चीज एक-सी नहीं रहती। हर समय बढ़ना या घटना, क्रांति और इंकलाब। जिस जाति ने इससे बचने की कोशिश की और अपने को जकड़ लिया, वह अपने ही बनाये हुए पिंजरे में कैदी बनकर सूखने लगी।

पहले जमाने में जब दूर का सफर करना कठिन था, देशों का एक-दूसरे से संबंध कम था और इससे उनमें फर्क थे। जितना अधिक आना-जाना हुआ, उतना ही असर एक-दूसरे पर पड़ा। आधुनिक दुनिया में रेल, मोटर, हवाई जहाज ने सरहदें करीब करीब मिटा दीं और दुनिया की एकता बढ़ा दी। किताबें, समाचार-पत्र, तार, रेडियो, सिनेमा इत्यादि हर वक्त हम पर असर डालते हैं और हमारे विचारों को हल्के हल्के बदलते हैं। इनको हम पसंद करें या ना पसंद करें, हम उनसे बच नहीं सकते। इसलिए उनको समझना चाहिए और उनको अपने काबू में लाना चाहिए।

इन सब बातों के लिए हमारा पुराना हिंदुत्व क्या सलाह देता है, मैं भाईजी से पूछना चाहता हूं? वह धार्मिक सभ्यताओं और जातीयता की चर्चा करते हैं। लेकिन आधुनिक संसार की सभ्यता तो बड़े लोहे की मशीन की और जबरदस्त कारखानों की है। उनको धर्म से क्या मतलब? और बगैर पूछे या बहस करे वह पुरानी मूर्तियों को गिराती हुई आगे बढ़ती जाती है। हिंदुओं के जाति-भेद को मिटाने को बड़े आंदोलन हुए, लेकिन सबसे बड़ी क्रांति पैदा करने वाली तो रेल है और ट्राम और लारी। उसमें कौन अपने पड़ोसी की जात देखता है?...

कांग्रेस और मुसलमान

हाल में मिस्टर जिन्ना ने मेरी इस बात पर एतराज किया है कि इस मुल्क में सिर्फ दो ही पार्टियां हैं—सरकार और कांग्रेस। और उन्होंने मुझे यह बात याद दिलाई है कि एक तीसरी पार्टी और है और वह है हिंदुस्तान के मुसलमान....।

मुझे लगता है कि मिस्टर जिन्ना ने कुछ ऐसा कहा है कि वह संप्रदायवाद को हर हालत में इंतिहा तक ले जाता है। बंगाल में मुसलमानों के मामले में कांग्रेस को चाहिए कि वह अपने को अलग रखे। यह एतराज और इस तरह की मांग तो वैसी ही है, जैसी कि हिंदू संप्रदायवादियों की ओर से भाई परमानंद अक्सर उठाते और पेश करते आये हैं। अगर इस दलील को थोड़ा आगे बढ़ाया जाये तो मिस्टर जिन्ना के बयान का मतलब यह होता है कि किसी आम मसले पर मुसलमानों के मामलों में गैर-मुसलमानों को कतई वास्ता नहीं रखना चाहिए। तब राजनीति में और सामाजिक व आर्थिक मामलों में मुसलमानों को एक अलग समुदाय के तौर पर काम करना होगा और दूसरे समुदायों के साथ उनका कामकाज वैसा ही होगा, जैसा एक राष्ट्र का दूसरे राष्ट्र के साथ होता है। इसी तरह ट्रेड यूनियनों, किसान सभाओं, व्यापार, चेंबर आफ कामर्स और इसी तरह के दूसरे संगठनों और कामों में भी हिंदुस्तान के मुसलमान एक अलग ही राष्ट्र के तौर पर हैं और जो लोग इस हकीकत को भूल जाते हैं, वह अल्लाह ताला के सामने गुनाह करते हैं और मिस्टर जिन्ना को नाराज करते हैं।

तो फिर मुसलमान कौन हैं? जाहिर है कि सिर्फ वही लोग, जो मिस्टर जिन्ना और मुस्लिम लीग को मानते हैं। मिस्टर जिन्ना हम लोगों को बताते हैं कि जब मौलाना मोहम्मद अली कांग्रेस में शामिल हुए थे, तब मुसलमानों के खिलाफ लड़े थे। मानों यह बात कोई अहमियत ही नहीं रखती कि हजारों मुसलमान तब कांग्रेस के मेंबर थे, लाखों को उससे हमदर्दी थी और उन्होंने उसका साथ भी दिया था। चूंकि जो लोग मुस्लिम लीग में शामिल नहीं हुए और जो मिस्टर जिन्ना को अपना लीडर नहीं मानते, उनके बारे में यह कहा जा सकता है कि वे मुसलमान न होकर कुछ और हैं। शायद मिस्टर जिन्ना के मुताबिक पंजाब और बंगाल में ताकतवर मुस्लिम संगठन जैसे अहरार और किसान पार्टी (यह इशारा फजलुल

पूर्णिया में 10 जनवरी, 1937 को दिये गये एक प्रैस वक्तव्य से। *दि हिंदुस्तान टाइम्स* में 12 जनवरी, 1937 को प्रकाशित। पुनर्मुद्रित *सेलेक्टेड वर्क्स,* वाल्यूम 8, पृ. 119-22

हक की कृषक प्रजा पार्टी की ओर है) असली मुसलमान नहीं हैं क्योंकि वह मुस्लिम लीग के बाहर हैं। हमारे सामने यह कट्टरपन की नयी कसौटी है।

कांग्रेस में बहुत बड़ी तादाद में मुसलमान शामिल हैं। मिस्टर जिन्ना की राय में इनके बारे में कांग्रेस का क्या रुख होना चाहिए, यह मैं नहीं जानता। क्या वे यह चाहते हैं कि हम उनसे इस्तीफा देने और उनके सामने जाकर घुटने टेकने के लिए कहें? और मैं मुसलमान किसानों और मजदूरों की उस भारी भीड़ से क्या कहूं, जो मेरी बात सुनने के लिए इकट्ठी होती है।

मुझे तो यह सब बड़ा अजीब-सा लगता है। यह सिद्धांत न सिर्फ नुकसानदेह है, बल्कि मुसलमानों के साथ बेइंसाफी भी है। एक तीसरी पार्टी के बाबत जो उन्होंने फरमाया है, वह भी न मुसलमानों के फायदे की बात है और न कोई अच्छी तस्वीर पेश करती है। इसका मतलब यह हुआ कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद और हिंदुस्तानी राष्ट्रवाद के बीच वे उन्हें एक अलग सियासी जमात के बतौर रखना चाहते हैं। मंशा यह है कि एक-दूसरे आपस में लड़ते रहें और इस तरह हर संप्रदाय अपना अपना फायदा उठाता रहे, भले ही उससे समूचे मुल्क का नुकसान ही क्यों न हो!

इस तरीके से या किसी दूसरे सांप्रदायिक नजरिये से सोचना मेरे लिए बिल्कुल नामुमकिन है। जिन्ना साहब के लिए मेरे दिल में कद्र है, लेकिन उसके बावजूद मैं सोचता हूं कि इस तरह के ख्यालात मध्ययुगीन और दकियानूसी हैं। आज के जमाने के मसलों के साथ उनका कोई भी वास्ता नहीं है। धर्म या मजहब का वास्ता हमारे निजी मामलों से है। यह हमारे विश्वास की चीज है। इसे सियासी और आर्थिक मामलों में घसीटना एक दकियानूसी बात है, जो हमें असली मसलों से दूर हटा ले जाती है। मुसलमान किसान के फायदे-नुकसान की बातें हिंदू किसान के फायदे-नुकसान की बातों से किस मानी में अलग हैं? मुसलमान मजदूर या कारीगर या व्यापारी या जमींदार या कारखाने के मालिक का फायदा-नुकसान हिंदू मजदूर या कारीगर, व्यापारी या जमींदार या कारखाने के मालिक के फायदे-नुकसान से किस तरह अलग है? लोगों को एक-दूसरे के साथ जोड़ने वाली कड़ी है उनके आर्थिक लाभ-हानि वाले मसले। इसी तरह गुलाम मुल्क में लोगों की आपस में जोड़ने वाली कड़ी है उनका राष्ट्रीय हित। मजहबी सवाल जरूर उठते रहते हैं और मजहबी दंगे-फसाद भी हो सकते हैं, लेकिन हमें उनका मुकाबला करना होगा और उन्हें हल करना होगा। उन्हें हल करने का सही रास्ता है उनके दायरे और उनके असर को रोकना, और राजनीति और आर्थिक मामलों में उनके पांव नहीं जमने देना। राजनीतिक और आर्थिक मामलों में सांप्रदायिक मसलों को बढ़ावा देने का मतलब है प्रतिक्रियावादी ताकतों को बढ़ावा देना और पुराने मध्ययुग की ओर वापस लौटना। यह नामुमकिन बात है क्योंकि यह हकीकत को नहीं देखती।

आज की हकीकत है गरीबी, भूख, बेकारी और यह कि ब्रिटिश साम्राज्याद और हिंदुस्तान की राष्ट्रीयता के बीच लड़ाई छिड़ी हुई है। इन पर सांप्रदायिक नजरिये से किस तरह गौर हो सकता है?

हमारे मुल्क में बेशक बहुत-से दल और पार्टियां हैं और अलग अलग तरह के लोग भी हैं। लेकिन अगर इतिहास को देखें तो पता चलेगा कि आज की लड़ाई साम्राज्यवाद और राष्ट्रीयता के बीच है। इतिहास के इस नजरिये के आगे किसी भी तरह की 'तीसरी पार्टी' या बीच की पार्टी या किसी ढुलमुल पार्टी की कोई अहमियत नहीं है। यही वजह है कि उनकी कोई ज्यादा ताकत नहीं है और सिर्फ चुनावों के दौरान उनकी हलचल नजर आती है और बाकी वक्त वे कहीं भी दिखाई नहीं पड़तीं। कांग्रेस हिंदुस्तान की राष्ट्रीय भावना की नुमाइंदगी करती है और उसे इतिहास ने एक जिम्मेदारी सौंपी है। यही वजह है कि यही एक संगठन है, जिसे हिंदुस्तान में सब जगह इज्जत मिली हुई है और साथ ही ब्रिटिश साम्राज्यवाद के खिलाफ मजबूती से डटे रहने की ताकत और हौसला। अगर कुल मिलाकर देखें तो हिंदुस्तान में आज सिर्फ दो ही ताकतें हैं—एक तरफ ब्रिटिश साम्राज्यवाद और दूसरी ओर कांग्रेस की, जो हिंदुस्तान की राष्ट्रीयता की नुमाइंदगी करती है। मुल्क में और भी जोरदार ताकते हैं, जो एक नये सामाजिक नजरिये वालों की नुमाइंदगी करती हैं, लेकिन ये सभी कांग्रेस के साथ हैं। छोटी छोटी सांप्रदायिक पार्टियों की इतनी अहमियत नहीं है, भले ही उन्हें जबरन इतनी अहमियत दे दी जाये...।

कांग्रेस एक लोकतांत्रिक संस्था है। इसकी जड़ें हिंदुस्तान की धरती में अंदर बहुत गहरे तक गयी हैं। इसके दरवाजे हिंदुस्तान के हर ऐसे शख्स के लिए खुले हैं, जो आजादी में यकीन रखता है। इसके लिए सबसे बड़ा मसला है आजादी, ताकि हम जनता को गरीबी और शोषण से छुटकारा दिला सकें। गलतियां तो इससे भी हो सकती हैं, लेकिन यह हमेशा सारे मुल्क और उसकी आजादी के नजरिये से सोचती है और संकीर्ण या सांप्रदायिक नजरिये से अपने को दूर रखने की यह हर तरह से कोशिश करती है।

मुस्लिम लीग क्या चाहती है? क्या वह हिंदुस्तान की आजादी के लिए साम्राज्यवाद की मुखालफत करने के लिए काम करना चाहती है? मेरा ख्याल है कि नहीं। यह मुसलमानों के सिर्फ एक तबके की नुमाइंदगी करती है—बेशक एक ऐसे तबके की जिसमें बड़े आला दर्जे के लोग मौजूद हैं, लेकिन इन लोगों का साथ ऊंचे मध्यमवर्ग में भी ऊंची सतह वाले समाज के लोगों के साथ है। आज मुस्लिम जनता के साथ उनके कोई ताल्लुकात नहीं हैं और निचले मध्यमवर्ग के लोगों के साथ ये सिर्फ कहने भर को हैं। ताल्लुक मुस्लिम लीग के कई मेंबरों से ज्यादा हैं? इन लोगों की भूख और गरीबी की बाबत मुझे कहीं ज्यादा पता है, बनिस्बत उन लोगों के, जो कौंसिलों में और सरकारी नौकरियों में फीसदी सीटों और तादाद की बात करते हैं। पंजाब में और दूसरे सूबों में मेरी बात सुनने के लिए मुसलमानों

की बहुत बड़ी भीड़ इकट्ठी होती है। इन लोगों ने मेरे सामने न तो सांप्रदायिक मसला ही रखा और न फीसदी या अलग चुनाव कराने के ही सवाल उठाये। उनकी गहरी दिलचस्पी मालगुजारी या लगान, कर्ज, सिंचाई की दरों, बेकारी और ऐसे ही तरह तरह के बोझ से छुटकारा पाने में थी, जो वे अपने अपने सिरों पर ढोये फिरते हैं।

कांग्रेस के सदर की हैसियत से मुझे समूचे मुल्क के बेशुमार मुसलमानों की नुमाइंदगी करने की इज्जत हासिल है, जिस पर मुझे फख्र है। ये लोग आजादी की लड़ाई में बहादुरी के साथ हिस्सा ले रहे हैं। एक बहुत बड़े मकसद,आजादी के लिए मुसीबतें झेल रहे हैं। कांग्रेस के झंडे के नीचे रह कर हमारी ऐतिहासिक लड़ाई में कंधे से कंधा भिड़ाकर साथ खड़े हैं। मैं बहुतेरे ऐसे बहादुर मुसलमान साथियों का नुमाइंदा हूं, जो आज भी हमारी फौज की पहली कतारों में हैं और जो बरसों से मुसीबतें और परेशानियां झेलकर भी कांग्रेस का साथ दे रहे हैं। मैं भूखे और गरीब लोगों की नुमाइंदगी करता हूं, इनमें मुसलमान भी हैं और हिंदू भी। रोजी-रोटी, जमीन, काम और तरह तरह के क्षेत्रों से छुटकारा—ये उनकी मांगे हैं, जिनकी मैं नुमाइंदगी करता हूं। मैं उन लोगों की नुमाइंदगी करता हूं, जो ऐसे जुल्मों में पिस रहे हैं कि जिन्हें बर्दाश्त करने की ताकत अब नहीं रह गयी है। मैं इन सबकी नुमाइंदगी करता हूं क्योंकि कांग्रेस इन्हीं की नुमाइंदगी करती है। कांग्रेस ने मुझे यह जिम्मेदारी सौंपी है कि मैं उसके उसूलों को कायम और उस मशाल को और ऊंचा रखूं, जो उसने हमारे मुल्क के हर अंधेरे कोने और जनता के दुखते दिलों में उम्मीद और हौसले का पैगाम पहुंचाने की खातिर जलाई है।

कांग्रेस भी मुस्लिम लीग का सहयोग चाहती है। साम्राज्यवाद के खिलाफ एक मिलाजुला मोर्चा बनाने की जरूरत पर उसने बार बार जोर दिया है। वह खुशी के साथ मुस्लिम लीग से सहयोग करेगी, जिससे कि मुखालफत और आम जनता की भलाई होनी चाहिए। आम जनता के हितों का ख्याल किये बिना ऊंचे वर्ग वाले मुट्ठी भर लोगों के साथ जो भी समझौते किये जायेंगे, कांग्रेस की राय में उनकी न तो कोई कीमत ही है और न ही वे टिकाऊ हो सकते हैं। कांग्रेस का नाता आम जनता से है। उसे और सबसे ज्यादा आम जनता के हितों का ख्याल है। वह जानती है कि आम जनता, हिंदू-मुसलमान सभी इन सांप्रदायिक मामलों के चक्कर में नहीं पड़ती। आम जनता तो जल्दी से जल्दी और हर हालत में आर्थिक राहत चाहती है और उसे हासिल करने के लिए राजनीतिक आजादी। इस बिना पर मुल्क के उन सभी तबकों के साथ ज्यादा से ज्यादा सहयोग हो सकता है, जो आम लोगों का फायदा और साम्राज्यवाद से छुटकारा पाना चाहते हैं।

बंबई के सांप्रदायिक दंगों पर

इस मुल्क के हर समझदार और जिम्मेदार आदमी को चाहिए कि वह बंबई में सांप्रदायिक दंगों को फिर से भड़क उठता देखकर इस समस्या पर जरा ज्यादा गहराई से विचार करे। लोगों की मौतें और सिर फूटते देखकर बेहद अफसोस होता है। इससे भी ज्यादा बुरी बात है वहां के लोगों का जालिमों की तरह बर्ताव करना और दिलो-दिमाग से काम न लेना। हिंदुस्तान में जब इस जालिमपने को धर्म या मजहब के नाम से जोड़ा जाता है, तब कोई भी भला आदमी ऐसे धर्म या मजहब से अपना ताल्लुक रखना पसंद नहीं करेगा। यह एक ऐसा वक्त है जब सभी लोगों को, चाहे वे किसी भी समाज या मजहब के क्यों न हों, यह तय करना होगा कि हम किसी भी हालत में इस तरह की निर्दयता और गैर-इंसानियत और मारकाट को बिल्कुल भी बर्दाश्त नहीं करेंगे, चाहे कोई भी हो। हममें बेलाग होकर अपने मजहब वालों की भी कड़ी निंदा करने की हिम्मत होनी चाहिए। हमने बहुत बर्दाश्त कर लिया। इन घटनाओं को बुरा बताते हुए कि इनमें दया धर्म की बातें कही गयी हैं, लेकिन कुल मिलाकर ऐसा लगता है कि जैसे आम लोग इन सब घटनाओं को मामूली बात समझने लगे हैं और वे चुप्पी साध लेते हैं। समाज में जो लोग मार-काट, लूट-खसोट के आदी हैं, वह लोग इस तरह का माहौल पाकर धर्म या मजहब के नाम का फायदा उठाते हैं। मैं समझता हूं कि बंबई में दंगे अब नहीं होंगे क्योंकि यह आगे नहीं हो सकता। दंगों की याद बाद में भी बनी रहती है। इसलिए अगर हमारे धर्म या मजहब के नेता जातिमाना, असभ्य और घिनौने कामों को बर्दाश्त करने के इस माहौल को बदलने की कोशिश नहीं करेंगे, तब यह साफ साफ समझ लेना चाहिए कि उनके लिए दिन लद चुके हैं और समाज के दूसरे लोगों को दखल करना पड़ेगा।

दि हिंदू में 20 अक्तूबर, 1936 को प्रकाशित एक इंटरव्यू। *सेलेक्टेड वर्क्स,* वाल्यूम, 7 पृ. 400 से संकलित

सभी धर्मों के लोग एक हों

कुछ साल पहले मैं बनारस गया हुआ था। मैं जब एक सड़क से, जो आमतौर पर संकरी होती है, गुजर रहा था तब मेरी मोटर को एक भीड़ ने रोक लिया। सड़क पर एक जुलूस निकल रहा था। इसमें जुलूसवालों के अलावा बहुत-से तमाशबीन और छोटे छोटे लड़के थे, जो उस चुहल में हिस्सा ले रहे थे। मुझे भीड़ देखना अच्छा लगता है। मैं अपनी गाड़ी से उतर पड़ा। मैंने पूछा कि क्या माजरा है। यह जुलूस यकीनन बहुत मजेदार था। इसके कुछ अजीबोगरीब पहलू थे। हम लोगों ने देखा कि अच्छे खासे कट्टरपंथी ब्राह्मण, जिनके मत्थे पर तरह तरह के बड़े बड़े त्रिभुज चमक रहे थे, बड़े बड़े मौलवियों के, जिनके बड़ी बड़ी दाढ़ियां थीं, साथ साथ चल रहे थे। उसमें घाटों के पंडे भी थे और मस्जिदों के मुल्ला भी। इनके हाथों में झंडे वगैरह थे। इनमें से एक एक बैनर पर लिखा था—हिंदू-मुसलमान एकता की जय। हमें लगा कि यह तो बड़ी खुशी की बात है। लेकिन फिर भी हमने सोचा कि यह किसलिए हो रहा है।

हमें उनके नारों और दूसरे और बहुत-से झंडों से सब कुछ पता चल गया। यह जुलूस दोनों धर्मों के कट्टरपंथियों का जुलूस था, जो आपस में मिलकर शारदा एक्ट की (जो शायद उस वक्त बिल था) खिलाफत कर रहे थे। इस एक्ट में 14 साल से कम उम्र की लड़कियों की शादी की मुमानियत (मनाही) थी। दोनों धर्मों या मजहबों के धर्मपरायण और पाक लोग यह घोषणा करने के लिए आपस में मिल गये थे कि वह अपनी गहरी आस्था और अधिकारों पर इस ज्यादती को बर्दाश्त नहीं करेंगे। क्या वह ऐसे लोगों की, जो अपने को सुधारक बताते हैं, धमकियों से डरकर अपनी बच्चियों की शादी करने का अपना हक छोड़ दें? नहीं, कभी नहीं। कानून हो या न हो, वह तो छोटी नाबालिग लड़कियों की शादी करना जारी रखेंगे क्योंकि मासिक धर्म शुरू होने के बाद शादी करना गुनाह है और इस तरह वह अपने धर्म या मजहब की तौहीन नहीं होने देंगे। बनारस के एक नामी वैद्य ने, जिसकी उम्र साठ के आसपास थी, यह घोषणा कर रखी थी कि वह पुराने धर्म में अपनी आस्था दिखाने और शारदा एक्ट जैसी नयी नयी बातों की खिलाफत करने के लिए एक ऐसी लड़की से शादी करेंगे, जिसकी उम्र शारदा एक्ट में बतायी गयी उम्र से कम है। आस्था

अल्मोड़ा डिस्ट्रिक्ट जेल में 23 अगस्त, 1935 को लिखे एक लेख से। यह सबसे पहले माडर्न रिव्यू के दिसंबर, 1935 के अंक में छपा था। *सेलेक्टेड वर्क्स,* वाल्यूम 6 में पृ. 474-79 पर पुनर्मुद्रित

और धर्म ऐसे लोगों के आत्मबलिदान पर बनते हैं, जो इनको मानते हैं। इसलिए शारदा एक्ट के खिलाफ आंदोलन के लिए अपना बलिदान करनेवालों की कमी नहीं थी।

हम भीड़ में हो लिये और कुछ दूर तक जुलूस के साथ साथ चलते गये। मेरे साथ देवदास गांधी और बनारस के कुछ दोस्त भी थे। तभी हमें जुलूस में कुछ लोगों ने पहचान लिया। उन्होंने हमारा स्वागत नहीं किया और न कोई अभिनंदन वगैरह। मेरा ख्याल है कि हमने ऐसा करने के लिए उन्हें कोई इशारा नहीं किया था। हमारी शक्ल और पोशाक जुलूस में शामिल लोगों से जुदा थी। हमारी न तो दाढ़ी थी और न हमारे मत्थों पर कोई टीका वगैरह था। हम जुलूस में शामिल लोगों और उनके कार्यकर्ताओं पर आपस में टीका-टिप्पणी करते चल रहे थे, तभी हमारे खिलाफ गंदे गंदे नारे लगाये जाने शुरू हो गये और कुछ धक्का-मुक्की भी हुई। उस वक्त तक जुलूस टाउन हाल पहुंच चुका था और न जाने क्यों ईंट-पत्थर चलने शुरू हो गये। तभी एक नौजवान ने कुछ पटाखे छोड़े। हमारे जुलूस में, आगे की भीड़ में जिसमें काफी तादाद में लोग चल रहे थे, दहशत फैल गयी। लोगों ने समझा कि पुलिस ने या मिलिटरी ने गोली चला दी है। वे तितर-बितर हो गये और भाग खड़े हुए। इस भीड़ को भगाने के लिए थोड़े से पटाखे तो काफी थे, लेकिन हिंदुस्तान में ब्रिटिश सरकार को इस मामले पर घुटने टेकने को राजी करने के लिए तो एक भी पटाखे की जरूरत नहीं हुई। थोड़ी सी नारेबाजी हुई, जिसमें कुछ थोड़े-से मुसलमानों ने आगे बढ़कर हिस्सा लिया, यह शारदा एक्ट को खत्म कर उसे दफन करने के लिए काफी था। शुरू से ही यह एक्ट काफी कमजोर था। इसमें तरह तरह की गुंजाइशें रखी गयी थीं, जिनसे इसके अमल होने में दिक्कतें आती थीं। इसके अलावा इसमें छह महीने की मोहलत भी दी गयी थी। इसका नतीजा यह हुआ कि धड़ाधड़ बाल-विवाह हुए। और जब यह छह महीने भी बीत गये, तब भी क्या हुआ? कुछ भी तो नहीं। बाल-विवाह जैसे पहले होते थे, वैसे ही होते रहे। शारदा एक्ट की धज्जियां उड़ती रहीं। सरकार और मजिस्ट्रेट ने भी मुंह फेर लिया। कुछ मामलों को लेकर जब लोगों ने अदालत का सहारा लिया, तब वह खुद मुसीबत में पड़ गये और उन पर जुर्माने हुए। सिर्फ एक मामला ऐसा हुआ, जिसमें पंजाब के एक किसान को एक महीने की सजा मिली। इसने अपनी दस बरस की लड़की की शादी की। इसने खबरदार करने के बावजूद शारदा एक्ट को तोड़ा। लेकिन इस मामले में मजिस्ट्रेट की गलती पाई गयी और कानून को तोड़ने वाले को झटपट तार के जरिये रिहाई का हुक्म जारी कर दिया गया...।

हम लोग इस सारे वक्त क्या करते रहे? हम लोग जेलों में थे। पिछले छह बरस से हम लोग ज्यादातर जेलों में रहे हैं, कभी कभी एक बार में साठ या सत्तर हजार लोग जेलों में रहे। बाहर सख्त सेंसर लगा हुआ था। मीटिंगों की मनाही थी। गांवों में जाने की कोशिश का मतलब और ज्यादा नहीं तो ऐसा करने पर जेल की हवा खानी तो निश्चित थी। तरह

तरह की एमरजेंसी वाले कानूनों और नागरिक स्वतंत्रता की मनाही का मकसद बेशक शारदा एक्ट का समर्थन करने वालों की पकड़-धकड़ करना तो नहीं था, लेकिन इसका असर यह हुआ कि उसकी मुखालफत करने वालों के लिए मैदान खाली हो गया। चूंकि सरकार अपने खिलाफ चल रहे एक आंदोलन का मुकाबला करने की परेशानी में थी, इसलिए उसने धार्मिक और सामाजिक कट्टरपंथियों की सबसे ज्यादा प्रतिक्रियावादी ताकतों से सांठ-गांठ करनी चाही। इनकी खैरख्वाही हासिल करने के लिए उसने शारदा एक्ट के बारे में चुप्पी साध ली और उसे दबा दिया। हिंदू-मुसलमान एकता की जय।

यह जीत ज्यादातर मुसलमानों की वजह से हुई। हममें से बहुत ने यह सोचा। समझा कि बाल-विवाह का रोग ज्यादातर हिंदुओं में ही रहेगा। शुरू में जो गड़बड़ी रही हो, लेकिन मुसलमानों ने तो साफ साफ यह ठान लिया कि वे दूसरे मामलों की तरह इस मामले में भी हिंदुओं से पीछे नहीं रहेंगे। इसलिए उन्होंने एक तरफ कौंसिलों में ज्यादा सीटों की और पुलिस मैन, डिप्टी कलेक्टर, तहसीलदार, चपरासी वगैरह की ज्यादा नौकरियों की मांग की, वहीं दूसरी तरफ वे तेजी से अपनी कौम में ज्यादा से ज्यादा बाल-विवाह करने लगे...।

यह नहीं समझना चाहिए कि हमारी जागरूक देशी रियासतें इस मामले में पीछे हैं। हाल में मैसूर सरकार ने अपनी स्थिति स्पष्ट की है। एक उत्साही मेंबर ने शारदा एक्ट की तर्ज पर, मैसूर कौंसिल में बाल-विवाह पाबंदी बिल लाने की कोशिश की। मुसलमानों की तरफ से एक दीवान बहादुर ने बड़े जोर-शोर से उसकी मुखालफत की। सरकार ने उदार होकर सरकारी मेंबरों को अपनी मर्जी के मुताबिक वोट देने की इजाजत दे दी, लेकिन अजीब बात है कि सारे सरकारी गुट ने, जिसमें दो यूरोपियन मेंबर भी थे, बिल के खिलाफ वोट दिया और अपने वोटों की मदद से उसे गिरा दिया। धर्म या मजहब दुबारा बच गया।

शारदा एक्ट की मिसाल आंखें खोल देने वाली थी क्योंकि इससे पता लग गया कि हिंदू-मुस्लिम झगड़े और आपस में एकता न होने के बारे में जो कुछ कहा जाता है, वह बढ़ा-चढ़ा कर पेश किया जाता था और हर हालत में गुमराह कर देता था। हिंदू-मुसलमानों में थोड़े-बहुत झगड़े थे, इससे कौन इंकार करेगा। लेकिन ये झगड़े धर्म या मजहब के आधार पर उतने नहीं, जितना कि आर्थिक मुसीबतों, बेरोजगारी और नौकरियों के लिए भाग-दौड़ वगैरह की वजह से थे। यह फर्क पाक साफ जामा पहन धर्म या मजहब के नाम पर आम जनता को बहकाता और भड़काता था। अगर यह फर्क बुनियादी तौर पर धार्मिक या मजहबी होता, तब यह सोचा जा सकता था कि दोनों धर्मों या मजहबों के रूढ़िवादी लोग एक-दूसरे से ज्यादा से ज्यादा दूर और दूसरे के दावे के बारे में बेरुखी बरतेंगे। मगर हकीकत यह है कि ये लोग सुधार के हर आंदोलन की अक्सर मिलकर खिलाफत करते रहते हैं चाहे यह सुधार सामाजिक हो, आर्थिक या सामाजिक ही क्यों न हो। जो भी शख्स मौजूदा ढांचे को किसी भी तरह बदलना चाहता है तो उसे वे दोनों अपना असली दुश्मन समझ बैठते

हैं। दोनों ही हताश हो किसी न किसी तरह ब्रिटिश हुकूमत का पल्ला पकड़ लेते हैं क्योंकि उन्हें ऐसा लगने लगता है कि वे उसके साथ एक ही नाव पर सवार हैं।

करीब बीस बरस हुए, विश्वयुद्ध के पहले, जनवरी 1914 में आगा खां साहब ने हिंदुस्तान की हालत पर 'एडिनबर्ग रिव्यू' में एक लेख लिखा था। उन्होंने उसमें सरकार को यह सलाह दी थी कि हिंदुओं से मुसलमानों को अलग करने की पालिसी छोड़ दे और इन दोनों मजहबों के नरम लोगों को मिलाकर एक दल बनाये, ताकि नये हिंदुस्तान के हिंदुओं और मुसलमानों में, जिन लोगों में क्रांतिकारी राष्ट्रीय रुझान है, उनके खिलाफ मोर्चा तैयार हो सके। उन दिनों उग्रतावाद राष्ट्रीयता तक सीमित था और सियासी दायरे से आगे उसकी पैठ नहीं थी। आगा खां साहब तक ने यह भांप लिया था कि असली फर्क मजहबी बिना पर नहीं होकर राजनीतिक है—यह उन लोगों के बीच है, जो हिंदुस्तान में ब्रिटिश राज के कमोबेश समर्थक हैं और दूसरे वे, जो इसे खत्म कर देना चाहते हैं। राष्ट्रीयता का मसला आज भी सबसे बड़ा है। जब तक हिंदुस्तान सियासी तौर पर गुलाम बना रहेगा, तब तक यह मसला बना रहेगा। लेकिन आज बहुत-से और मसले भी प्रमुख हो गये हैं। ये मसले सामाजिक और आर्थिक हैं। अगर नरम लोगों और सामाजिक रूप से पिछड़े लोगों को क्रांतिकारी राजनैतिक परिवर्तन से डर है, तब सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन की संभावना से तो उन्हें और भी ज्यादा डर है। दरअसल इस परिवर्तन के डर का असर ही राजनैतिक मसले पर पड़ा है और बहुत-से ऐसे लोग भी पीछे हट गये हैं, जिन्हें प्रगतिशील राजनीतिज्ञ कहा जाता है। ये लोग राजनीति में खुले आम या सांप्रदायिकों की तरह नकाब पहनकर प्रतिक्रियावादी हो गये हैं या फिर बड़े बड़े जमींदारों या ताल्लुकदारों और उद्योगपतियों की तरह अपने अपने वर्ग के स्वार्थ और अधिकारों के खुले हिमायती बन गये हैं।

मुझे इसमें कोई शक नहीं कि यह दौर तो जारी रहेगा और इसके चलते सांप्रदायिक और मजहबी मनमुटाव कम होगा और एक तरह की हिंदू-मुस्लिम एकता पैदा होगी। अलग अलग गुटों के सांप्रदायिक लोग आपसी दुश्मनी के बावजूद, लंबे अरसे से बिछुड़े भाईयों की तरह एक-दूसरे के गले मिलेंगे और जो लोग राजनीतिक, सामाजिक या आर्थिक मामलों में क्रांतिकारी परिवर्तन चाहते हैं, उनकी वफादारी की कसम खायेंगे...।

सर मुहम्मद इकबाल जो इस्लाम की एकता के हिमायती हैं, कट्टर हिंदुओं से उनकी कुछ बेहद प्रतिक्रियावादी मांगों के मामले में पूरा इत्तिफाक रखते हैं। वे लिखते हैं, "नये संविधान में धार्मिक सुधारकों के खिलाफ रूढ़िवादी हिंदुओं ने सुरक्षा की जो मांगें कीं, मैं उसकी कद्र करता हूं। दरअसल यह मांग तो पहले मुसलमानों की तरफ से होनी चाहिए थी।" आगे चलकर वे स्पष्ट करते हैं, "आधुनिक उदारतावाद के आधार पर हिंदुस्तान में धार्मिक सुधारों को प्रोत्साहन देने का नतीजा यह होगा कि लोग धर्म की ओर से ज्यादा से ज्यादा उदासीन हो जायेंगे और आखिर में हिंदुस्तान के लोगों के दिलों में से धर्म नाम

का महत्वपूर्ण तत्व बिल्कुल ही निकल जायेगा। तब हिंदुस्तान का दिमाग धर्म के एवज के रूप में कुछ और चीज की तलाश करेगा। गालिबन यह उस नास्तिक भौतिकवाद जैसा ही होगा, जैसा कि रूस में है।"

साम्यवाद के इस डर से यूरोप में बहुत-से लिबरल और दूसरे मध्यवर्ग के लोग फासिज्म और प्रतिक्रियावाद की ओर मुखातिब हो गये हैं। यहां तक कि जुसुइट और फ्रीमैसंस लोग भी अकेले अपने एक दुश्मन का मुकाबला करने के लिए दो सौ साल पुरानी कट्टर दुश्मनी को भूल चुके हैं। हिंदुस्तान में साम्यवाद और समाजवाद को आमतौर पर बहुत कम लोग समझते हैं। वे तो इनके बारे में कुछ भी नहीं जानते हैं। लेकिन उन पर कुछ तो उनके अपने स्वार्थ की वजह थोड़ा-बहुत असर अपने आप पड़ जाता है और थोड़ा सरकार की तरफ से किये गये प्रोपेगंडा से पड़ता है, जिसमें हमेशा धार्मिक मसले पर ही जोर दिया होता है।

फिर भी सर मुहम्मद इकबाल की दलील हमें महज साम्यवाद या समाजवाद के विरोध से बहुत आगे ले जाती है। इस पर कुछ तफसील के साथ गौर करना मुनासिब होगा। यह याद रखना चाहिए कि सारे सुधारकों को दबाने के इस मामले में उनकी स्थिति आमतौर पर वही है, जो सनातनी हिंदुओं की है। यहां तक कि एक पार्टी ने, जो अपने को लोकतांत्रिक या राष्ट्रवादी (या कुछ और नाम हो—पश्चिमी हिंदुस्तान में थोड़े थोड़े अरसे के बाद अपनी स्थिति बदलने वाले करीब आधा दर्जन लोगों के साथ कदम मिलाकर चलना दुश्वार है) कहती है, हाल में अपने एक प्रोग्राम के तहत यह ऐलान किया था कि वह धार्मिक अधिकारों और रीति-रिवाजों में हर तरह की कानूनी दखलंदाजी के खिलाफ है। हिंदुस्तान में तो यह बात बहुत व्यापक क्षेत्र पर लागू होती है और हमारी जिंदगी का शायद ही कोई पहलू हो, जिसका मजहब या धर्म से कोई संबंध नहीं हो। विधान सभाओं के जरिये उनमें दखल नहीं देने की बात का मतलब नर्मी से यह कहना है कि रूढ़िवादी लोग अपना सिलसिला पहले जैसा ही जारी रखेंगे और इसमें किसी तरह की तब्दीली की इजाजत नहीं दी जायेगी।

भाषा का सवाल

हाल के महीनों में हिंदी और उर्दू के बीच का झगड़ा फिर से उठ खड़ा हुआ है और उसके साथ ही बड़ी गरमागरमी है, एक-दूसरे पर इल्जाम लगाये जा रहे हैं। एक ही ऐसी बात को बाजारू बहस की चीज बना दिया गया है, जिस पर ठंडे दिमाग से और गंभीरतापूर्वक और शास्त्रीय ढंग से विचार-विमर्श होना चाहिए और सांप्रदायिक रंग भी दे दिया गया। इसका यह नतीजा हुआ है और जो लाजिमी था कि बहुत-से ऐसे सूरमा मैदान में उतर आये हैं, जिनका पढ़ाई-लिखाई से बहुत कम वास्ता है और भाषा से उसकी खातिर ही सही उनका कोई लगाव नहीं है।...जो भाषा से, जबान से यह समझकर प्रेम करते हैं कि वह संस्कृति का, शब्दों और छोटे छोटे वाक्यों के ताने-बाने में गुंथी हुई कल्पनाओं का, सूक्ष्म अर्थ छवि का, संगीत और लय का, मनोहारी इतिहास और शब्दों के साहचर्य का, जीवन के समस्त पक्षों के चित्र का प्रतीक होती है और जिन्हें भाषा बहुत-से अन्य कारणों से भी प्रिय है, उन्हें इस भद्दी बहस पर ताज्जुब था और वे इससे दूर रहे।

फिर भी हम इससे अलग या उदासीन नहीं रह सकते क्योंकि भाषा का सवाल हम सबके लिए बहुत ही अहम है। यह इसलिए अहम नहीं है बहुत-से भोले-भाले लोग यह कहते फिरते हैं कि हिंदुस्तान में असंख्य लोग हैं और उनकी असंख्य बोलियां व भाषाएं हैं। अगर कोई भी आदमी हिंदुस्तान को चारों तरफ से देखे, तब उसे यह पता लगेगा कि इसकी लंबाई-चौड़ाई को देखते हुए यहां बहुत कम भाषाएं हैं और ये सभी भाषाएं एक-दूसरे से घनिष्ठ रूप से जुड़ी हुई हैं। हिंदुस्तान में एक प्रमुख और व्यापक भाषा भी है, जिसके कई रूप हैं, जो विशाल भू-भाग में फैली हुई और उसके उपासक भी करोड़ों की तादाद में हैं। फिर भी समस्या तो है ही और उसका मुकाबला भी करना है।

फिलहाल इसका इसलिए मुकाबला करना है क्योंकि इसका अब एक सांप्रदायिक और सियासी पहलू हो गया है। लेकिन यह कुछ दिनों का दौर-दौरा है और यह भी बीत जायेगा। असली समस्या बनी रहेगी कि हम लोग आम जनता की तालीम की स्कीम और उसके सांस्कृतिक विकास के बारे में कौन-सी पालिसी अपनायें, किस तरह हम लोग हिंदुस्तान की एकता को बढ़ावा देने के साथ साथ विरासत में मिली कीमती विविधता को भी

दि बाम्बे क्रानिकल में, 11-13 अगस्त, 1937 को सर्वप्रथम प्रकाशित लेख से। *सेलेक्टेड वर्क्स,* वाल्यूम 8, पृ. 829–40 से संकलित

कायम रखें।...

जिंदा भाषा में धड़कन होती है, वह ताकतवर होती है और वह हमेशा बदलती रहती है, उसमें विकास होता रहता है, जो लोग उसे बोलते और लिखते हैं वह उनकी तस्वीर होती है। हो सकता है कि उसका ऊपरी ढांचा थोड़े-से लोगों की संस्कृति का प्रतीक हो, लेकिन उसकी जड़ें जनता में होती हैं। ऐसी हालत में हम उसे किस तरह बदल सकते या प्रस्तावों द्वारा अपनी पसंद के अनुसार या ऊपर से आदेश देकर उसे शक्ल दे सकते हैं? फिर भी मैं देखता हूं कि लोगों में यह ख्याल बना हुआ है कि अगर हम इरादा कर लें, तब भाषा को एक खास किस्म से व्यवहार करने के लिए मजबूर कर सकते हैं। यह सच है कि आज के हालात में शिक्षा और अखबारों, पुस्तकें छापकर, सिनेमा और रेडियो के जरिये जनता में भारी प्रचार कर भाषा को पुराने जमाने के मुकाबले ज्यादा तेजी से बदला जा सकता है। फिर भी वह बदलाव उन तब्दीलियों का आइना होगा, जो उसका इस्तेमाल करने वालों में तेजी से हो रही हैं। अगर किसी भाषा का लोगों से संपर्क नहीं रह जाता तो उसकी ताकत खत्म हो जाती हैं और वह बनावटी और बेजान हो जाती है, वह जिंदगी, ताकत और आनंद की चीज जो उसे होना चाहिए, नहीं रहती। किसी एक खास दिशा में विकसित होने के लिए भाषा पर जोर-जबरदस्ती करने का नतीजा यह होता है कि भाषा बिगड़ जाती है और उसकी आत्मा कुचल उठती है।

भाषा के बारे में सरकार की पालिसी क्या होनी चाहिए? कांग्रेस ने मुख्तसर में, लेकिन साफ साफ और निश्चित तौर से (कराची कांग्रेस 1931 में) बुनियादी अधिकार वाले प्रस्ताव में इसका उल्लेख किया है:

'अल्पसंख्यकों और दूसरे भाषाई क्षेत्रों की संस्कृति, भाषा एवं लिपि की रक्षा की जायेगी।' इस ऐलान से कांग्रेस बंधी हुई है। किसी भी अल्पसंख्यक या भाषाई वर्ग को इससे अधिक आश्वासन की जरूरत नहीं हो सकती। इसके अलावा कांग्रेस ने अपने संविधान में और बहुत-से रिजोल्यूशनों में भी यह कहा है कि मुल्क की आम भाषा जब कि हिंदुस्तानी होनी चाहिए, वहां उनके अपने इलाकों में सूबे की भाषा की प्रमुखता रहनी चाहिए। रिजोल्यूशन के जरिये किसी भी भाषा को नहीं लादा जा सकता। कांग्रेस की यह इच्छा है कि सरकार एक आम भाषा विकसित करे और हमारा ज्यादा से ज्यादा काम सूबों की भाषा में हो। लेकिन अगर यह इच्छा मौजूदा हालात और स्थिति की आवश्यकताओं से मेल नहीं खाती तो वह कोरी अभिलाषा के रूप में रह जायेगी और लोगों की जमात उसे दरगुजर कर देगी। इसलिए हमें यह देखना है कि यह किस तरह मेल खाती है।

हमारी विशाल प्रांतीय भाषाएं, बोलियां या देशी जबानें नहीं हैं, जैसा कि नासमझ लोग उन्हें कहते हैं। ये भाषाएं बहुत पुरानी हैं और कीमती विरासत हैं। उनमें से हर भाषा के बोलने वालों की तादाद लाखों में है। उनका आम जनता के साथ साथ ऊपर के तबके

के लोगों के जीवन, संस्कृति और विचारों के साथ अटूट संबंध है। जाहिर है कि शिक्षा और संस्कृति के क्षेत्र में जनता अपनी भाषा के जरिये ही विकास कर सकती है। इसलिए यह लाजिमी है कि हम सूबों की भाषाओं पर जोर दें, अपना ज्यादातर काम उसी में करें। इनके अलावा दूसरी भाषा का इस्तेमाल करने का नतीजा यह होगा कि थोड़े-से पढ़े-लिखे लोग आम जनता से अलग-थलग हो जायेंगे और आम जनता का विकास होना रुक जायेगा। ...हमारी तालीम और सरकारी कामकाज की पद्धति सूबों की भाषाओं पर आधारित होनी चाहिए।

ये भाषाएं क्या हैं? बेशक हिंदुस्तानी, जिसके हिंदी और उर्दू दो खास खास रूप हैं और उनकी जुदा जुदा बोलियां। इसके बाद आती हैं बांग्ला, मराठी और गुजराती, जो हिंदी की बहनें हैं और उससे जुड़ी हुई हैं। दक्षिण में तमिल, तेलुगु, कन्नड़ और मलयालम हैं। इनके अलावा ओड़िया, असमिया, सिंधी हैं, उत्तर-पश्चिम में पंजाबी और पश्तो हैं। इन एक दर्जन भाषाओं में सारा हिंदुस्तान आ जाता है। इनमें हिंदुस्तानी सबसे ज्यादा हिस्सों में बोली जाती है।

सूबों के भाषाई क्षेत्र में दखल किये बिना सारे हिंदुस्तान में आपस में बातचीत करने के लिए हमारी एक भाषा होनी चाहिए। कुछ लोगों का ख्याल है कि यह भाषा अंग्रेजी हो सकती है। कुछ हद तक हिंदुस्तान-भर में अंग्रेजी ऊंचे तबके के लोगों के बीच बातचीत का एक माध्यम भी रही है और इसने सारे हिंदुस्तान में सियासी मकसद को पूरा भी किया है।

लेकिन अगर हम आम जनता के नजरिये से सोचें तो यह नामुमकिन है। हम लाखों करोड़ों लोगों को एक ऐसी भाषा में शिक्षित नहीं कर सकते, जो उनके लिए एकदम विदेशी हो। चूंकि अंग्रेजी के साथ हमारा पुराना रिश्ता रहा है और दुनिया में उसकी आज भी अहमियत है, इसलिए हम लोगों के लिए लाजिमी तौर पर यह एक अहम भाषा रहेगी। बाहरी दुनिया के साथ संपर्क रखने के ख्याल से वह हमारे लिए एक खास माध्यम रहेगी, हालांकि मुझे उम्मीद है कि वही अकेली माध्यम नहीं रहेगी। मेरा ख्याल है कि हमें विदेशी भाषाओं, जैसे फ्रेंच, जर्मन, रूसी, स्पेनिश, इटालियन, चीनी और जापानी को भी बढ़ावा देना चाहिए। लेकिन अंग्रेजी सारे हिंदुस्तान की वह भाषा नहीं बन सकती, जो सभी लोग जानते हों।

सारे हिंदुस्तान की भाषा अगर कोई हो सकती है, तो वह हिंदुस्तानी ही हो सकती है। पहले से ही बारह करोड़ लोग इसे बोलते हैं। इसे करोड़ों लोग कुछ कुछ समझते हैं। जिन्हें इस वक्त यह बिल्कुल नहीं आती है, वे भी विदेशी भाषा की बनिस्बत उसे ज्यादा आसानी से सीख सकते हैं। हिंदुस्तान की तमाम भाषाओं में बहुत-से एक जैसे शब्द हैं। मगर इससे भी कहीं अहम बात यह है कि इन भाषाओं की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि एक जैसी है, विचारों में समानता है और बहुत-सी भाषाई निकटता है। इससे किसी भी हिंदुस्तानी

के लिए कोई दूसरी हिंदुस्तानी जबान को सीख लेना बहुत आसान हो जाता है।

हिंदुस्तानी है क्या? मोटे तौर से हम कहते हैं कि इसमें बोलचाल की हिंदी और उर्दू दोनों शामिल हैं, जो दो लिपियों में लिखी जाती हैं। हम इन दोनों के बीच का सुनहरा रास्ता पकड़ने की कोशिश करते हैं और अपनी इस कल्पना को हिंदुस्तानी के नाम से पुकारते हैं। क्या यह निरी कल्पना है और इसकी बुनियाद के लिए कोई असलियत नहीं है या यह इससे कुछ ज्यादा है?

हिंदुस्तानी उत्तरी और मध्य हिंदुस्तान के मुख्तलिफ हिस्सों में जिस तरह बोली और लिखी जाती है, उसमें बहुत फर्क है। कई बोलियां पैदा हो गयी हैं। लेकिन यह शिक्षा के न होने से लाजिमी था। ज्यों ज्यों जनता में शिक्षा का प्रसार होगा, त्यों त्यों ये बोलियां मिटती जायेंगी और भाषा कुछ कुछ स्टैंडर्ड होती जायेगी।

लिपि का सवाल भी है। देवनागरी और उर्दू लिपि एक-दूसरे से बिल्कुल जुदा हैं। इनके एक-दूसरे में मिलने की संभावना नहीं है। इसलिए हमने अपनी समझ से यह मंजूर किया है कि दोनों को फलने-फूलने दिया जाये। यह उन लोगों के लिए बोझ होगा, जिन्हें दोनों लिपियां सीखनी होंगी। इससे अलगाव को बढ़ावा मिलेगा। चूंकि हमारे लिए कोई दूसरा रास्ता नहीं है, इसलिए इन दिक्कतों को हमें बर्दाश्त करना पड़ेगा। दोनों लिपियां हमारी भाषा की प्रकृति का अंग हैं। इनमें बहुत-सा साहित्य मिलता है, जो इनकी खासियत है। इसके अलावा इन दोनों के बीच भावना की एक दीवार खड़ी हो गयी है, जो ठोस है और जो हटाई भी नहीं जा सकती। आगे भविष्य में क्या होगा, मैं नहीं जानता, मगर फिलहाल तो दोनों ही रहेंगी।

हमारी कुछेक भाषाई दिक्कतों के हल के लिए रोमन लिपि की वकालत की गयी है। तेजी से काम करने के नजरिये से यह बेशक हिंदी या उर्दू की लिपि तथा और हिंदुस्तान की लिपियों के मुकाबले ज्यादा फायदेमंद हैं क्योंकि ये इन नये साधनों का पूरी तरह से इस्तेमाल नहीं कर सकतीं। लेकिन इन सब फायदों के बावजूद मैं नहीं सोचता कि देवनागरी या उर्दू लिपि की जगह रोमन लिपि थोड़ी-सी इस्तेमाल होने लगेगी। इसमें शक नहीं कि बीच में भावना की दीवार है, जो इस बात से और भी ज्यादा मजबूत हो गयी है कि रोमन लिपि का संबंध हमारे विदेशी शासकों से है। लेकिन इसे नामंजूर करने के लिए और भी कई ठोस आधार हैं। ये लिपियां हमारे साहित्य का जरूरी अंग हैं। इनके बिना हम अपनी पुरानी विरासत से बहुत कुछ कट जायेंगे।

हम अपनी लिपियों में कुछ हद तक सुधार कर सकते हैं। हिंदी और उर्दू के अलावा हमारे यहां बांग्ला, मराठी और गुजराती लिपियां हैं। इनमें से हर लिपि देवनागरी लिपि से बहुत ज्यादा मिलती-जुलती है। इन चारों भाषाओं के लिए एक खास (आम) लिपि मंजूर की जा सकती है। यह बिल्कुल ठीक वैसी देवनागरी न हो, जैसी कि आजकल लिखी जाती

है, उससे कुछ जुदा हो। हिंदी, बांग्ला, गुजराती और मराठी के लिए एक आम लिपि का विकास बेशक फायदेमंद होगा और इससे चारों भाषाएं एक-दूसरे के ज्यादा नजदीक आ जायेंगी।

दक्षिण की द्रविड़ भाषाएं उत्तर की किसी भी लिपि के साथ कितना मेल खाती हैं या उनके अपने लिए क्या एक आम लिपि का विकास हो सकता है, यह मैं नहीं जानता। जिन लोगों ने यह अध्ययन किया है, वह इस बारे में हमारे लिए कुछ बता सकते हैं।

उर्दू लिपि जैसी है, वह वैसी ही रहेगी हालांकि उसे कुछ आसान बनाने की कुछ कोशिश की जा सकती है। इसमें सिंधी लिपि मिल सकती है, जो बहुत कुछ वैसी ही है...।

आइए हिंदुस्तान के उत्तरी और मध्य के सूबों की मातृभाषा और सारे हिंदुस्तान की भाषा के तौर पर हिंदुस्तानी पर विचार कर लें। ये दोनों पहलू जुदा जुदा हैं। इसलिए इन पर अलग अलग चर्चा होनी चाहिए।

इस भाषा के दो पहलू हैं हिंदी और उर्दू। जाहिर है कि इन दोनों का एक ही आधार है, एक जैसा व्याकरण और आम शब्दों के लिए एक ही भंडार है। असल में दोनों भाषाएं एक ही हैं। लेकिन इस वक्त बहुत ज्यादा फर्क है। कहा जाता है कि एक को संस्कृत से प्रेरणा मिलती है और दूसरी को कुछ हद तक फारसी से। हिंदी को हिंदुओं की और उर्दू को मुसलमानों की भाषा समझना बेहूदा बात है। लिपि को छोड़कर उर्दू हिंदुस्तान की धरती की जबान है। हिंदुस्तान से बाहर इसके लिए कोई जगह नहीं है। हिंदुस्तान में आज भी यह उत्तर के बहुत-से हिंदुओं के घरों में बोली जाने वाली भाषा है।

हिंदुस्तान में मुस्लिम शासन आने से फारसी यहां के शाही दरबार की भाषा बनी। मुगल सल्तनत के खत्म होने तक फारसी का इस रूप में इस्तेमाल होता रहा। हिंदुस्तान के उत्तरी और बीच के इलाकों में शुरू से हिंदी ही बनी रही। जिंदा जबान होने की वजह से इसने फारसी के बहुत-से शब्दों को अपने में मिला लिया। ऐसे ही गुजराती और मराठी ने किया। मगर असल में हिंदी, हिंदी ही रही। शाही दरबारों के आसपास हिंदी का बहुत ज्यादा फारसी मिला रूप विकसित हुआ और यह रेख्ता कहलाया। लगता है कि उर्दू शब्द का इस्तेमाल मुगल काल में मुगलों की छावनियों में होने लग गया, लेकिन ऐसा लगता है कि इसका इस्तेमाल बहुत कुछ हिंदी के माने में ही होता था। यह हिंदी का कोई जुदा रूप नहीं समझा जाता था। सन 1857 के विद्रोह तक उर्दू का अर्थ लिपि को छोड़कर हिंदी ही था। जैसा कि सभी जानते हैं कि हिंदी के बढ़िया से बढ़िया कवि मुसलमान थे। इस विद्रोह के जमाने तक और उसके कुछ अरसे बाद तक भी इस जबान के लिए जो शब्द इस्तेमाल होता था, वह हिंदी था। इसका लिपि से कोई वास्ता नहीं था बल्कि भाषा से, हिंद की भाषा से वास्ता था। मुसलमान जो उर्दू लिपि में लिखते थे उसे आमतौर पर हिंदी कहते थे।

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में आकर हिंदी और उर्दू शब्दों का एक-दूसरे से अलग अलग अर्थ समझा जाने लगा। यह फर्क बढ़ता गया। शायद यह राष्ट्रीय जागरण का उल्टा असर था, जो पहले-पहल हिंदुओं में पनप रहा था। ये हिंदू ज्यादा से ज्यादा शुद्ध हिंदी और देवनागरी पर जोर देने लगे थे। यह राष्ट्रीय जागरण इनके लिए लाजिमी तौर पर एक किस्म का हिंदू राष्ट्रवाद था। कुछ अरसे के बाद मुसलमानों में उनके अपने ढंग का राष्ट्रवाद विकसित हुआ। यह मुस्लिम राष्ट्रवाद था। इन लोगों ने उर्दू को अपनी एक खास मिल्कियत समझना शुरू कर दिया। झगड़ा लिपियों और कचहरियों और सरकारी दफ्तरों में इनके इस्तेमाल को लेकर हुआ।

इस तरह भाषा में पैदा होने वाला अलगाव और लिपियों का झगड़ा राजनैतिक और राष्ट्रीय जागरण का नतीजा था, जिसका रुख शुरू शुरू में सांप्रदायिक था। जब यह राष्ट्रवाद असल में राष्ट्रीय बना, किसी खास जाति का विचार न कर समूचे हिंदुस्तान के नजरिये से सोचा जाने लगा, तब इसके साथ साथ भाषा में अलगाववाद के रुख को रोकने की इच्छा बढ़ी और समझदार लोग हिंदी और उर्दू में समान रूप से चाहे जाने वाली बातों पर जोर देने लगे। हिंदुस्तानी को हिंदुस्तान के सिर्फ उत्तरी और बीच के हिस्से की भाषा न कह कर सारे मुल्क की भाषा कहा जाने लगा। बदकिस्मती तो यह है कि हिंदुस्तान में सांप्रदायिकता अभी भी जोरों पर है। इसलिए जोड़ने की भावना के साथ साथ अलगाववाद का रुख भी बना हुआ है। भाषा में यह अलगाववाद राष्ट्रवाद का पूरा पूरा विकास होने पर मिटकर रहेगा। हमें यह बात अच्छी तरह समझ लेनी चाहिए क्योंकि तभी हम यह समझ सकेंगे कि बुराई की असली वजह क्या है? भाषा के मामले में अलगाववाद के किसी भी समर्थक को ले लीजिए, आपको हमेशा यही पता चलेगा कि वह सांप्रदायिक है और अक्सर एक राजनीतिक प्रतिक्रियावादी है।

हालांकि मुगलों के जमाने में लंबे अरसे तक हिंदी और उर्दू शब्द दूसरे के लिए इस्तेमाल किये जाते थे, फिर भी उर्दू शब्द मुगलों की मिलीजुली छावनियों में इस्तेमाल होने वाली भाषा के लिए कहा जाता था। दरबार और छावनियों में फारसी के बहुत-से शब्द इस्तेमाल होते थे। ये शब्द भाषा में घुलमिल गये थे। जैसे जैसे हम मुगलों की दरबारी संस्कृति के केंद्रों से हटकर दक्षिण की ओर बढ़ते हैं, त्यों त्यों उर्दू ऐसी हिंदी में बदलती जाती है जो अधिक से अधिक शुद्ध होती है। लाजिमी तौर से दरबारों का यह असर देहाती इलाकों के बनिस्बत शहरों पर और शहरों में भी मध्य हिंदुस्तान के शहरों पर ज्यादा पड़ा।

और इस तरह हम उर्दू और हिंदी के मौजूदा फर्क पर पहुंच जाते हैं कि उर्दू शहरों की जबान है और हिंदी गांवों की भाषा है। बेशक हिंदी शहरों में भी बोली जाती है, लेकिन उर्दू तो लगभग पूरी तरह से शहरों की भाषा है। इस तरह उर्दू और हिंदी को एक-दूसरे के ज्यादा से ज्यादा नजदीक लाने की समस्या शहरों और गांवों को एक-दूसरे के ज्यादा

से ज्यादा नजदीक लाने की एक अधिक विशाल समस्या बन जाती है। इसके अलावा दूसरा तरीका ऊपरी तरीका होगा और उसका प्रभाव स्थायी नहीं रहेगा। भाषाएं भीतर से बदलती हैं और वे तब बदलती हैं, जब उन्हें बोलने वाले बदलते हैं।

हालांकि हिंदी और उर्दू घरों में बोली जाने वाली भाषा में आमतौर पर कोई फर्क नहीं होता, लेकिन हाल के बरसों में साहित्य की भाषाओं में फर्क पड़ गया है। साहित्यिक रचनाओं में यह फर्क जबरदस्त है और इससे कुछ लोगों में यह विश्वास हो गया है कि इसकी वजह कुछ बुरी नीयत वाले लोग हैं। यह बेवकूफी की कल्पना है, हालांकि इसके लिए जिम्मेदार वे लोग बेशक हैं जिन्हें अलगाववाद को बढ़ावा देने में मजा आता है। लेकिन सजीव भाषाएं इस तरह काम नहीं करतीं और न थोड़े-से व्यक्ति ही उन्हें तोड़-मरोड़ सकते हैं। इस ऊपरी फर्क के कारणों का पता लगाने के लिए हमें कुछ गहराई में जाना पड़ेगा।

यह फर्क यों तो बदकिस्मती ही है, लेकिन असल में स्वस्थ विकास के लक्षण हैं। हिंदी और उर्दू दोनों लंबे अरसे तक अलग अलग पड़े रहने के बाद जाग उठी हैं और तेजी से आगे बढ़ रही हैं। वे नये नये विचारों को प्रकट करने के लिए संघर्ष कर रही हैं और साहित्य की नयी अभिव्यक्ति के लिए पुरानी रूढ़ियों को छोड़ रही हैं। जहां तक नये विचारों का ताल्लुक है, दोनों में से हर एक के शब्दों का भंडार कम है, लेकिन दोनों ही एक संपन्न स्रोत से शब्द ग्रहण कर सकती हैं। एक के लिए यह स्रोत संस्कृत है और दूसरी के लिए फारसी है। इसलिए जब हम घरों या बाजारों की भाषा को छोड़कर अधिक सूक्ष्म क्षेत्रों में आते हैं, यह फर्क बढ़ जाता है। साहित्यिक संस्थाएं जिस भाषा का इस्तेमाल करती हैं, उसकी शुद्धता का बहुत ख्याल रखती हैं। वे इस मामले में हद से भी ज्यादा निकल जाती हैं और इसके बाद एक-दूसरे पर अलगाववाद को बढ़ावा देने का इल्जाम लगाती हैं। ये संस्थाएं अपनी अपनी गलती तो नहीं देखतीं, लेकिन दूसरों की गलती को लेकर तिल का ताड़ बना देती हैं।

इसका नतीजा तुरंत यह हुआ कि हिंदी और उर्दू के बीच फर्क बढ़ रहा है और कभी कभी ऐसा लगता है कि इन दोनों भाषाओं के भाग्य में अलग अलग विकसित होना ही लिखा हुआ है। इस तरह डरना कोई मुनासिब बात नहीं है और घबराने की कोई वजह नहीं है। हमें उस नयी जिंदगी का स्वागत करना है, जो हिंदी और उर्दू दोनों ही भाषाओं में बह रही है। भले ही थोड़े अरसे के लिए इसका नतीजा यह भी हो कि इन दोनों के बीच थोड़े अरसे के लिए खाई और ज्यादा चौड़ी हो जाये। फिलहाल आधुनिक विचारों, वैज्ञानिक, राजनीतिक, आर्थिक, वाणिज्यिक और कभी कभी सांस्कृतिक विचारों को प्रगट करने के मामले में हिंदी और उर्दू दोनों ही असमर्थ हैं और ये दोनों ही अपने को संपन्न बनाने के लिए कामयाबी के साथ हर संभव कोशिश कर रही हैं। एक को दूसरी से जलन क्यों होनी चाहिए? हम चाहते हैं कि हमारी भाषा जहां तक मुमकिन है, संपन्न हो जाये,

लेकिन यह तब तक नहीं होगी जब तक हम हिंदी या उर्दू के शब्दों को इसलिए दबाने की कोशिश करते रहेंगे कि हमारे ख्याल से वे शब्द हमारी अपनी खास पृष्ठभूमि से मेल नहीं खाते। हमें दोनों की जरूरत है। हमें दोनों को स्वीकार करना चाहिए। हमें यह समझ लेना चाहिए कि हिंदी के विकास का मतलब उर्दू का विकास और उर्दू के विकास का मतलब हिंदी का विकसित होना है। दोनों का एक-दूसरे पर जबरदस्त असर होगा और दोनों के शब्द भंडार और भाव संपदा में बढ़ोत्तरी होगी। लेकिन दोनों को ही अपने दरवाजे और खिड़कियां इन शब्दों और विचारों के लिए खुले रखने होंगे। असल में मैं तो यह चाहता हूं कि हिंदी और उर्दू विदेशी भाषाओं के शब्दों और भाव संपदा का स्वागत करें, उन्हें अपने में मिला लें और अपना बना लें। अंग्रेजी या फ्रेंच या दूसरी विदेशी भाषाओं के जाने-पहचाने और आमतौर पर इस्तेमाल में आने वाले शब्दों के लिए संस्कृत या फारसी से नये शब्द गढ़ना वाहियात बात है...।

इसलिए हमें हिंदी और उर्दू के अलग अलग विकास को शक के नजरिये से नहीं देखना चाहिए। उर्दू के हिमायतियों को नयी भावना का स्वागत करना चाहिए, जो हिंदी में जीवन ला रही है और उर्दू के प्रेमियों को भी उन लोगों की मेहनत की कद्र करनी चाहिए, जो उर्दू की तरक्की चाहते हैं। उन्हें आज साथ साथ चलने वाले ढंग से काम करना चाहिए, भले ही वे एक-दूसरे से कुछ कुछ अलग रहकर काम करें, लेकिन ये दोनों आपस में मिल जायेंगे। हम खुशी से मौजूदा अलग बने रहने की स्थिति को बर्दाश्त कर लेंगे, लेकिन हमें इस एकीकरण की प्रक्रिया में सहायक होना चाहिए। इस एकता का आधार क्या होना चाहिए? बेशक यह आधार आम जनता होना चाहिए। हिंदी और उर्दू आम जनता के बीच एक समान तत्व के रूप में होनी चाहिए। हमारे बहुत से मौजूदा विवाद की जड़ यह है कि हमारी भाषाएं बहुत ही ज्यादा साहित्यिक होती हैं और उनका आम जनता से कोई ताल्लुक नहीं होता। जब लेखक लिखते हैं तो किसके लिए लिखते हैं? जाने या अनजाने में हर लेखक के मन में कोई न कोई पाठक जरूर रहता है, जिन्हें वह प्रभावित करना या अपने विचार के अनुसार बदलना चाहता है। चूंकि हमारे मुल्क में बहुत ज्यादा तादाद में लोग पढ़ना-लिखना तक नहीं जानते हैं इसलिए बदकिस्मती से पाठकों की संख्या बहुत ही कम है, मगर फिर भी यह काफी है और उनकी तादाद तेजी से बढ़ेगी। मैं इस मामले में कोई विशेषज्ञ नहीं हूं, लेकिन मेरा अपना ख्याल यह है कि हिंदी या उर्दू का औसत लेखक मौजूदा पाठक का भी फायदा उठाने की कोशिश नहीं करता। वह जिन साहित्यिक मंडलियों में रहता है, उनका बहुत ख्याल रखता है और उसी भाषा में लिखता है जिसकी वह कद्र करने लगी है। उसकी आवाज और उसके शब्द इनके बजाय...जनसमूह तक नहीं पहुंच पाते और अगर संयोग से पहुंच भी गये तो उसकी समझ से बाहर की बात होती है। ऐसी हालत में अगर हिंदी और उर्दू की किताबों की बिक्री थोड़ी होती है तो क्या यह

ताज्जुब की बात है? यहां तक कि हिंदी और उर्दू के हमारे अखबार भी विशाल जनता तक मुश्किल से पहुंच पाते हैं क्योंकि वे भी साहित्य मंडलियों की भाषा का ही इस्तेमाल करते हैं।

इसलिए हमारे लेखकों को आम पढ़ने और खरीदने वालों को ध्यान में रखकर सोचना चाहिए और सोद्देश्य उनके लिए लिखने की कोशिश करनी चाहिए। इसका नतीजा यह होगा कि भाषा अपने आप सरल हो जायेगी और बनावटी और लच्छेदार शब्द और वाक्यों की रचना के बजाय, जो भाषा के पतन की निशानी होती है, ऐसे शब्दों का इस्तेमाल होने लगेगा जो जानकार और जोरदार होते हैं। अभी तक हमारा यह ख्याल दूर नहीं हुआ है कि श्रेष्ठ साहित्य और संस्कृति दरबारी वातावरण की उपज होती है और इसी के साथ पनपती है। अगर हम इस नजरिये से सोचते रहेंगे, तब हम तंग दायरे में बने रहेंगे और जनसाधारण के दिल और दिमाग में कोई जगह नहीं बना पायेंगे। आज संस्कृति का आधार अधिक विशाल होना चाहिए और यही आधार भाषा का भी होना चाहिए, जो संस्कृति का ही एक भाग होती है।

आम जनता से लगाव का सवाल सिर्फ आसान शब्दों और वाक्यों का इस्तेमाल करना नहीं है। यह सवाल विचारों और इन शब्दों और वाक्यों के भीतर की विषयवस्तु का भी है। जो भाषा जनता के दिलों पर असर डालना चाहती है, उस भाषा में जनता की समस्याओं, उसके सुख-दुख और उसकी आशा-निराशा का वर्णन होना चाहिए। ऐसी भाषा को ऊपर के छोटे से छोटे वर्ग की जिंदगी का नहीं, बल्कि सारी जनता की जिदंगी का प्रतिनिधि और दर्पण होना चाहिए।

यह बात महज हिंदी और उर्दू पर ही नहीं, बल्कि हिंदुस्तान की हमारी सारी भाषाओं पर लागू होती है। मैं जानता हूं कि उन सबमें इन्हीं बातों का जोर है और ये ज्यादा से ज्यादा जनता की ओर झुक रही हैं। यह रफ्तार और तेज की जानी चाहिए। हमारे लेखकों का मकसद इसे बढ़ावा देना होना चाहिए।

हमारे विचार में यह भी एक अच्छी बात होगी कि पुरानी क्लासिक कृतियों और आधुनिक कृतियों के अनुवाद के जरिये हमारी भाषाएं विदेशी साहित्य से अपना संपर्क कायम करें। ऐसा करने से दूसरे मुल्कों में हो रहे सांस्कृतिक और साहित्यिक व सामाजिक आंदोलनों की हमें जानकारी होगी और नये नये विचारों के आने से हमारी अपनी भाषाओं को ताकत मिलेगी...।

मैं पहले कह चुका हूं कि हमें हिंदी और उर्दू का अलग अलग विकास होने में कोई शिकायत नहीं होनी चाहिए। दोनों तरफ से जो नये नये शब्द या तो हालात पैदा होने से जबरदस्ती या जनता के बीच इस्तेमाल होने की वजह से आयेंगे, वे अगर जानदार होंगे तो वह हमारी कीमती दौलत होंगे। लेकिन जिन शब्दों के निर्माण के पीछे कोई असली

समर्थन नहीं होगा, उन शब्दों की कोई अहमियत नहीं होगी। हमें अपने सियासी, आर्थिक, वैज्ञानिक और वाणिज्यिक कामकाज की बढ़ती हुई जरूरत को पूरा करने के लिए काफी तादाद में कृत्रिम शब्द गढ़ने पड़ते हैं। ऐसे शब्दों के निर्माण में हमें बार बार शब्द बनाने और अलगाववाद से बचने की कोशिश करनी चाहिए। मेरा ख्याल है कि हममें इतना साहस तो होना ही चाहिए कि जो विदेशी तकनीकी शब्द दुनिया के बहुत-से हिस्सों में बराबर इस्तेमाल में आ रहे हैं, उन्हें हम वैसा को वैसा उठा लें और उन्हें हिंदुस्तानी शब्द मानकर अपना लें। बेशक मैं चाहता हूं कि ऐसे शब्दों को हिंदुस्तान की सभी भाषाएं अपना लें। इससे हमारे लोगों को मुख्तलिफ भाषाओं में तकनीकी और वैज्ञानिक किताबें पढ़ने में मदद मिलेगी, जो चाहे हिंदुस्तानी में हों या किसी विदेशी भाषा में....।

इस तरह बहुत-से विदेशी शब्द लिये जा सकते हैं और लिये भी जाने चाहिए। लेकिन बहुत से तकनीकी शब्द अपनी भाषा से भी लेने पड़ेंगे। अच्छा यह होगा कि हमारे भाषाई और तकनीकी विशेषज्ञ आम इस्तेमाल के लिए ऐसे शब्दों की सूची बना लें। इससे ऐसे मामलों में सिर्फ एकरूपता और संक्षिप्तता ही नहीं आयेगी, बल्कि वाहियात पदों और वाक्यों का इस्तेमाल भी रुक जायेगा, जहां विविधता और अस्पष्टता बहुत ही गैर मुनासिब होती है। हमारे पत्रकार साथियों की यह आदत होती है कि वह विदेशी शब्दों और वाक्यांशों का उनके पीछे छिपे अर्थ की परवाह किये बिना अक्षरशः अनुवाद कर देते हैं और तब ये बेतुके शब्द चल पड़ते हैं और अर्थ में गड़बड़ी पैदा कर देते हैं। ट्रेड यूनियन शब्द का अनुवाद कभी व्यापार संघ किया जाता है, जो बिल्कुल शाब्दिक अनुवाद है, लेकिन यह सच्चाई से उतना ही दूर है जितना कि कोई दूसरा शब्द हो सकता है। इससे ज्यादा अनोखा अनुवाद तो 'इम्पीरियल प्रीफरेंस' का हुआ है। एक उत्साही पत्रकार ने इसका अनुवाद 'शाही पसंद' किया था...।

हिंदुस्तान के लिए एक आम जुबान

हम समझते हैं कि हिंदुस्तान की प्रमुख भाषाओं को, जिनमें से हर एक पुरानी भाषा है और हर एक का काफी साहित्य है, अपने अपने भाषाई क्षेत्रों में प्रोत्साहन देना चाहिए। उन क्षेत्रों के लिए उन्हें प्रमुख भाषाएं मानना चाहिए।...हिंदुस्तानी का इन भाषाओं को दबाने का कोई सवाल ही नहीं है। क्योंकि उत्तर के बहुत बड़े क्षेत्र में मुख्तलिफ रूपों में हिंदुस्तानी का बोलबाला है। इस उत्तरी क्षेत्र के लिए जहां तक हमसे हो सकता है, हमें इस हिंदुस्तानी को एक स्टैंडर्ड रूप देना है और हिंदुस्तान के बाकी हिस्सों के लिए इसे दूसरी जरूरी भाषा बनाना है, ताकि यह एक ऐसा भाषाई सूत्र बने जो हिंदुस्तान को आपस में जोड़े रहे। दूसरी कोई ऐसी भाषा मुमकिन नहीं है, जो इस तरह का सूत्र बन सकती हो। मैं समझता हूं कि यह काफी जरूरी है कि हिंदुस्तानी का इस दिशा में विकास होना चाहिए। मैं अंग्रेजी या दूसरी विदेशी भाषाओं के खिलाफ नहीं हूं। मैं समझता हूं कि दुनिया और आधुनिक विचारधारा के साथ संपर्क बनाये रखने के लिए विदेशी भाषाओं की जानकारी का होना हमारे लिए जरूरी है। लेकिन मुल्क में ढेर सारे लोगों को इन भाषाओं की जानकारी नहीं हो सकती।

और इस तरह हिंदुस्तानी, हिंदुस्तान की राष्ट्र भाषा बनने जा रही है। इस वक्त इसके कई रूप हैं। आमतौर पर जब हिंदी और उर्दू की दृष्टि से सोचते हैं, तब हमारे मन में खासतौर से लिपि का और कुछ हद तक फारसी और संस्कृत की पृष्ठभूमि का ध्यान रहता है। लेकिन इससे भी ज्यादा फर्क शहरी और गांवों की भाषा में हैं। इस सिलसिले में हमें शायद ही कभी गांवों का ख्याल आता हो क्योंकि हमारे सार्वजनिक जीवन की सारी प्रेरणा शहर के लोगों से मिलती है। कुछ हद तक तो यह स्थिति बनी रहेगी और यह सही भी है कि शहर की आला संस्कृति महत्वपूर्ण भूमिका अदा करे। लेकिन ज्यों ज्यों देहातों में तालीम फैलेगी, त्यों त्यों शहरों का दबदबा इतना न रह जायेगा और हमारी भाषा में खासी तब्दीली आ जायेगी..।

जब हम जनता की आम आसान जुबान की बात करते हैं और जिसे हम फारसी या संस्कृतनुमा भाषा के मुकाबले प्रोत्साहन देना चाहते हैं, तब असल में हम क्या चाहते हैं? हर नौसिखिया जानता है कि दिल्ली की जुबान और नागपुर या बिहार की जुबान में

सैयद महमूद को 24 सितंबर, 1936 को लिखे एक पत्र से, *सेलेक्टेड वर्क्स,* वाल्यूम 7, पृ. 387-92

जमीन-आसमान का फर्क है। लखनऊ शहर की जुबान और लखनऊ के देहाती इलाकों की जुबान में बेहद फर्क है। तो फिर आम जनता की यह आसान-सी आम जुबान क्या है? हममें से हर एक का झुकाव अपनी जुबान या अपने तबके की जुबान को स्टैंडर्ड मानने के लिए होता है और जब उस जुबान में थोड़ी बहुत फेर-बदल कर उसका इस्तेमाल होता है, तब उसे झुंझलाहट होती है। वह अपने अज्ञान या सीमित ज्ञान पर थोड़ी-बहुत शर्मिंदगी महसूस करने के बदले अपने अज्ञान पर गौरव महसूस करता हुआ जान पड़ता है।

लेकिन मैं कुछ गहरी बातों की ओर आपका ध्यान दिलाना चाहता हूं। जनता की आम आसान जुबान तो हमेशा एक सीमित जुबान होती है। मालिकन उसमें करीब दो हजार शब्द होते हैं। रोजमर्रा का कामकाज करने के लिए वह काफी होती है। लेकिन ज्यों ही हम जिंदगी के किसी मसले पर, राजनीतिक, सांस्कृतिक, आर्थिक और सामाजिक मसले पर विचार-विमर्श करने लगते हैं, तब यह आसान जुबान हमारी मदद नहीं करती। हमें अपने गंभीर विचारों को व्यक्त करने के लिए उचित शब्द और मुहावरे खोजने के लिए इसके दायरे से बाहर जाना पड़ता है। लाजिमी तौर पर लेखक या वक्ता को फारसी या संस्कृतनुमा शब्दों का सहारा लेना पड़ता है। जाहिर है कि इस जबान के दो रूप एक-दूसरे से दूर जा पड़ते हैं। असल में यह हर भाषा की ताकत की निशानी है और इससे हमें परेशान नहीं होना चाहिए। मुझे यकीन है कि जब अलग अलग विकास का यह पहला दौर खत्म हो जायेगा, ये दोनों एक-दूसरे के ज्यादा नजदीक आ जायेंगी क्योंकि वह इसे रोक नहीं सकतीं। परिस्थितियां उनसे ज्यादा ताकतवर हैं। जनता की यह मांग होगी कि ये सरल भी बने और एकरूप भी। यह हमारी जिम्मेदारी है कि जहां कहीं भी हो सकता है, हम इस प्रक्रिया में सहयोग दें। मैं सोचता हूं कि इस बारे में हम अभी कुछ कर सकते हैं। भाषा के इस विकास की खिलाफत करने में हमें अपनी मेहनत बेकार नहीं गंवानी चाहिए, चाहे इस विकास में अलगाव के आसार ही क्यों न दिखाई पड़ें। हमें एक भरी पूरी और विविध रूपों वाली भाषा चाहिए, जो अपनी खुराक और पोषक तत्व पुरानी भाषाओं के साथ साथ दुनिया की आधुनिक भाषाओं से ग्रहण करती रहे। हमारी भाषा आधुनिक शब्दावली की दृष्टि से अपरिपक्व है। आधुनिक विचारों और आधुनिक संकल्पनाओं को व्यक्त करने के लिए उन्हें विकसित होना पड़ेगा। इसलिए वे जितनी समृद्ध होती हैं, उतना ही बेहतर बनेंगी। हमें अपने सीमित ज्ञान की वजह से भाषाओं की संवृद्धि को रोकने की कोशिश नहीं करनी चाहिए। हिंदी और उर्दू दोनों में ही जिस असल चीज का एतराज करना चाहिए, वह है भाषा में दरबारी शब्दों और लंबे-चौड़े वाक्यों का इस्तेमाल, जो वैसे तो बड़ा आकर्षक होता है, लेकिन उसमें कोई जान नहीं होती और ऐसी जबान जनता तक नहीं पहुंच सकती...

मैं लिपि के बारे में ज्यादा कुछ नहीं कहता क्योंकि जहां तक हम लोगों का ताल्लुक

है, उसकी बात तय हो चुकी है। हिंदुस्तानी के लिए नागरी और उर्दू दोनों ही लिपियों को प्रोत्साहन मिलना चाहिए और इनको हर जगह मान्यता मिलनी चाहिए। यह सिर्फ एक राजनैतिक समझौता नहीं है, जैसा कि कुछ लोग समझते हैं, बल्कि यह राष्ट्र के विकास को प्रोत्साहन देने के लिए तो एक बुनियादी सिद्धांत है। मैं जाती तौर से हर जुबान और लिपि को, जो भी मौजूद हैं, प्रोत्साहन दूंगा क्योंकि मैं यह यकीन करता हूं कि बच्चों के विकास के लिए असल में शिक्षा उनकी घर की जुबान और लिपि में ही दी जा सकती है। जब मुझे यह पता चलता है कि किसी जगह लोग किसी भाषा या लिपि को दबाना चाहते हैं, तब मुझे यह बात बड़ी वाहियात लगती है। यह बात राष्ट्र के विकास और उसमें भाषा जो भूमिका अदा करती है, उसके बारे में लोगों के अज्ञान को जाहिर करती है...।

यह अजीब-सी बात है कि हमारे मुल्क में किस तरह हर सांप्रदायिक बात सांप्रदायिक रंग पकड़ लेती है। यहां तक कि भाषा का सवाल भी सांप्रदायिक बन गया है। और कुछ विचित्र कारणों से उर्दू को मुसलमानों की प्रामाणिक निशानी समझा जाता है। मैं बाअदब इसे मानने के लिए तैयार नहीं हूं। मैं उर्दू को अपनी जुबान मानता हूं क्योंकि मैं इसे बचपन से बोलता आया हूं। यह मेरी बदकिस्मती है कि मेरी तालीम ऐसी हुई कि मैं ठीक तरीके से न तो उर्दू ही जानता हूं और न हिंदी। लेकिन इसके यह मानी नहीं कि उर्दू मेरी जुबान नहीं है। इसलिए मैं इस सवाल को सिर्फ भाषा वैज्ञानिक के नजरिये से सोचता हूं, सांप्रदायिक नजरिये से नहीं सोचता और मैं चाहता हूं कि और लोग भी इस सवाल पर सिर्फ भाषा वैज्ञानिक नजरिये से सोचें। इस सिलसिले में संस्कृति और मुस्लिम संस्कृति के बारे में बातें करना मुद्दे से बाहर की बातें करना है।

जब हम हिंदुस्तान के लिए एक आम जुबान के सवाल पर विचार करते हैं, तब हमें एक अहम बात ध्यान में रखनी है और वह यह कि आम जुबान हिंदुस्तान की सभी भाषाओं की खिचड़ी नहीं हो सकती। हम इस तरह से कोई बनावटी जबान नहीं बना सकते और न उसे सारे हिंदुस्तान पर थोप ही सकते हैं। ऐसी जुबान नहीं चल सकती, जिस तरह एस्पेरेंटो और बोलापक नहीं चल सकीं। हिंदुस्तानी क्या है, इस सवाल को, हिंदुस्तान के उन लोगों के हवाले से तय नहीं किया जा सकता जो हिंदुस्तानी नहीं बोलते हैं, जैसे दक्खिनी हिंदुस्तान के लोग। हम हिंदुस्तानी का स्वरूप सिर्फ उत्तरी हिंदुस्तान का ख्याल कर और हिंदी और उर्दू के मुख्तलिफ रूपों में से एक आम जबान तैयार कर हिंदुस्तानी का स्वरूप निश्चित कर सकते हैं। विकास की इस प्रक्रिया में हिंदुस्तान की दूसरी भाषाओं को मिलाकर विचार करने से नाकामयाबी ही हाथ आयेगी।

हम इस बात को ध्यान में रखने के साथ साथ उत्तर की इस स्टैंडर्ड हिंदुस्तानी और हिंदुस्तान की दीगर प्रमुख जुबानों में आपस में एक समान शब्द और संबंध सूत्र के खोजने

की कोशिश कर सकते हैं। इससे हिंदुस्तान के मुख्तलिफ हिस्सों में हिंदुस्तानी के अध्ययन में मदद मिलेगी।

यह खत बेहद लंबा हो गया है। यह किसी कदर बेसिलसिले भी है।...एक बात और। इस सिलसिले में मुस्लिम संस्कृति और हिंदू संस्कृति की बात से मुझे अचरज होता है।

इससे पता चलता है कि आज के हालात और ताकतों के बारे में कोई समझ ही नहीं है। इस बारे में मैंने अपनी आटोबायोग्राफी में कुछ लिखा है। शायद तुमने इसे पढ़ा होगा। इसके पहले मैंने संस्कृति के बारे में सर मुहम्मद इकबाल से कुछ सवाल किये थे। अभी तक मुझे अपने सवालों के जवाब नहीं मिले हैं। अगर तुम या कोई दूसरे साहब मुझे उनका जवाब दे दें तो मुझे खुशी होगी। मुझे लगता है कि वे इन सवालों पर बड़े ही छिछले ढंग से सोचते हैं। इस तरह सोचने को बढ़ावा बिल्कुल नहीं मिलना चाहिए।

दुनिया में तरह तरह की राष्ट्रीय संस्कृतियां हैं। इनमें से बहुत-सी संस्कृतियों पर मजहबों का असर पड़ा है। लेकिन बुनियादी तौर पर वे राष्ट्रीय संस्कृतियां ही रही हैं। जैसे जैसे वक्त बीतता गया, वैसे वैसे हर राष्ट्रीय संस्कृति अपने आसपास की संस्कृतियों पर असर डालती रही है। इस तरह हम बहुत-से मुल्कों में मिली-जुली संस्कृति देखते हैं। हिंदुस्तान की संस्कृति बड़ी ही शक्तिशाली थी, लेकिन उस पर दूसरी संस्कृतियों का जोरदार प्रभाव पड़ा है। मैं इन मुख्तलिफ प्रवृत्तियों को हिंदू या मुस्लिम नहीं मानता। असल में ये मिली-जुली विरासत का हिस्सा हैं और इन पर आज उन सांस्कृतिक या अन्य प्रवृत्तियों का असर पड़ रहा है, जो पश्चिम की वैज्ञानिक सभ्यता से पैदा हो रही हैं। इंग्लैंड के बादशाह के सारे घोड़े और उसके सारे सवार उन ताकतों को फैलने से नहीं रोक सकते, जो हिंदुस्तान में राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक एकता ला रही हैं। बेशक यह प्रवृत्ति सारी दुनिया में देखी जा सकती है। बड़ी बड़ी लड़ाइयों और संघर्ष के बावजूद विश्व संस्कृति का विकास हो रहा है। यह संस्कृति राष्ट्रीय संस्कृतियों को खत्म नहीं करेगी, उनका मानकीकरण भी नहीं करेगी, बल्कि उनको समान सूत्रों से आपस में बांध देगी और फिर भी उनकी अनंत रूपता को बनाये रखेगी। हिंदुस्तान में लाजिमी तौर पर हमारा मकसद राजनीतिक और दूसरे तरीकों से एक संयुक्त राष्ट्र का निर्माण करना होना चाहिए, जिसमें परस्पर सुदृढ़ सांस्कृतिक संबंधों के साथ साथ मुख्तलिफ सांस्कृतिक रूपों के विकास के बारे में पूरी सहनशीलता होगी। बेशक इन विविध रूपों को प्रोत्साहन और सहायता मिलनी ही चाहिए। हम हिंदुस्तान में नीरस एकरूपता नहीं, बल्कि समृद्ध जीवनी शक्ति से छलकता व्यापक और विविधतापूर्ण जीवन चाहते हैं। इसके अलावा हमें एक सामान्य विश्व संस्कृति और विश्व व्यवस्था के लिए काम करना चाहिए। क्योंकि इस वक्त दुनिया भर में जो अव्यवस्था और उथल-पुथल मची हुई है, उससे निकलने का सिर्फ यही एक रास्ता है...।

मुस्लिम लीग, हिंदू महासभा और आजादी की लड़ाई

मैं आपका ध्यान पाकिस्तान के बारे में मुस्लिम लीग की मांग और आल इंडिया हिंदू महासभा के प्रेसीडेंट डा. श्यामा प्रसाद मुकर्जी की हाल की एक तकरीर की ओर दिलाता हूं। मैं पूछता हूं कि मुल्क की आजादी के लिए इन दोनों सांप्रदायिक संस्थाओं ने कुल मिलाकर क्या त्याग किये? इनके काम पर नजर डालिए तो पता चलेगा कि कांग्रेस की आलोचना और धर्म या मजहब के नाम पर जनता का शोषण करने के सिवा और कुछ नहीं किया। इन संस्थाओं ने असली लड़ाई में कभी भी हिस्सा नहीं लिया, जिससे कि इनकी असली कीमत का पता चलता। मैं पूछता हूं कि हिंदू महासभा और मुस्लिम लीग ने कौन कौन से आंदोलन छेड़े?...

मैं सांप्रदायिक संस्थाओं के लीडरों से सिर्फ एक सवाल पूछता हूं। उन्होंने हिंदुस्तान की आजादी की लड़ाई में पिछले पच्चीस बरसों में, खासतौर से पिछले तीन सालों में, क्या काम किया? मैं आपको बताता हूं, इन संस्थाओं ने खास कर पिछली लड़ाई में, जब कि सारा मुल्क ब्रिटिश राज के खिलाफ उठ खड़ा हुआ था, कोई भी हिस्सा नहीं लिया..

मुल्क की इस लड़ाई में हिंदू और मुसलमान, दोनों ने मुसीबतें झेलीं। हमारे मुल्क के इतिहास में एक बहुत बड़ी घटना थी। जब सारा मुल्क एक साथ उठ खड़ा हुआ जैसे दरिया में बाढ़ आ गयी हो। उस वक्त मुल्क में लोगों के दिलो-दिमाग में कोई बात थी तो वह मुल्क की आजादी थी, कोई दूसरी बात नहीं थी।

सांप्रदायिक संस्थाएं, चाहे वह हिंदू महासभा हो या मुस्लिम लीग, मुल्क की आजादी के सवाल को दोयम समझते हैं। इसमें कोई शक नहीं, कोई भी शख्स यह नहीं कहेगा कि वह स्वराज नहीं चाहता, लेकिन ये सांप्रदायिक संस्थाएं स्वराज के प्रश्न को कुछ और बातों से जोड़ देती हैं। वह मुल्क की आजादी के रास्ते में अगर-मगर करती हैं...।

मुस्लिम लीग और हिंदू महासभा ब्रिटिश राज के मोहरे हैं और ये संस्थाएं मुल्क की आजादी नहीं चाहतीं। इन्होंने सरकार से इतना तक कहा कि कांग्रेस के लीडरों को जेलों से तब तक नहीं छोड़ना चाहिए, जब तक कि वे अगस्त के (भारत छोड़ो) रिजोल्यूशन को इंकार नहीं कर दें।

मुल्क में अगस्त, 1945 से फरवरी, 1946 तक जगह जगह दिये गये भाषणों के बारे में अखबारों में छपी रिपोर्टों से। *सेलेक्टेड वर्क्स,* वाल्यूम 14, पृ. 159-60, 222, 227, 249, 268-69, 322 से संकलित

जब तक स्वराज नहीं होता, तब तक हम गरीब और मुसीबत में रहेंगे। कांग्रेस, जो स्वराज हासिल करने जा रही है, आज ताकतवर है क्योंकि गरीबों ने, पददलितों ने और कमजोर से कमजोर तबके के लोगों ने उसे अपना सहारा दिया है।

यह स्वराज कोई हिंदू या मुस्लिम राज नहीं होगा, बल्कि यह राज जात-पांत, बिरादरी, या समाज के भेदभाव के बिना सभी के लिए होगा। काला बाजार करने वालों और मुनाफाखोरों ने अपनी अपनी तिजोरियां भर लीं, जब कि पैंतीस लाख लोग भूख से तड़प कर मर गये। मजदूरों की हालत तो और भी बदतर है। यह सब इसलिए होता है कि हम आजाद नहीं हैं।

ब्रिटिश सरकार लोगों में फूट डालकर राज करना चाहती है। इस चाल को नाकाम करने के लिए हम लोगों को एक हो जाना चाहिए। हिंदू महासभा या मुस्लिम लीग गरीबों के लिए नहीं है।

हर एक को अपना धर्म या मजहब मानने की पूरी छूट है। लेकिन जब लोग भूखे हों और भूख से मर जाते हों, तब धर्म या मजहब का सवाल ही नहीं उठता। सारा सवाल तो आर्थिक है।

ये नारे लगाना बेवकूफी है कि हिंदू धर्म खतरे में है या इस्लाम खतरे में है। इन नारों के कोई मायने नहीं। हिंदू धर्म और इस्लाम महान संस्थाएं हैं। इन्हें नारे लगाकर खत्म नहीं किया जा सकता। यह अजीब-सी बात है कि हिंदू महासभा जोर-शोर से कांग्रेस को बुरा-भला कहती है और उस पर लीग से सांठ-गांठ करने का आरोप लगाती है। लेकिन मंत्रिमंडल बनाने में यह खुद एक बार लीग का साथ दे चुकी है। ये दोनों हिंदुस्तान की गुलामी और ब्रिटिश राज को यहां हमेशा बनाये रखना चाहती हैं। ये ब्रिटिश हुकूमत के दरवाजे से झांकती हैं। लेकिन ब्रिटिश हुकूमत तो जल्दी ही खत्म हो जायेगी। तब ये किसके दरवाजे झांकेगीं?

भूख, तंगी और बीमारी के माहौल में क्या सांप्रदायिक मसले उठाना ठीक है? जब हम अपने नष्ट-भ्रष्ट किये गये मुल्क को फिर से बनाने की कोशिश कर रहे हैं, तब हम क्या यह विचार करें कि इसमें कितने हिंदू इंजीनियर होंगे और कितने मुसलमान या हम उन इंजीनियरों को काम पर लगायें, जो होशियारी के साथ काम करेंगे, चाहे वह मुसलमान या हिंदू या ईसाई या हिंदुस्तान में किसी और कौम के ही क्यों न हों? हमें हिंदुस्तान के मसले पर इस नजरिये से सोचना है। आज हमारी मुख्य समस्या आजादी हासिल करना और मुल्क को नये सिरे से बनाना है। क्या मुस्लिम लीग या हिंदू महासभा इन समस्याओं से निपट सकती है? यह सोचकर मुझे ताज्जुब होता है कि ये मसले इनके प्रोग्राम में कहीं भी शामिल नहीं हैं....। ये संस्थाएं बड़ी आसानी से आपस में फूट के बीज बो सकती हैं, लेकिन मैं उन्हें आगाह करता हूं कि इसके नतीजे सारे हिंदुस्तान के लिए तबाही लाने वाले

होंगे....।

यह समस्या कोई हिंदू या मुस्लिम समस्या नहीं है, जैसा कि लीग या महासभा के लोग कहते हैं। इनके लिए सारी समस्या जमींदारी या ताल्लुकदारी का बचाव करने की है।

कांग्रेस को जो भी वोट दिया जायेगा, उसका मतलब मुल्क की आजादी के लिए वोट देना है। मैं आप सबको आगाह करता हूं कि मुस्लिम लीग, हिंदू महासभा और इसी तरह दूसरी संस्थाएं बराबर कांग्रेस के रास्ते में अड़चनें पैदा करती रही हैं और वोट पाने के लिए प्रचार करती रही हैं, जिसका मकसद घुमा-फिराकर ब्रिटिश हुकूमत को बनाये रखना है।

मैं चाहता हूं कि हिंदुओं और मुसलमानों में आपस में सहयोग की भावना हो, अनुशासन हो और एकता हो। तभी हिंदुस्तान के लोग आजादी हासिल कर सकेंगे। स्वराज और विदेशी हुकूमत, इन दोनों के बीच कोई रास्ता नहीं है। या तो यह ब्रिटेन की विदेशी हुकूमत हिंदुस्तान को छोड़ देगी या फिर हम खत्म हो जायेंगे। मुझे यकीन नहीं होता कि अंग्रेज हिंदुस्तान को खुशी खुशी या समझदारी का काम समझकर आजादी देंगे। यह काम तो आम जनता को करना है, उसे अंग्रेजों से जबरदस्ती ताकत हासिल करनी है...।

मुझे अफसोस है कि हिंदू महासभा और मुस्लिम लीग सांप्रदायिकता की बातें, एक-दूसरे को बुरा-भला कहकर दुश्मनी और तबाही के बीज को बो रही हैं। इसलिए मैं हिंदुओं और मुसलमानों सभी से अपील करता हूं कि वे आपस में एक हों और जल्दी से जल्दी अपनी ताकत को बढ़ायें। हजारों बरसों से हिंदू और मुसलमान साथ साथ रहते आये हैं और वे आगे भी साथ साथ रहेंगे। इसलिए आपस में भाईचारे के रिश्ते को मजबूत करना सबसे अहम बात है।

5

अंतर्राष्ट्रीय मंच

कांग्रेस ने विदेश नीति बनायी

हिंदुस्तान की और राजनैतिक संस्थाओं की तरह कांग्रेस भी बहुत अरसे तक मुल्क की अंदरूनी राजनीति में फंसी रही और उसने विदेशों में हो रही घटनाओं पर कोई ध्यान नहीं दिया। सन 1920 के दशक से इसने विदेशी मामलों में कुछ रुचि लेनी शुरू की। सोशलिस्टों और कम्युनिस्टों के छोटे छोटे ग्रुपों को छोड़ किसी भी संस्था ने इस बारे में कोई दिलचस्पी जाहिर नहीं की। मुस्लिम सरकारों की दिलचस्पी फिलिस्तीन में थी और ये संस्थाएं कभी कभी वहां के मुसलमान अरबों के लिए हमदर्दी का प्रस्ताव पास किया करती थीं। ये संस्थाएं तुर्की, मिस्र और ईरान की राष्ट्रीय कार्रवाइयों से प्रभावित तो थीं, लेकिन इन्हें शक भी था, जो इस वजह से था कि यह राष्ट्रीयता गैर-मजहबी थी और इस कारण वहां कुछ ऐसे सुधार हो रहे थे, जो इस्लामी परंपरा के बारे में उनकी समझ से मेल नहीं खाते थे। धीरे धीरे कांग्रेस की विदेश नीति बनी, जिसकी बुनियाद सभी जगह से राजनैतिक और आर्थिक साम्राज्यवाद को मिटाने और आजाद राष्ट्रों का सहयोग थी। यह हिंदुस्तान की आजादी की मांग से मेल खाती थी। सन 1920 में ही कांग्रेस ने विदेश नीति पर एक प्रस्ताव पास किया, जिसमें दूसरे देशों के साथ खासतौर से दोस्ती का रिश्ता पैदा करने पर जोर दिया गया। दूसरी बड़ी लड़ाई की संभावना पर बाद में विचार किया गया। इस सिलसिले में कांग्रेस ने दूसरे महायुद्ध के शुरू होने के बारह बरस पहले सन 1927 में पहली बार अपनी नीति जाहिर की।

यह बात हिटलर के ताकत में आने के पांच या छह बरस पहले और मंचूरिया पर जापानियों का हमला शुरू होने के पहले हुई। मुसोलिनी इटली में अपनी जड़ें मजबूत कर रहा था, लेकिन उस वक्त दुनिया में शांति को उससे कोई भारी खतरा नहीं मालूम होता था। फासिस्टी इटली के इंग्लैंड के साथ दोस्ताना ताल्लुकात थे और ब्रिटेन के राजनीतिज्ञ इटली के तानाशाह की तारीफ करते थे। यूरोप में छोटे छोटे कई तानाशाह थे और आमतौर पर इनके भी इंग्लैंड से दोस्ताना संबंध थे।...

इधर दुनिया की स्थिति बिगड़कर एक भीषण संघर्ष की ओर जा रही थी, जिसमें इंग्लैंड और फ्रांस यूरोपीय राष्ट्रों के गुट के अगुआ थे और दूसरी तरफ सोवियत रूस था, जिसके साथ पूरब के कुछ राष्ट्र थे। संयुक्त राज्य अमेरिका इन दोनों गुटों से अलहदा था।

दि डिस्कवरी आफ इंडिया, पृ. 441-47 से

वह रूस से तो इसलिए अलग था कि उसे कम्युनिज्म से बेहद नफरत थी और ब्रिटिश गुट से इसलिए कि एक ओर तो उसे ब्रिटिश नीति पर विश्वास नहीं था और दूसरे वह ब्रिटिश पूंजी, उद्योग-धंधों का प्रतिद्वंदी था। लेकिन इसके अलावा सबसे बड़ी वजह थी खुद अमरीका की अलग रहने की प्रवृत्ति और यूरोप के मुल्कों के आपसी झगड़ों में फंसने का डर।

ऐसी हालत में हिंदुस्तान का जनमत लाजिमी तौर पर सोवियत रूस और पूरब के राष्ट्रों की तरफ था। इसके यह मानी नहीं कि साम्यवाद को सभी ने आमतौर पर मंजूर कर लिया था, हालांकि यह बात भी सच है कि बहुत-से लोगों का झुकाव समाजवादी विचारधारा की तरफ था। चीनी क्रांति की कामयाबी पर बड़े जोश से खुशियां मनायी गयीं और इसे हिंदुस्तान की आजादी और एशिया से यूरोप की हुकूमत के मिटने का सूचक माना गया। ईस्ट इंडीज (इंडोनेशिया), हिंद और चीन के साथ साथ एशिया के पश्चिमी मुल्कों और मिस्र के राष्ट्रीय आंदोलनों में भी हमारी दिलचस्पी बढ़ी। सिंगापुर को एक बहुत बड़ा समुद्री अड्डा बनाना और सीलोन में ट्रिनकोमाली को बड़ा बंदरगाह बनाना, इन दोनों ही बातों को आगे छिड़ने वाली लड़ाई की आम तैयारी का एक हिस्सा समझा गया—उस लड़ाई का, जिसमें ब्रिटेन अपनी साम्राज्यवादी स्थिति को ज्यादा मजबूत और पक्का बनाने की कोशिश करेगा और सोवियत रूस और पूरब के मुल्कों में उठते हुए राष्ट्रीय आंदोलन को कुचल डालेगा।

इस पृष्ठभूमि में, सन 1927 में कांग्रेस ने अपनी विदेशी नीति बनानी शुरू की। उसने घोषणा की कि हिंदुस्तान किसी भी साम्राज्यवादी लड़ाई में साथ नहीं देगा और किसी भी हालत में उसे अपनी जनता की राय लिये बगैर किसी भी लड़ाई में हिस्सा लेने के लिए मजबूर नहीं किया जाना चाहिए। बाद के बरसों में यह योजना अक्सर दुहराई गयी और उसी के मुताबिक चारों तरफ जोरों से प्रचार किया गया। यह घोषणा कांग्रेस की नीति की और बाद में जैसा आमतौर पर माना गया, यह हिंदुस्तान की नीति की भी बुनियाद बन गयी। हिंदुस्तान में किसी भी आदमी या संगठन ने इसका विरोध नहीं किया।

इसी दौरान यूरोप में भी हालत बदल रही थी और हिटलर और नात्सीवाद का उदय हो चुका था। इन तब्दीलियों के खिलाफ कांग्रेस ने तुरंत अपनी प्रतिक्रिया जाहिर की और उनको बुरा कहा क्योंकि हिटलर और उसका सिद्धांत साम्राज्यवाद और जातिवाद का जीता-जागता नमूना और गढ़ सरिका लगा, जिसके खिलाफ कांग्रेस लड़ रही थी। मंचूरिया में जापानी हमले ने तो इस प्रतिक्रिया को और भी जोरदार बना दिया क्योंकि चीन के साथ हमदर्दी थी। अबीसीनिया, स्पेन, चीन, जापान युद्ध, चेकोस्लोवाकिया और म्यूनिख की घटनाओं ने इस भावना को और भी मजबूत कर दिया और आने वाली लड़ाई के बारे में वातावरण गर्म हो उठा।

हिटलर के ताकत में आने के पहले जिस लड़ाई का अनुमान किया जा रहा था, उसकी बनिस्बत यह लड़ाई कुछ दूसरे ढंग की थी। हालांकि ब्रिटिश नीति लगातार फासीवाद और नात्सियों की तरफ थी और यह यकीन करना भी मुश्किल था कि यह नीति एक ही रात में अचानक बदल जायेगी और आजादी और लोकतंत्र की हिमायत करने लगेगी क्योंकि यकीनन उसका खास साम्राज्यवादी नजरिया और साम्राज्य को बनाये रखने की उसकी इच्छा में से दोनों ही बातें, चाहे कुछ भी हो, बराबर बनी रहेंगी। यह भी यकीन था कि रूस और उन सिद्धांतों के खिलाफ, जिनकी वह नुमाइंदगी करता है, उसकी मुखालफत बनी रहेगी। लेकिन यह बात दिन-ब-दिन साफ होती गयी कि खुश करने की हर कोशिश के बावजूद हिटलर यूरोप की सबसे बड़ी ताकत बनता जा रहा है। वह पुराने संतुलन को उलट-पलट रहा है और ब्रिटिश साम्राज्य के उन हितों के लिए संकट बन गया है, जिन पर उसकी बुनियाद टिकी हुई है। इंग्लैंड और जर्मनी के बीच अब लड़ाई की संभावना पैदा हो गयी और अगर यह लड़ाई हुई तो हमारी नीति क्या होगी? हम अपनी नीति के दो बुनियादी पहलुओं में कैसे मेल बिठा सकेंगे—यानी ब्रिटिश साम्राज्यवाद का विरोध और नात्सी और फासिस्ट विचारधारा का विरोध? हम किस तरह अपनी राष्ट्रीयता और अपनी अंतर्राष्ट्रीयता को साथ साथ रख सकेंगे? उस वक्त की हालत में हमारे लिए यह एक मुश्किल सवाल था, लेकिन अगर ब्रिटिश सरकार हमारे को यह यकीन दिलाने के लिए कोई ऐसा कदम उठाती है कि उसने हिंदुस्तान में अपनी साम्राज्यवादी नीति को खत्म कर दिया है और वह जनता के सहयोग पर निर्भर है तो यह सवाल मुश्किल भी नहीं था।

अंतर्राष्ट्रीयता यकीनन सिर्फ आजाद मुल्क में ही पनप सकती है। उसकी वजह यह है कि किसी भी गुलाम देश का सारा ध्यान और उसकी सारी ताकत अपने लिए आजादी पाने की कोशिश में लगी रहती है। गुलामी उस जहरवाद की तरह है, जो हमारे बदन को तंदरुस्त होने से ही नहीं रोकता, बल्कि जो दिमाग को बराबर बेचैन किये रखता है और जिसका असर हर विचार और काम पर पड़ता है। एक का दूसरे से टकराव इसकी जड़ है। इस टकराव की वजह से सारा दिमाग झगड़ने पर लग जाता है और बड़े बड़े सवालों पर सोच-विचार करना रुक जाता है। बरसों की लड़ाई और दुख-तकलीफें हर इंसान और मुल्क के दिमाग में घर कर जाती हैं। एक चिड़चिड़ापन पैदा हो जाता है, एक जिद्द-सी पड़ जाती है और जब तक बुनियादी वजह को हटा नहीं दिया जाये, तब तक वह मिट नहीं सकती। और उस वक्त भी जब गुलामी की भावना चली गयी हो, घाव धीरे धीरे ही भरता है क्योंकि बदन पर लगी चोटों के मुकाबले दिमाग की चोटों के ठीक होने में ज्यादा वक्त लगता है।

बहुत अरसे से हिंदुस्तान की यह पृष्ठभूमि थी, लेकिन गांधी जी ने हमारे राष्ट्रीय आंदोलन को एक नया मोड़ दिया और उससे नाउम्मीदी और कड़वेपन की भावना कम

हो गयी। ये भावनाएं बनी रहीं, लेकिन जहां तक मेरा ख्याल है, और किसी राष्ट्रीय आंदोलन में इतनी कम नफरत की भावनाएं नहीं रहीं। गांधी जी कट्टर राष्ट्रवादी थे, लेकिन साथ ही साथ उन्होंने महसूस किया कि उनके पास जो संदेश था, वह सिर्फ हिंदुस्तान के लिए ही नहीं, बल्कि सारी दुनिया के लिए था, वह दिल से सारी दुनिया में शांति चाहते थे। इसी वजह से उनकी राष्ट्रीयता में दुनिया भर का ख्याल था और उसमें किसी दूसरे पर हमला करने की कोई बू नहीं थी। हिंदुस्तान की आजादी चाहते हुए वे यह विश्वास करने लग गये थे कि दुनिया में आजाद मुल्कों का एक संघ ही सही लक्ष्य है। उन्होंने कहा था, 'राष्ट्रीयता के बारे में मेरी कल्पना यह है कि मेरा मुल्क आजाद हो, लेकिन जरूरत पड़ने पर यह मिट भी सकता है, जिससे मानव जाति बनी रह सके। यहां जातिगत विद्वेष के लिए कोई स्थान नहीं है।' उन्होंने आगे कहा था, 'मैं तो सारी दुनिया को ध्यान में रखकर सोचता हूं। मेरी देशभक्ति की धारणा में मानव-मात्र के हित का उद्देश्य भी शामिल है। जब मैं हिंदुस्तान की सेवा की चर्चा करता हूं तो इसी वजह से उसमें मानव-मात्र की सेवा की भावना भी शामिल है...'

ताज्जुब होता है कि कट्टर देशभक्ति की भावना के बावजूद हममें किस तरह अंतर्राष्ट्रीयता की भावना आ गयी। किसी भी गुलाम मुल्क के किसी भी राष्ट्रीय आंदोलन में यह भावना नहीं आ सकी और इन मुल्कों के राष्ट्रीय आंदोलनों में आमतौर पर अंतर्राष्ट्रीय जिम्मेदारी से दूर रहने की भावना काम करती रही। हिंदुस्तान में भी ऐसे लोग थे, जिन्होंने गणतंत्री स्पेन, चीन, अबीसीनिया और चेकोस्लोवाकिया की ओर हमारी तरफदारी करने पर नाराजगी जाहिर की। उनका कहना था कि इटली, जर्मनी और जापान जैसे ताकतवर मुल्कों से क्यों दुश्मनी की जाये? ब्रिटेन के हर दुश्मन को दोस्त समझा जाये, राजनीति में आदर्शवाद के लिए कोई जगह नहीं है, राजनीति का ताल्लुक ताकत और मौका पड़ने पर उस ताकत से फायदा उठाने से है। लेकिन कांग्रेस ने जनता में जो विचार भर दिये थे, उनकी वजह से इन विरोधियों के हौसले ढीले पड़ गये और उन्होंने जनता में खुले तौर पर अपने ख्यालों को कभी नहीं रखा। मुस्लिम लीग बराबर होशियारी के साथ चुप रही और ऐसे अंतर्राष्ट्रीय मामलों पर उसने कभी कोई जिम्मेदारी नहीं ली।

सन 1938 में कांग्रेस ने एक डाक्टरी जत्था और डाक्टरी सामान चीन में मदद के लिए भेजा। इस जत्थे ने अनेक वर्षों तक वहां अच्छा काम किया। जिस वक्त इस जत्थे का गठन किया जा रहा था, सुभाष बोस कांग्रेस के सभापति थे। उन्होंने कांग्रेस की ऐसी किसी कार्रवाई का अनुमोदन नहीं किया, जो जापान या जर्मनी या इटली के खिलाफ पड़ती हो। कांग्रेस में और सारे मुल्क में इतना जोश था कि उन्होंने इस कार्रवाई की और बहुत-सी और कार्रवाइयों की खिलाफत नहीं की, जो कांग्रेस ने चीन की हमदर्दी में और फासिस्टों और नाजियों के हमले में शिकार हुए लोगों की हमदर्दी में की। हमने बहुत-से ऐसे प्रस्ताव

पास किये और बहुत-से ऐसे प्रदर्शन किये जिनका उन्होंने अपने सभापतित्व काल में अनुमोदन नहीं किया, लेकिन चूंकि उन्हें इन कार्रवाइयों के पीछे काम कर रही भावनाओं की ताकत का अहसास था, इसलिए उन्होंने इन सब बातों को बिना किसी विरोध के मान लिया...।

हिंदुस्तान की आजादी दुनिया के लिए जरूरी

आपकी इस कांफ्रेंस को इंडियन नेशनल कांग्रेस की शुभकामनाएं देते और साम्राज्यवाद के खिलाफ इस संयुक्त मोर्चे में अपने राष्ट्रीय आंदोलन को शामिल करते हुए मुझे बेहद खुशी हो रही है। हिंदुस्तान में हम साम्राज्यवाद का बोझ महसूस कर रहे हैं। बेशक हम अच्छी तरह जानते हैं कि साम्राज्यवाद के क्या मानी होते हैं। इसलिए जो भी आंदोलन साम्राज्यवाद के बारे में होता है, हमारी उसमें पूरी दिलचस्पी है। अगर साम्राज्यवाद के नतीजों को देखने के लिए कोई जीती-जागती मिसाल चाहते हैं, तो आपको हिंदुस्तान से बढ़कर शायद ही कोई दूसरी मिसाल मिले। हिंदुस्तान में, जैसा कि हमारे सदर साहब ने बताया, आप वह सब कुछ देखते हैं जिस तरह ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने मजदूरों को कुचला है और उनका शोषण किया है। आप साम्राज्यवाद का जो भी दौर देखना चाहें, आपको हिंदुस्तान में उस सब की बेजोड़ मिसालें मिल जायेंगी। हमारी समस्याओं का गहरा ताल्लुक बेशक इसी से है, लेकिन मैं आपको यह बताना चाहता हूं कि आप चाहे चीन से आये हों या इजिप्ट या दूर के किसी दूसरे मुल्क से आये हों, हमारी समस्याएं एक हैं। हिंदुस्तान की समस्या का ताल्लुक आपसे भी है और यह आपके लिए भी अहमियत रखती है।

यहां मेरे लिए हिंदुस्तान के शोषण के बारे में तफसील से बताना मुमकिन नहीं कि किस तरह दूसरे लोग हिंदुस्तान का इस्तेमाल कर रहे हैं, उसे कुचला जा रहा है और उसका शोषण हो रहा है। यह एक लंबी दुखों भरी कहानी है। यहां मैं जो कुछ कह सकता हूं, वह यह कि आपके सामने चंद एक बातें पेश करूं जिन पर हमें इस इंटरनेशनल कांफ्रेंस में अपने ध्यान में रखना है। यह इसलिए कि इनका उस काम से गहरा ताल्लुक है, जो हमें पूरा करना है। आपने आंदोलनों, हत्याकांड और गोलीकांड की बहुत-सी घटनाओं के बारे में सुना होगा। आप में से सभी ने अमृतसर कांड के बारे में भी सुना होगा। आप

---

10 फरवरी, 1927 को ब्रसेल्स में 'कांग्रेस आफ आप्रेस्ट नेशन्स' में दिये गये भाषण से। *सेलेक्टेड वर्क्स,* वाल्यूम 2, पृ. 272-76। जवाहरलाल नेहरू 1927 में लगभग पूरे साल यूरोप में रहे। उन्होंने कांग्रेस आफ आप्रेस्ट नेशन्स में इंडियन नेशनल कांग्रेस का प्रतिनिधित्व किया। इसमें एशिया और अफ्रीका के मुख्तलिफ मुल्कों और मेक्सिको में चल रहे मुक्ति आंदोलनों के नेताओं ने, यूरोप में चल रहे श्रमिक और सोशलिस्ट आंदोलनों के प्रतिनिधियों और बहुत से प्रमुख व्यक्तियों ने भाग लिया था। इसी कांग्रेस में लीग अगेनट इंपीरियलिज्म की स्थापना हुई थी। हिंदुस्तान लौटने से पहले जवाहरलाल नेहरू अक्तूबर क्रांति की दसवीं वर्षगांठ के मौके पर नवंबर में यूएसएसआर भी गये।

यह मत समझें कि हिंदुस्तान के इतिहास में जब से अंग्रेज यहां आये, तब से यह सबसे भयंकर घटना है, इसलिए कि यह घटना दुनिया की और घटनाओं के मुकाबले में ज्यादा मशहूर है। आप जानते हैं कि वह जब यहां आये, तब उन्होंने पहले एक पक्ष का और बाद में दूसरे पक्ष का साथ दिया। इस तरह उन्होंने यहां पैर जमाये। वह जब से यहां आये, तभी से उन्होंने यहां 'फूट डालो और राज करो' की पालिसी अपना रखी है। मुझे अफसोस के साथ कहना पड़ रहा है कि यह पालिसी अभी भी बदस्तूर है। ठीक है, वह आये, लेकिन जब से वह आये तब से इन्होंने जो जंगली और अक्खड़ बर्ताव किया है, उसकी मिसाल सारी दुनिया के इतिहास में कहीं नहीं मिलेगी। अंग्रेज इतिहासकारों तक ने यह माना है कि इन्हें यों तो इस मामले में बिल्कुल निष्पक्ष नहीं कहा जा सकता है क्योंकि हिंदुस्तान में अंग्रेजी हुकूमत शुरू शुरू में बिल्कुल लूट-खसोट की हुकूमत थी। यह वह जमाना था, जब बेरोक लूट-पाट हुई, उन्होंने मुल्क में लूट-पाट की और उसे लूटकर रख दिया। आप उसे भी जानते हैं, जिसे हिंदुस्तानी बगावत कहा जाता है और जो 70 बरस पहले हुई थी। इसे हिंदुस्तानी बगावत कहा जाता है, लेकिन अगर तकदीर साथ दे जाती और बगावत करने वाले अपने भाषण में, मैं दरअसल में जो बता रहा था वह यह कि अमृतसर में जो कुछ हुआ, वह उसके मुकाबले कुछ भी नहीं है जो सारे हिंदुस्तान में बगावत के वक्त हुआ था, लेकिन चूंकि ऐसी घटनाएं तब से लगातार हो रही हैं और आज भी किसी को गोली से उड़ा देना एक आम बात है। यही नहीं, हमारे अनगिनत साथियों और दोस्तों को मुकदमा चलाये या चलाये बिना ही जेलों में ठूंस दिया जाना बिल्कुल ही एक आम बात हो गयी है। हिंदुस्तान में हमारे बहुत-से अच्छे साथियों की जिंदगी आमतौर पर जेल में ही बीत रही है, बहुत लोगों को चेतावनी दे दी गयी है और वे अपने मुल्क को वापस लौट नहीं सकते। हिंदुस्तान में अंग्रेजों के उस तरीके के बारे में भी आपने सुना होगा, जो नया तो नहीं, लेकिन उन्हें बहुत पसंद है, और जिसके तहत लोगों को पकड़ लिया जाता है और बिना मुकदमा चलाये, यहां तक कि कोई जुर्म लगाये बगैर ही, जेलों में बंद कर दिया जाता है। इस पर कभी कभी कुछ ध्यान दिया जाता है। लेकिन अंग्रेजों ने हिंदुस्तान में हकीकत में जो नुकसान किया है, जो शोषण किया है वह गोलीकांडों, फांसी देने की वारदातों, हत्याकांडों से कहीं ज्यादा गंभीर है, जो अक्सर अखबारों की सुर्खी बन जाते हैं। यह वह व्यवस्थित तरीका है, जिससे उन्होंने हिंदुस्तान के मजदूरों और किसानों को कुचल कर रख दिया है और हिंदुस्तान को उस हालत पर पहुंचा दिया जैसा कि हम आज देखते हैं। हमने हिंदुस्तान के इतिहास को न सिर्फ पुराने, बल्कि अभी हाल के इतिहास को भी पढ़ा है, यहां की धन-दौलत के बारे में पढ़ा है। तमाम दुनिया के कोने कोने से लोग हिंदुस्तान की धन-दौलत से खिंचकर यहां आये। लेकिन अगर आप आज हिंदुस्तान आयें, तब आपको वहां चारों तरफ बेतहाशा गरीबी ही गरीबी दिखाई देगी...।

शायद आपको मालूम होगा कि बरसों पहले अंग्रेजों ने यहां आने के फौरन बाद अपने फायदे के लिए यहां के उद्योग-धंधों को किस बेरहमी से कुचला। उन दिनों हिंदुस्तान की जनता के सामने ट्रस्टीशिप के इस नये सिद्धांत को नहीं रखा गया था। उस वक्त हम पर जो अत्याचार किया गया, वह आज के मुकाबले ज्यादा तो नहीं था, लेकिन तब यह अत्याचार खुलकर किया जाता था। उस वक्त हिंदुस्तान के सभी उद्योगों को बेरहमी से तथा खुले आम कुचला गया। यह काफी बुरी बात थी, लेकिन बाद में तो और भी बुरी बात हुई। धीरे धीरे शिक्षा की पुरानी पद्धतियों को खत्म कर, हमें निहत्था बनाकर और सैकड़ों जुदा जुदा तरीकों से उन्होंने हिंदुस्तान की जनता की भावना को कुचला और इस बात की कोशिश की कि वह कोई भी काम करने लायक नहीं रहे, उसमें निर्माण करने की ताकत ही खत्म हो जाये। मैं कहता हूं कि हिंदुस्तान में अंग्रेजों की यह सोची-समझी पालिसी थी और वे यह पालिसी हममें फूट पैदा कर अमल में लाये। हमें निहत्था करने के बाद वे हमसे कहते हैं कि तुममें अपने मुल्क की हिफाजत करने की ताकत नहीं है। इसी तरह उन्होंने ऐसी शिक्षा पद्धति शुरू की, जिसने हमारी प्राचीन शिक्षा प्रणाली को बरबाद कर दिया और उसकी जगह ऐसी शिक्षा प्रणाली शुरू की, जो बेहद तंग और नाकाफी थी, हमें झूठा इतिहास पढ़ा कर यह सिखाने की कोशिश की कि हम अपने मुल्क को छोटा समझें और इंग्लैंड की तारीफ करें, अब वे हमसे कहते हैं कि हम आजाद मुल्क होने के लायक अच्छी तरह से शिक्षित नहीं हैं।

अब यह अक्सर कहा जाता है कि हिंदुस्तानी आपस में लड़ते रहते हैं, हिंदू मुसलमानों से लड़ते हैं, वगैरह वगैरह। अंग्रेजी अखबारों में तो इसे काफी बढ़ा-चढ़ाकर छापा जाता है। इन झगड़ों के बारे में बढ़ा-चढ़ा कर तो कहा ही जाता है, अंग्रेजों की पालिसी ही यही रही है कि इस तरह के झगड़े पैदा किये जायें या जहां वे पहले से ही हों वहां उन्हें और बढ़ाया जाये और जहां उन्हें आसानी से दबाया जा सकता हो, वहां भी उन्हें हर चंद तरीके बनाये रखा जाये। हमें यह भी याद रखना चाहिए कि इससे कितना ही क्यों न इंकार किया जाये लेकिन अंग्रेजों की पालिसी तो यही रही है। आज हिंदुस्तान की क्या हालत है? हम शोषण की बात करते हैं। हमारे यहां यह खूब है। शोषण भी एक तरह से नहीं, बल्कि दोहरे या तिहरे तरीके से। हिंदुस्तान में एक ऐसा हिस्सा है, जिसे हिंदुस्तानी रियासतें कहा जाता है। यहां अंग्रेजी हुकूमत की 'सरपरस्ती' में सामंती शासन पद्धति है। अंग्रेज अफसर हमसे इसकी चर्चा करते हैं और दूसरे मुल्कों में उसे सामने रखकर हमारे खिलाफ बताते हैं; 'देखो, हिंदुस्तान के इस हिस्से को देखो, जहां एक तरह का स्वराज है। हिंदुस्तान के बाकी हिस्से इससे ज्यादा उन्नत नहीं हैं। मैं यह मानने को तैयार हूं कि यह इल्जाम एकदम झूठा नहीं है, यह इलाके अक्सर दूसरे इलाकों से काफी पिछड़े हुए हैं, लेकिन कुछ चीजें ऐसी हैं जिन्हें बताना अंग्रेज लोग भूल जाते हैं। वे यह नहीं बताते कि खुद उन्होंने ही इन

रियासतों को तरक्की करने से रोककर खासतौर से ऐसा बना रखा है। थोड़े में कहें तो हम कहेंगे कि उन्होंने ही उन्हें ऐसा बना रखा है...।

फिर बड़े जमींदारों को लीजिए। यहां भी, हिंदुस्तान के एक बड़े हिस्से में जमीन का बंदोबस्त सामंतवादी ढंग पर है, जिसे अंग्रेजों ने चालू किया और हम पर थोप रखा है। जब तक अंग्रेज सरकार इसे बदलने के लिए तैयार नहीं हो, तब तक उसे बदलवाना बहुत ही मुश्किल है। हमें यह समझ लेना चाहिए कि हिंदुस्तान में अंग्रेजी हुकूमत की पालिसी में यहां के राजे-महाराजे और बड़े बड़े जमींदारों का साझा है, जो यह समझते हैं कि वे ऐसे आजाद हिंदुस्तान में नहीं रह सकते जिसका नतीजा यह हो कि यहां के किसान, उनके गुलाम नहीं रहे। दूसरे, इसके अलावा ब्रिटिश पूंजीपतियों की हिंदुस्तान के पूंजीपतियों के साथ सांठ-गांठ है, जो कम नापाक नहीं है। इस तरह हिंदुस्तान में हमें तरह तरह के शोषण को भुगतना पड़ता है।

और भी देखिए। पिछले चंद दशकों में हिंदुस्तान में जो घटनाएं हुई हैं, उनके इतिहास को पढ़ने से अब यह साबित हो गया है कि अंग्रेजों की पालिसी का आमतौर पर मकसद यह है कि हिंदुस्तान पर उनका कब्जा बना रहे। आखिरकार ब्रिटिश साम्राज्य के बारे में बहुत कुछ हम भी जानते हैं। थोड़ी देर के लिए यह सोचिए कि अगर हिंदुस्तान पर ब्रिटेन का कब्जा न हुआ होता तो अब तक क्या हुआ होता? उस हालत में ब्रिटिश साम्राज्य नाम की कोई चीज ही नहीं होती। मैं इसके बारे में कुछ नहीं कह सकता कि हिंदुस्तान के आजाद होने पर भविष्य में यहां क्या होगा, लेकिन यह तो तय है कि ब्रिटिश साम्राज्य नहीं रहेगा। इसलिए कुदरतन वह अपने पूंजीवादी और साम्राज्यवादी नजरिये से अपनी पूरी ताकत से सब कुछ करते हैं, जिससे हिंदुस्तान पर उनका कब्जा बना रहे। उनकी सारी विदेश नीति बहुत कुछ इसी मकसद को सामने रखकर बनी है क्योंकि ब्रिटेन के लिए हिंदुस्तान को अपने मातहत रखना और इतने बड़े इलाके पर काबिज रहना एक बड़ी अहम बात है। इसका नतीजा यह है कि हिंदुस्तान को अत्याचार बर्दाश्त करना पड़ा है और यही हो रहा है। हिंदुस्तान की वजह से बहुत-से मुल्कों को तकलीफ उठानी पड़ी है और वे अब भी तकलीफ में हैं। हिंदुस्तान में ब्रिटिश साम्राज्यवाद के नतीजे की हाल में जो मिसाल सामने आयी उसके बारे में आपने सुना ही होगा, वह है हिंदुस्तान की फौजों का चीन भेजा जाना। इंडियन नेशनल कांग्रेस की जबरदस्त मुखालफत के बावजूद उन्हें भेजा गया। मैं आपको यह भी बताऊं और मुझे यह बात शर्म के साथ कबूल करनी पड़ती है कि ब्रिटिश हुकूमत ने हिंदुस्तानी सैनिकों का इस्तेमाल कई मरतबा दूसरे मुल्कों को कुचलने के लिए किया है। जिन मुल्कों में अंग्रेजों ने हिंदुस्तान की फौजों का इस्तेमाल किया, उनके नाम आपको बताता हूं। सबसे पहले उन्हें 1840 में चीन भेजा गया, यह सिलसिला अब 1927 में भी जारी है। इन 87 बरसों में उन्होंने कई बार विदेशों में जाकर जंग लड़ीं। ये फौजें

मिस्र, अबीसीनिया, फारस की खाड़ी, मेसोपोटामिया, अरब, सीरिया, जार्जिया, तिब्बत, अफगानिस्तान और बरमा में जा चुकी हैं। यह काफी लंबी फेहरिस्त है।

मैं चाहता हूं कि आप यह बात समझें कि हिंदुस्तान की समस्या सिर्फ एक मुल्क की समस्या नहीं है, बल्कि इसका असर बहुत-से मुल्कों पर सीधा और सारी दुनिया पर अप्रत्यक्ष रीति से पड़ता है क्योंकि इसका असर हमारे इस जमाने के एक सबसे ज्यादा ताकतवर साम्राज्य पर पड़ता है। जाहिर है कि हिंदुस्तान में ऐसी हालत हमारे बर्दाश्त से बाहर की बात है। हम इस हालत में हमेशा नहीं रह सकते और सिर्फ इसलिए नहीं कि आजादी अच्छी चीज है और गुलामी एक बुरी बात है, बल्कि इसलिए कि हमारे और हमारे देश के लिए यह जिंदगी और मौत का सवाल है। यही नहीं, यह आपके लिए भी बर्दाश्त के बाहर की बात है। आप लोग भी जो यहां जुदा जुदा मुल्कों से, धरती के कोने कोने से, यहां आये हैं, अपनी आजादी पर लगे इन भारी बंधनों को बर्दाश्त नहीं कर सकते। अंग्रेजों द्वारा हिंदुस्तान का शोषण, मैं कहना चाहता हूं, उन दूसरे मुल्कों पर भी एक बोझ है, जिनको दबाया जा रहा है और जिनका शोषण किया जा रहा है। (तालियां) इसलिए आपके लिए भी यह बहुत जरूरी है कि हमें अपनी आजादी मिले। चीन के नेशनलिस्टों की खूबसूरत मिसाल ने हमारे दिलों में उम्मीद पैदा कर दी है और हम सच्चे दिल से जितनी जल्दी हो सके उनका अनुकरण करना और उनके बताये रास्ते पर चलना चाहते हैं। (देर तक तालियां) हम अपने मुल्क के लिए मुकम्मिल आजादी चाहते हैं, जो यकीनन मुल्क के भीतर की ही न हो, बल्कि जिसमें हम अपने पड़ोसियों और दूसरे मुल्कों के साथ जैसे भी संबंध रखना चाहते हों, वैसे संबंध रखने की हमें पूरी आजादी हो। हम समझते हैं कि यह कांग्रेस हमें आपस में सहयोग रखने का मौका देती है। इसलिए हम इसका स्वागत और अभिनंदन करते हैं।

हिंदुस्तान और दुनिया

यह कोई अचरज की बात नहीं है कि बार बार मुसीबतों का मुकाबला करने और अपने घरेलू झगड़ों में फंसे रहने की वजह से पश्चिम के मुल्कों के लोगों ने हिंदुस्तान के बारे में बहुत ध्यान दिया है। कुछ ऐसे लोग हो सकते हैं, जिन्हें हिंदुस्तान का पुराना रूप अच्छा लगा और वह उसकी प्राचीन संस्कृति से प्रभावित हुए हों। कुछ लोग ऐसे भी होंगे, जिन्हें आजादी के लिए लड़ाई लड़ने की वजह से यहां के लोगों के प्रति कुदरती हमदर्दी हो और कुछ लोग ऐसे भी हो सकते हैं, जिनमें एक साम्राज्यवादी देश के द्वारा यहां की महान जनता का शोषण और निर्दय हो दमन होते देख इसे भला-बुरा कहने के लिए इंसानियत के नाते जज्बा पैदा हुआ हो। लेकिन ज्यादातर लोग ऐसे हैं, जिन्हें हिंदुस्तान के बारे में बिल्कुल भी नहीं मालूम है। उनकी अपनी परेशानियां हैं, इन परेशानियों को क्यों और बढ़ाया जाये?

लेकिन सार्वजनिक कामों में दिलचस्पी रखने वाला साधारण से साधारण व्यक्ति यह जानता है कि आज की दुनिया के मसलों को अलग अलग कर नहीं रखा जा सकता, उन्हें अलग अलग कर और एक दूसरे पर गौर किये बिना सुलझाया नहीं जा सकता, वे एक-दूसरे से जा मिलते हैं और जब आखिरी विश्लेषण होता है तब वे दुनिया की समस्या बन जाते हैं, जिसके कई पहलू होते हैं। पूर्वी अफ्रीका के रेगिस्तानी और बंजर क्षेत्रों की घटनाओं की गूंज दूर दराज के दूतावासों में सुनाई पड़ने लगती है और उनका असर यूरोप पर पड़ने लगता है, पूर्वी साइबेरिया में अगर कोई गोली चलायी गयी, तब वह सारी दुनिया में आग लगा सकती है। आज यूरोप के मुल्कों को बहुत-सी मुश्किल समस्याएं परेशान किये हुए हैं, लेकिन यह मुमकिन है कि भविष्य के इतिहासकार, जिनका नजरिया और भी ज्यादा सच्चा हो, चीन और हिंदुस्तान को आज का एक सबसे ज्यादा अहम मसला बतायें और यह कहें कि दुनिया के घटनाक्रम में इन मुल्कों का ही ज्यादा असर रहा है। इसकी वजह

बेडेनबीलर में 6 जनवरी, 1936 को लिखे और बेड्रेडी, पेरिस 1936 में सर्वप्रथम प्रकाशित लेख से। *सेलेक्टेड वर्क्स,* वाल्यूम 7, पृ. 52-58 पर पुनः प्रस्तुत। जवाहरलाल नेहरू 4 सितंबर, 1935 को जेल से रिहा किये गये, ताकि वे अपनी पत्नी कमला नेहरू से मिल सकें, जो जर्मनी में बेडेनबीलर के एक अस्पताल में दाखिल थीं और जिनकी हालत चिंताजनक थी। कमला नेहरू को लूसाने ले जाया गया। यहां उनका 28 फरवरी, 1936 को देहांत हो गया

यह है कि हिंदुस्तान और चीन लाजिमी तौर पर दुनिया के मसले हैं और इनको नजरंदाज करना या उनकी अहमियत को कम करना दुनिया के मामलों के रुख के बारे में घोर अज्ञान का नमूना पेश करना और उस बुनियादी बीमारी को बिल्कुल ही नहीं समझना है, जो हम सबको अपने चपेट में लिये हुए है।

इस तरह हिंदुस्तान का मसला मौजूदा वक्त का, आज का, मसला है। उसके पुराने इतिहास की तारीफ करने या उसे कोसने से कोई खास मदद नहीं मिलती, सिवा इसके कि गुजरे हुए वक्त को समझने में मदद मिलती है। हमें यह समझना चाहिए कि अगर कोई बड़ी बात वहां होती है, तब उसका असर काफी हद तक दुनिया के अधिकांश भागों पर पड़ेगा और हममें से कोई भी उससे अछूता नहीं रह सकेगा—चाहे हम कहीं भी रहते हों, चाहे हम किसी भी मुल्क के क्यों न हों या किसी भी मुल्क से हमदर्दी क्यों न रखते हों। इसलिए हमें इस मसले पर इसी व्यापक नजरिये से गौर करना चाहिए और इसे उन मसलों से ज्यादा जरूरी समझना चाहिए, जो हमारे अपने हैं।

सभी जानते हैं कि पिछले डेढ़ सौ बरसों से हिंदुस्तान पर कब्जा होने से ब्रिटेन की विदेशी और घरेलू पालिसी पर बहुत असर पड़ा है। हिंदुस्तान की दौलत और उसका शोषण करने से इंग्लैंड को पूंजी हासिल हुई, जिसकी उसे औद्योगिक क्रांति के शुरू के दिनों में अपने उद्योगों का विकास करने के लिए जरूरत थी और उसके बाद उसके यहां तैयार हुए माल की बिक्री के लिए बाजार भी मिला। नेपोलियन के साथ की लड़ाइयों और क्रीमिया की लड़ाइयों में भी हिंदुस्तान का सहारा था। हिंदुस्तान तक जाने वाले रास्तों की हिफाजत के लिए इंग्लैंड को मिस्र और मध्यपूर्व के देशों के मामले में दखलंदाजी करनी पड़ी। लड़ाई के बाद भी शासन की यही नीति जारी रही और इंग्लैंड आज भी इन रास्तों से मजबूती के साथ चिपका हुआ है। महायुद्ध के तुरंत बाद ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना का शानदार मंजर दिखाई पड़ने लगा। लेकिन यह मंजर खासतौर से सोवियत रूस और कमाल पाशा की वजह से और फारस में रजाशाह और अफगानिस्तान में अमानुल्ला और सीरिया में फ्रांसीसी हुकूमत का फरमान कायम होने की वजह से गायब हो गया। गो कि यह शानदार सपना साकार नहीं हो सका, लेकिन फिर भी इंग्लैंड ने हिंदुस्तान तक पहुंचने वाले जमीनी रास्ते को अच्छा खासा अपने काबू में रखने में कामयाब रहा और इसी वजह से मोसुल को लेकर तुर्की के साथ उसकी ठन गयी। शासन करने की यह वही पालिसी है, जिसकी वजह से वह इथोपिया में लीग आफ नेशंस को दरकिनार कर दिया गया तब उसने नैतिक आदर्शों को लेकर इतना ज्यादा हल्ला नहीं मचाया।

आखिरकार दुनिया भर की एक ही समस्या है साम्राज्यवाद, यानी आज का आर्थिक साम्राज्यवाद। यूरोप और दूसरी जगहों पर फासिज्म का उदय एक बहुत बड़ी समस्या है। इसी तरह सोवियत रूस का उदय और उसकी बढ़ती हुई ताकत भी इस समस्या का एक

अहम पहलू है। यह एक नयी व्यवस्था का प्रतीक है, जो साम्राज्यवाद के खुद खिलाफ है। यूरोप में परस्पर में परस्पर विरोधी और फासिस्ट विरोधी मुल्कों की मोर्चाबंदी नयी व्यवस्था के खिलाफ पूंजीवाद के टकराव की ओर संकेत करती है। उसके औपनिवेशिक और गुलाम मुल्कों में यही टकराव राष्ट्रवादी आंदोलन की शक्ल अख्तियार कर लेता है, जिससे साथ साथ सामाजिक मसले उठ खड़े होते हैं, जिनका कोई अंत ही नहीं होता। ये मसले राष्ट्रवादी आंदोलन को तरह तरह का रूप देते हैं और राष्ट्रवाद को प्रभावित करते हैं। साम्राज्यवाद अपने अपने उपनिवेशों में बढ़-चढ़कर फासिस्टवादी तरीके से काम करता है।

यह स्पष्ट है कि अगर साम्राज्यवादी खेमें में कहीं कोई दरार पड़ती है, तब उसका सारी दुनिया पर असर पड़ता है। यूरोप में या कहीं भी फासिज्म की जीत होती है तो उससे साम्राज्यवाद को ताकत मिलती है और उसका सब जगह असर पड़ता है। उसमें कोई रुकावट पड़ती है, तब साम्राज्यवाद कमजोर होता है। इसी तरह किसी औपनिवेशिक या गुलाम मुल्क में आजादी के आंदोलन की जीत होने से साम्राज्यवाद और फासिज्म को धक्का लगता है। इसलिए यह समझना आसान है कि हिंदुस्तान के राष्ट्रवाद को लेकर नात्सी नेता क्यों नाराज हैं और हिंदुस्तान में ब्रिटिश हुकूमत के बने रहने की हिमायत क्यों करते हैं। अगर इस मसले के बुनियादी पहलू पर गौर किया जाये तो यह बहुत आसान है, लेकिन दुनिया की जुदा जुदा ताकतों की पेंचदार चालों की वजह यह कभी कभी बहुत पेचीदा हो जाता है, जैसे जब दो साम्राज्यवादी ताकतों का एक-दूसरे से आमना-सामना होता है, तब हर ताकत दूसरी ताकत के गुलाम मुल्कों की राष्ट्रवादी या फासिस्ट विरोधी भावनाओं से भरपूर फायदा उठाना चाहती है। इन झंझटों से छुटकारा पाने का एक ही तरीका है कि बुनियादी पहलू पर विचार किया जाये और अस्थायी लाभ के लिए मौकापरस्ती के चक्कर में न पड़ा जाये। नहीं तो आगे चलकर यह अस्थायी लाभ एक बहुत बड़ा नुकसान का कारण साबित होगा और बाद में बोझ भी बन जायेगा।

इतिहास के नजरिये और अपनी अहमियत की वजह से भी हिंदुस्तान आधुनिक साम्राज्यवाद के लिए एक बहुत ही आदर्श राष्ट्र रहा है। हिंदुस्तान को साम्राज्यवाद जिस तरह अपने शिंकजे में पकड़े हुए है, उसमें थोड़ी-सी भी ढील आने से दुनिया पर बहुत दूरगामी असर पड़ेगा—दुनिया में ग्रेट ब्रिटेन की हैसियत में जबरदस्त फर्क पड़ जायेगा और इससे बाकी औपनिवेशिक मुल्कों में आजादी के लिए चल रहे आंदोलनों को बहुत ताकत मिलेगी और इस तरह बाकी साम्राज्यवादी ताकतें भी हिल जायेंगी। आजाद हिंदुस्तान लाजिमी तौर पर अंतर्राष्ट्रीय मामलों में बढ़-चढ़कर हिस्सा लेने लगेगा और यह कार्यवाही विश्व शांति के लिए साम्राज्यवाद तथा उसकी तमाम शाखों के खिलाफ होगी...।

हिंदुस्तान कब आजाद होगा? भविष्यवाणी करने में खतरा है। लेकिन दुनिया बड़ी

तेजी से बदल रही है। एक के बाद दूसरी मुसीबतें आती जा रही हैं और लोगों का जितना अनुमान है, उससे पहले भी पूरा का पूरा ब्रिटिश साम्राज्यवाद हिल सकता है। हिंदुस्तान में पिछले सोलह बरसों में, जब से महात्मा गांधी आगे आये हैं और उन्होंने करोड़ों आदमियों को आपस में मिलकर त्याग करने की प्रेरणा दी है, राष्ट्रीय आंदोलन बड़ी तेजी से बढ़ा है। इन सोलह बरसों में यह आंदोलन लगातार जारी रहा, जो कि कभी तेज रहा और कभी धीमा। तीन बार अर्थात 1920-22, 1930-31 और 1932-34 में यह आंदोलन असहयोग और सविनय अवज्ञा आंदोलनों के रूप में चला, जिन्होंने हिंदुस्तान में अंग्रेजी हुकूमत के ढांचे को झकझोर डाला था। इन आंदोलनों की ताकत का अनुमान अंग्रेजी हुकूमत की प्रतिक्रिया से लगाया जा सकता है। यह ठेठ फासिस्ट किस्म की कठोर दमन के शक्ल में थी, नागरिक अधिकारों की आजादी, अखबारों, तकरीरों और मीटिंगों पर पाबंदी लगायी गयी, लोगों के जमा किये हुए रुपये-पैसे, उनकी जमीनें और उनके मकान जब्त किये गये। स्कूलों, यूनिवर्सिटियों, अस्पतालों, बच्चों की सोसाइटियों, सामाजिक काम करने वाले क्लबों वगैरह सैकड़ों संस्थाओं पर पाबंदी लगा दी गयी। बेशक इनमें राजनैतिक और मजदूर संगठन भी लाखों आदमियों-औरतों को जेलों में बंद कर दिया गया, कैदियों और दूसरे लोगों को बेरहमी से मारा-पीटा गया और उनके साथ बदसलूकी की गयी। दूसरी ओर छोटे छोटे वर्ग के लोगों को घूस और लालच देकर राष्ट्रवादी वर्गों में फूट डालने की कोशिश की गयी और ब्रिटिश सरकार की हिमायत के लिए सभी सामंती, प्रतिक्रियावादी और दकियानूस लोगों के लिए इकट्ठा किया गया...।

जाहिर है कि ब्रिटिश सरकार आजादी के आंदोलन को खत्म करने में कामयाब नहीं हो सकती। हां, जब मुल्क थक चुका होता है, तब वह कुछ अर्से के लिए दबा जरूर सकती है। यह भी जाहिर है कि मुल्क के जानदार लोग नये कानून से नाराज हैं और झुंझला उठे हैं, वह खुशी खुशी इसे मंजूर नहीं करेंगे। हिंदुस्तान में साम्राज्यवादी हुकूमत के खिलाफ पहले की बनिस्बत आजकल ज्यादा नाराजगी और गहमागहमी है। फिलहाल गांधी जी सक्रिय राजनीति से अलग हो गये हैं, लेकिन हिंदुस्तान में वे आज भी एक बहुत बड़ी और असरदार शख्सियत हैं और आगे भी बने रहेंगे। उनमें लाखों लोगों को अपने साथ ले चलने का माद्दा है और वे किसी भी संकट की घड़ी में राजनीति के क्षेत्र में वापस आ सकते हैं....हिंदुस्तान में सिद्धांतों और आदर्शों में एक टकराव पैदा हो गया है और खींचातानी चल रही है। यह किसी भी बड़े मुल्क में जानदार आंदोलन के लिए कुदरती बात है, लेकिन जहां तक ब्रिटिश हुकूमत की खिलाफत का सवाल है, लोगों में एका है। बेशक इसमें ऐसे तबके के लोग शामिल नहीं हैं, जो इससे फायदा उठा रहे हैं या फिर जो इसी साम्राज्यवाद की देन हैं। इसमें कोई शक नहीं कि हिंदुस्तान में जल्दी ही बड़े बड़े रद्दोबदल देखने को मिलेंगे और वह आजादी के रास्ते पर होगा।

आज दुनिया में राजनैतिक और आर्थिक टकराव के साथ साथ एक आध्यात्मिक संकट छाया हुआ है, पुराने मूल्यों और आस्थाओं पर शक किया जाने लगा है और इस गुत्थी को सुलझाने के लिए उपाय ढूंढ़े जा रहे हैं। हिंदुस्तान में यह स्थिति और मुल्कों की बनिस्बत ज्यादा जटिल है, यहां यही विचारधाराओं की टक्कर है। इसकी वजह यह है कि हिंदुस्तान की संस्कृति की जड़ें हमारे इतिहास में गहरी जमी हुई हैं, भविष्य आगे बढ़ने का संकेत करता है, लेकिन हमारा भूतकाल उसे वापस खींच लेता है। नयी नयी आधुनिक समस्याओं को सुलझाने के लिए पुरानी संस्कृति के पास कोई हल नहीं है। उन्नीसवीं सदी में पश्चिम के मुल्कों में पूंजीवाद बड़ी चमक-दमक के साथ उभरा था, उसकी यह चमक गायब हो चुकी है और वह अपनी ही समस्याओं में बुरी तरह से दब गया है। सोवियत मुल्कों में एक नयी सभ्यता जन्म ले रही है, इसमें कहीं कहीं कुछ कमियां हैं, लेकिन इसके बावजूद यह लोगों को आकर्षित कर रही है और आशा और विश्व-शांति की किरण जगाती है तथा लाखों-करोड़ों लोगों की तकलीफों और उनके शोषण को खत्म करने की उम्मीद बंधाती है। हो सकता है कि हिंदुस्तान अपने यहां विचारधाराओं के टकराव को इस नयी व्यवस्था से ज्यादा से ज्यादा मदद लेकर दूर करे, लेकिन जब भी वह करेगा उसका अलग अपना तरीका होगा—वह उस ढांचे को अपनी जनता की प्रतिभा के मुताबिक तैयार करेगा।

हिंदुस्तान की आजादी की लड़ाई दुनिया के संदर्भ में

हम लोग अपनी कौमी लड़ाई में उलझे हुए थे। इस लड़ाई ने जो मोड़ लिया था, उस पर हमारे महान नेता और हमारे कौमी जज्बात की जबरदस्त छाप थी। उस वक्त हमें शायद ही इस बात का अहसास रहा हो कि बाहर के मुल्कों में क्या हो रहा है। फिर भी हमारी लड़ाई एक बहुत बड़ी लड़ाई का हिस्सा थी और जो भावना हमें आगे बढ़ने के लिए बढ़ावा दे रही थी, वही दुनिया के लाखों लोगों को भी प्रेरित किये हुए थी और उन्हें आंदोलन में लगाये हुए थी। भूमध्यसागर से लेकर सुदूर पूर्व तक, इस्लामी पश्चिमी मुल्कों से लेकर पूरब में बौद्ध देशों तक सारा एशिया जाग उठा था, अफ्रीका भी इस नयी लहर के साथ था। यूरोप विश्वयुद्ध में थक कर चूर हो रहा था, लेकिन तब भी एक नया संतुलन बनाने के लिए वह जद्दोजेहाद कर रहा था। यूरोप और एशिया के विशाल भूभाग के उस पार सोवियत इलाकों में इंसान की आजादी और समाज में बराबरी की नयी धारणा को विरोधियों का सामना करना पड़ रहा था। दुनिया भर में आजादी की इस लड़ाई के बहुत-से पहलुओं को लेकर बड़ा मतभेद था। हम उनके चलते गुमराह हो गये थे और उस पृष्ठभूमि को समझ नहीं पा रहे थे, जो सभी जगह एक जैसी थी। अगर हम इन मुख्तलिफ पहलुओं को जानना-समझना चाहते हैं और अपनी कौमी लड़ाई के लिए इनसे कोई सबक सीखना चाहते हैं तो हमें पूरी तस्वीर को देखने और समझने की कोशिश करनी चाहिए। ऐसा करने पर हम उन बुनियादी रिश्तों को समझने में कोई गलती नहीं करेंगे, जो बदलते हालात के दौरान भी एक साथ रहते हैं। जब हम इस बुनियादी बात को समझ लेंगे, तब हमें दुनिया के हालात को समझना और भी ज्यादा आसान हो जायेगा और हम अपने कौमी मसलों को विशाल संदर्भ में देख-सुन सकेंगे। तब हमें महसूस होगा कि हम हिंदुस्तान या हिंदुस्तान के मसले को बाकी दुनिया से अलग-थलग नहीं रख सकते क्योंकि ऐसा करना उन ताकतों की अनदेखी करना है, जिनकी वजह से नयी नयी घटनाएं हो रही हैं। ऐसा करना उस बुनियादी ताकत से अपने को बिल्कुल अलग करना है, जो उभर कर सामने आ रही है। ऐसा करने से हम अपने मसलों की अहमियत को नहीं समझ सकेंगे। जब हम इन मसलों

---

12 अप्रैल, 1936 को लखनऊ में 'इंडियन नेशनल कांग्रेस' के अधिवेशन में अध्यक्षीय भाषण से। *सेलेक्टेड वर्क्स*, वाल्यूम 7, पृ. 172-174 179-80, 194-95। जवाहरलाल नेहरू अध्यक्ष चुने गये, जब वे यूरोप गये हुए थे। वह कमला नेहरू के देहांत के बाद हिंदुस्तान वापस आये

को समझेंगे नहीं, तब हम उन्हें हल कैसे कर सकेंगे? हम सांप्रदायिक मसलों, छोटी छोटी बातों और सवालों में पड़ कर बड़े बड़े मसलों को अक्सर भूल जाते हैं। हम पहले भी ऐसा कर चुके हैं...।

विश्वयुद्ध की भयंकर घटनाओं के बाद यूरोप और एशिया में क्रांतिकारी उलट-फेर हुए, यूरोप में सामाजिक आजादी के लिए संघर्ष तेज हुआ और एशिया के मुल्कों में जबरदस्त राष्ट्रीय भावना का जन्म हुआ। काफी उलट-फेर हुए और कभी कभी ऐसा लगा कि क्रांति का ज्वार उतर रहा था और सब कुछ शांत होता जा रहा था। लेकिन आर्थिक और राजनीतिक हालात ऐसे थे कि कोई फैसला नहीं हो सकता था और मौजूदा ढांचे में नये नये हालात को संभालना मुमकिन नहीं था और इस बारे में उसकी तमाम कोशिशें बेकार हो रही थीं। हर जगह झगड़े हो रहे थे, दुनिया मंदी की जबरदस्त चपेट में थी। दुनिया में सब जगह हालत बिगड़ती जा रही थी। लेकिन दूर दराज सोवियत इलाकों में ऐसा नहीं था। इन इलाकों में तो दुनिया की और जगहों को छोड़ कर आश्चर्यजनक रूप से तरक्की हो रही थी। दुनिया में दो विरोधी आर्थिक और राजनैतिक व्यवस्थाएं आमने-सामने थीं। हालांकि इन दोनों ने एक-दूसरे को कुछ वक्त तक बर्दाश्त किया, लेकिन उनकी कुदरती मुखालफत थी और इन्होंने दुनिया पर कब्जा करने के लिए जी तोड़ कोशिश की। इनमें से एक पूंजीवादी व्यवस्था है, जो लाजिमी तौर पर बहुत बड़े साम्राज्य की शक्ल में आयी। सारी दुनिया में बड़े बड़े साम्राज्य और उनके उपनिवेश बने। ये साम्राज्य एक-दूसरे को खत्म करने पर आमादा थे। ये अब भी ताकतवर थे, लेकिन लड़ाई से डरते थे क्योंकि इन्हें अपने हाथ से इन उपनिवेशों के निकल जाने का डर था। ये बार बार आपस में टकराते थे और लड़ाई की तैयारियां करने लगते थे। उन्हें जिन मसलों से खतरा था, उन्हें सुलझाना उनके बस की बात नहीं थी। ये लाचार थे। इन्होंने अपने आपको तबाह करने के लिए छोड़ दिया था। दूसरी थी सोवियत रूस की समाजवादी व्यवस्था, जो बराबर तरक्की कर रही थी। इसे इसके लिए जबरदस्त कीमत चुकानी पड़ती थी। लेकिन यहां पूंजीवादी दुनिया की दिक्कतें और मसले नहीं थे।

पूंजीवाद जब मुसीबत में पड़ने लगा, तब वह फासिज्म की शक्ल में आ गया। चूंकि पश्चिम की सभ्यता पूंजीवाद की समर्थक रही, इसलिए उन्होंने दमन की नीति अपनायी। जो कुछ दूसरे पूंजीवादी मुल्क अपने अपने अधीन उपनिवेशों में करते आये थे, वही इन मुल्कों ने अपने यहां भी किया। इस तरह इस पूंजीवाद, जो अब खत्म होता जा रहा है, के दो पहलू हैं—फासिज्म और साम्राज्यवाद। राष्ट्रीय विशेषताओं और आर्थिक व राजनैतिक हालात की वजह से अलग अलग मुल्कों में इनमें हालांकि कुछ फर्क था, लेकिन ये हमारी प्रतिक्रियावादी ताकतों के प्रतीक रहे और एक-दूसरे को बढ़ावा देते रहे। ये आपस में टकराते भी, लेकिन यह तो इनकी आदत थी। पश्चिम में समाजवाद और पूरब के मुल्कों में और

दूसरे गुलाम मुल्कों में जिस राष्ट्रीयता का जन्म हुआ, वह फासिज्म और साम्राज्यवाद के इस गठबंधन की खिलाफत थी। याद रखना चाहिए कि पूरब की राष्ट्रीयता फासिस्ट मुल्कों की राष्ट्रीयता से जुदा थी, जो बिल्कुल नयी और बेहद संकीर्ण किस्म की थी। पूरब की राष्ट्रीयता आजाद होने की दिली तमन्ना थी और फासिस्ट मुल्कों की राष्ट्रीयता प्रतिक्रियावादी ताकतों की आखिरी हथियार थी।

इस तरह आज हम दुनिया को दो बड़ी जमातों में बंटा हुआ देखते हैं—एक जमात साम्राज्यवादियों और फासिस्टों की है और दूसरी जमात समाजवादी और राष्ट्रवादियों की है। इन दोनों में कुछ बातें एक-दूसरे से इतनी जुड़ी हुई और समान हैं कि इन दोनों के बीच लकीर खींचना मुश्किल हो जाता है क्योंकि फासिस्ट और साम्राज्यवादी ताकतों में आपस में टकराव रहता है और गुलाम मुल्कों की राष्ट्रीयता कभी कभी फासिज्म की ओर झुक जाती है। लेकिन असली फर्क तब भी बना रहता है और अगर हम इस फर्क को ध्यान में रखें, तब हमें दुनिया के हालात को और इनके संदर्भ में अपनी स्थिति को समझना आसान हो जायेगा।

तो हम हैं कहां—हम, जो हिंदुस्तान की आजादी के लिए मेहनत मशक्कत कर रहे हैं। लाजिमी तौर पर हम दुनिया की प्रगतिशील ताकतों के साथ हैं, जिन्होंने फासिज्म और साम्राज्यवाद के खिलाफ एक मोर्चा बनाया है। हमें एक खास साम्राज्यवाद से निपटना है। यह सबसे पुराना है और आज दुनिया में दूर दराज तक इसकी जड़ें फैली हुई हैं। यह बड़ा ही पुख्ता है। लेकिन यह दुनिया के साम्राज्यवाद का सिर्फ एक हिस्सा है। हम इसी से ब्रिटिश साम्राज्यवाद से ताल्लुक नहीं रखना चाहते और हिंदुस्तान की आजादी चाहते हैं। हिंदुस्तान की राष्ट्रीयता, हिंदुस्तान की आजादी और ब्रिटिश साम्राज्यवाद से कोई मेल नहीं है। अगर हम साम्राज्यवादी खेमे में रहते हैं, तब हमारा नाम और हमारी स्थिति चाहे जैसी भी हो, ऊपर सियासी ताकत का जो भी ढांचा रहे, हम पूंजीवादी दुनिया के प्रतिक्रियावादी और बड़े बड़े स्वार्थी वर्गों से घिरे रहेंगे, उनके चंगुल में फंसे रहेंगे, उनका साथ देते रहेंगे और हम पर उनका दबदबा बना रहेगा। हमारी जनता का शोषण होता रहेगा। हमारे सामने जो बुनियादी सामाजिक मसले हैं, वे बे-सुलझे पड़े रहेंगे। यहां तक कि सियासी आजादी भी हमारी पहुंच से बाहर रहेगी और समाज में परिवर्तन नहीं हो सकेगा...।

हमारी असली समस्या यह है कि हम अपनी आजादी की लड़ाई में अपने मुल्क की तमाम साम्राज्यवाद विरोधी ताकतों को कैसे इकट्ठा कर सकते हैं, हम आजादी चाहने वाले मध्यम वर्ग के हजारों लोगों को आवाम के साथ मिलाकर किस तरह एक बड़ा मोर्चा बना सकते हैं, जिसमें सभी शामिल हों...। एक लोकप्रिय संयुक्त मोर्चे की बुनियादी शर्त यह है कि वह साम्राज्यवाद के कट्टर खिलाफ हो और उसमें किसान और मजदूर को सक्रिय रूप से भाग लेना चाहिए।

आपको अचरज हो रहा होगा कि मैंने आपके सामने अंतर्राष्ट्रीय और राष्ट्रीय मामलों की पृष्ठभूमि की तो लंबी-चौड़ी चर्चा की, लेकिन मैंने आज की उन समस्याओं पर तो कुछ भी नहीं कहा, जो आपके मन में घुमड़ रही हैं। आप बेचैन हो रहे होंगे। लेकिन मेरी यह धारणा है कि अगर हम अपनी समस्याओं को समझना चाहते हैं तो हमें उनको विश्व-व्यवस्था में उचित जगह पर रखकर देखना होगा। मैं यह यकीन करता हूं कि दुनिया की घटनाओं का आपस में गहरा ताल्लुक है और हमारी समस्याएं दुनिया में पूंजीवादी साम्राज्यवाद की समस्याओं का एक हिस्सा हैं। अगर हर घटना को दूसरी घटनाओं से अलग कर और उनके आपसी संबंधों को समझे बिना देखा गया तो हम कोई ठीक और पुख्ता राय नहीं बना सकेंगे। दुनिया में आज जो परिवर्तन हो रहे हैं, उन पर गौर कीजिए। एक ओर बड़ी बड़ी ताकतें आपस में जोर आजमाइश कर रही हैं, आसमान पर जंग की छाया मंडरा रही है, गुलाम मुल्क आजादी के लिए संघर्ष कर रहे हैं और साम्राज्यवाद उन्हें कुचल रहा है, शोषित वर्ग अपने शोषकों का मुकाबला कर रहे हैं, वह आजादी तथा बराबरी का दर्जा चाहते हैं। इतालवी साम्राज्यवाद बहादुर हथयोवियनों पर बम बरसा रहा है और उनका संहार कर रहा है, उत्तरी चीन और मंगोलिया पर जापानी साम्राज्यवाद के हमले जारी हैं। ब्रिटिश साम्राज्यवाद बड़े ही पाक इरादे से दूसरे मुल्क की ज्यादतियों पर एतराज करता है, लेकिन खुद हिंदुस्तान में और उसके सरहदी इलाके की बात जब आती है, तब खुद वैसे ही काम करता है। इस सबके पीछे एक चरमराती हुई आर्थिक व्यवस्था है, जो इन झगड़ों को बढ़ाती है। इन मुख्तलिफ घटनाओं में क्या हम कोई ताल्लुक नहीं समझते? आइए हम इसे समझें, ताकि हम मौजूदा घटनाओं को उचित संदर्भ में देख सकें और उनकी असलियत को जान सकें। ऐसा करने पर ही हम इतिहास की रफ्तार को समझ सकेंगे और उसके साथ कदम मिला सकेंगे...।

हम दुनिया की प्रगतिशील ताकतों को और उनको, जो इंसान की आजादी का और राजनैतिक और सामाजिक बेड़ियों को तोड़ने का समर्थन करते हैं, उनको साम्राज्यवाद और फासिस्ट प्रतिक्रिया के खिलाफ उनकी लड़ाई में अपना सहयोग देंगे क्योंकि हम महसूस करते हैं कि हमारी और उनकी लड़ाई एक है। हमारी शिकायत किसी खास जाति, मुल्क से नहीं है, क्योंकि हम जानते हैं कि साम्राज्यवादी इंग्लैंड में भी, जो हमारा गला घोंट रहा है, बहुत-से ऐसे लोग हैं जो साम्राज्यवाद को पसंद नहीं करते और आजादी के पक्षधर हैं।

फिलिस्तीन में अरब और यहूदी

अरब के राष्ट्रीय आंदोलन और आजादी के लिए उनके संघर्ष की जो सहानुभूति में मैंने जो कुछ कहा, उसकी हिंदुस्तान में रहने वाले यहूदियों ने शिकायत की है। इसलिए फिलिस्तीन के मसले पर मैं जरा कुछ तफसील से कहना चाहता हूं।

सारे यूरोप में सदियों से यहूदियों पर भयंकर अत्याचार हो रहे हैं। मेरा ख्याल है कि बहुत कम लोग ऐसे होंगे, जिन्हें इन यहूदियों से सहानुभूति नहीं हो। इसी तरह पिछले कुछ बरसों में नाजियों ने यहूदियों पर जंगली तरीके से और सारी की सारी जाति को खत्म करने के लिए जो दमन किया है, उसे देखकर शायद बहुत ही कम लोग ऐसे होंगे जिनकी इनसे हमदर्दी न हो। यहां तक कि जर्मनी के बाहर भी यहूदियों की मारकाट करना जैसे उनका खेल बन गया है। किसी जाति के खिलाफ इस तरह की नफरत और जाति युद्ध का भड़क उठना मेरी सहनशक्ति के बाहर है। यहूदी जाति के इतने सारे लोगों को मुसीबत में देख मुझे बेहद अफसोस हो रहा है। इन देश निष्कासित अभागे लोगों में, जिनका न कोई मुल्क है, न कोई घरबार, जिसे वे अपना कह सकें, बहुत से लोगों को मैं जानता हूं और कुछ को मैं अपना दोस्त कहने पर फख्र भी करता हूं।

इसलिए मैं इस सवाल पर पूरी हमदर्दी से गौर करता हूं। जहां तक मेरा ताल्लुक है, जातीय या धार्मिक मुद्दों से मेरी राय पर कोई असर नहीं पड़ता।

मैंने युद्धकालीन और युद्ध के बाद का जो इतिहास पढ़ा है, उससे पता चलता है कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने अरबों के साथ बेइंतिहा धोखा किया है। ब्रिटिश सरकार की ओर से कर्नल लारेंस और दूसरे लोगों ने उनसे जो वायदे किये थे और जिसकी वजह से अरबों ने लड़ाई के दौरान ब्रिटेन और दूसरे मित्र राष्ट्रों की मदद की थी, लड़ाई खत्म होने के बाद उनकी जमकर उपेक्षा की गयी। सीरिया, ईराक, ट्रांस जोर्डन और फिलिस्तीन में रहने वाले अरब इस धोखे के तहत दुख भोग रहे हैं परंतु फिलिस्तीन में रहने वाले अरबों की हालत तो कहीं ज्यादा ही बदतर थी। सन 1915 से इन लोगों को मुक्ति और आजादी के बार बार वायदे दिये जा रहे थे, तभी अचानक उनके इलाके को एक खासतौर का कानूनी इलाका बना दिया गया और उन पर एक और बोझ लाद दिया गया—यह बोझ था इसी इलाके

प्रेस के वक्तव्य, 13 जून, 1936, *दि ट्रिब्यून* में 16 जून, 1936 को प्रकाशित, *सेलेक्टेड वर्क्स,* वाल्यूम 7, पृ. 572-73 से संकलित

में से यहूदियों के लिए अलग एक इलाके का वायदा। यह एक ऐसा वायदा था, जिससे उनके लिए आजादी हासिल करना बिल्कुल ही नामुमकिन हो गया।

यरुशलम और अपनी पवित्र भूमि में आजादी के साथ घूमने-फिरने का यहूदियों को पूरा हक है। लेकिन बाल्फोर की घोषणा के बाद हालत बिल्कुल ही बदल गयी। फिलिस्तीन में एक राज्य के भीतर एक नया राज्य बनाया जाने वाला था, जो लगातार बढ़ने वाला था, इसे ब्रिटिश साम्राज्यवाद का समर्थन था। उम्मीद यह थी कि यह यहूदी राज्य अपनी आबादी और आर्थिक स्थिति के जरिये इतना ताकतवर हो जायेगा कि यह सारे फिलिस्तीन पर हावी हो जायेगा। यहूदीवादी पालिसी का यही मकसद था, हालांकि यहूदियों के कुछ वर्ग के लोग इस हमलावर रवैये के खिलाफ थे। जाहिर है कि यहूदियों ने अरबों की खिलाफत की और अपनी हिफाजत और मदद के लिए ब्रिटिश सरकार से समर्थन देने के लिए कहा।

यहूदियों के अपनी पवित्र भूमि के साथ इस तरह के लगाव और उनकी मौजूदा श्रद्धा को देखते हुए इस मामले को एक नैतिक समस्या कहा जा सकता है। उनके प्रति हमदर्दी हो सकती है। लेकिन अरबों का क्या होगा? इनके लिए भी यह एक पवित्र भूमि थी—मुसलमान अरबों और ईसाई अरबों दोनों के लिए। तेरह सौ बरसों से या उससे भी ज्यादा अरसे से वे वहां रहते आये हैं और वहां उनके राष्ट्रीय और जातीय स्वार्थ ने गहरी जड़ पकड़ ली है। फिलिस्तीन कोई खाली जगह नहीं थी, जहां बाहर से लोगों को लाकर बसाया जा सके। यह इलाका अच्छी तरह आबाद था, भरा-पूरा था। यहां बहुत बड़ी तादाद में लोगों को लाकर बसाने के लिए शायद ही जगह थी। अगर अरब वालों ने इस बाहरी लोगों के आने पर एतराज किया तो यह कोई अचरज की बात थी? और जब उन्होंने यह समझा कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद का मकसद यहूदी और अरब समस्या को उनकी आजादी के रास्ते में एक स्थायी अड़चन बना देना है, तब उनकी नाराजगी और भी बढ़ गयी। हिंदुस्तान में हम लोगों को इसका काफी अनुभव है कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद हमारी आजादी के रास्ते में इसी तरह के रोड़े अटकाता रहा है।

हो सकता है कि फिलिस्तीन में कुछ यहूदियों का स्वागत हुआ हो, कोई परेशानी नहीं हुई हो और इसलिए वहां पर वे बस भी गये। लेकिन जब यहूदीवादी खास खास जगहों से अरबों को बाहर निकाल देने और मुल्क पर अपना दबदबा कायम करने के इरादे से आये, तब शायद ही किसी को अच्छा लगा हो। और इस हकीकत से अरबों की मुखालफत कम नहीं हो सकती कि वे यहां अपने साथ बाहर से बहुत-सा धन लाये हैं और उन्होंने उद्योग-धंधे चालू किये हैं, स्कूल और यूनिवर्सिटियां खोली हैं। इसकी वजह यह है कि यहां के अरब निवासियों को अब यह डर हो गया है कि वे हमेशा गुलाम रहेंगे और उन पर यहूदी धर्म के लोग और ब्रिटिश सरकार राजनैतिक और आर्थिक दोनों ही तरीके से राज करेगी।

इसलिए फिलिस्तीन की समस्या एक राष्ट्रीय समस्या है—यह साम्राज्यवादी कब्जे और शोषण से छुटकारा पाने के लिए एक मानव जाति के संघर्ष की समस्या है। यह कोई जाति की या धर्म की समस्या नहीं है। शायद हमारे मुल्क के कुछ मुसलमान भाई धर्म के बंधन की वजह से अरबों से हमदर्दी रखते हों। लेकिन अरब लोग ज्यादा होशियार हैं, वे सिर्फ राष्ट्रीयता और आजादी पर जोर देते हैं और यह याद रखने की बात है कि सभी अरब—चाहे वे मुसलमान हों या ईसाई—ब्रिटिश साम्राज्यवाद के खिलाफ इस लड़ाई में एकजुट होकर खड़े हैं। बेशक इस राष्ट्रीय संघर्ष में अरबों के बड़े बड़े नेता ईसाई रहे हैं।

अगर यहूदी होशियार होते, तब उन्होंने अरबों की आजादी की लड़ाई में उनका साथ दिया होता। इसके बजाय उन्होंने ब्रिटिश साम्राज्यवाद की तरफ रहना और इस मुल्क की जनता के खिलाफ उससे हिफाजत करने को कहना पसंद किया है। इस तरह यह लड़ाई साम्राज्यवाद के मुकाबले राष्ट्रवाद की लड़ाई बन गयी है और इससे संबंधित छुटपुट मामले, जैसे अरब-यहूदी समस्या का कोई ऐतिहासिक महत्व नहीं रह गया है, जो हालांकि आज महत्वपूर्ण है। इसी तरह सांप्रदायिक समस्या हिंदुस्तान पर आ गयी है, जो ब्रिटिश हुकूमत की एक भ्रष्ट संतान है। अगर इतिहास के विशाल परिप्रेक्ष्य में देखा जाये तो इसका सारा महत्व खत्म हो जाता है।

हिंदुस्तान और फिलिस्तीन दोनों की अपनी अपनी राष्ट्रीय समस्याएं हैं और दोनों ही मुल्क आजादी की लड़ाई लड़ रहे हैं। इस लड़ाई में दोनों में कुछ समान बातें हैं। दोनों की खिलाफत भी बस एक से है। दोनों ही मामलों में राष्ट्रवाद का संपर्क नयी नयी ताकतों से होता है और उस पर उनका असर पड़ता है और धीरे धीरे यह विश्व समस्या का एक पहलू बन जाता है, जिसका असर हम सब पर एक जैसा पड़ता है, भले ही उसे हम समझें या न समझें। इसलिए हमें एक-दूसरे को समझना चाहिए और एक-दूसरे से सहानुभूति रखनी चाहिए।

जब हम इस व्यापक नजरिये से देखते हैं, तब अरब-यहूदी सवाल की कोई अहमियत नहीं रह जाती। इसमें कोई शक नहीं कि फिलिस्तीन के अरब अपनी आजादी हासिल करेंगे, लेकिन यह आजादी अरब लोगों की उस व्यापक एकता का एक हिस्सा होगी और जिसके लिए पश्चिमी एशिया के मुल्क अब तक बेकरार रहे हैं और तब यह उस नयी व्यवस्था का अंग होगी, जो मौजूदा उथल-पुथल के बाद उभरेगी। अगर यहूदी लोग समझदार हैं, तो इतिहास से शिक्षा ग्रहण करेंगे और अरबों के साथ दोस्ती का रिश्ता कायम करेंगे, फिलिस्तीन की आजादी की लड़ाई में अपना कंधा देंगे, अपना ही फायदा नहीं सोचेंगे और न साम्राज्यवादी ताकत की मदद से अपना दबदबा कायम करना चाहेंगे।

इसलिए मुझे यकीन है कि हिंदुस्तान के लोग एक ताकतवर दुश्मन के खिलाफ फिलिस्तीन में आजादी की लड़ाई में वहां के अरबों के साथ हमदर्दी रखेंगे और उन्हें अपनी ढेर सारी शुभकामनाएं भेजेंगे।

स्पेन में संघर्ष

आज स्पेन में ही सबसे जबरदस्त घटनाएं हो रही हैं। ये घटनाएं बड़ी ही डरावनी और भयंकर हैं। यूरोप और सारी दुनिया के भविष्य के लिए इनके असाधारण परिणाम होंगे। इन घटनाओं के साथ हिंदुस्तान में हम लोगों की तकदीर उससे ज्यादा बंधी हुई है, जितना कि हम समझते हैं।

स्पेन में क्या हुआ? कुछ महीने हुए वहां सामान्य लोकतांत्रिक चुनाव हुए और फलस्वरूप वहां एक लोकप्रिय रेडिकल पार्टी—संयुक्त लोकप्रिय मोर्चा—सत्ता में आयी। इस मोर्चे ने उदार लोकतांत्रिक तरीके से सरकार बनायी। वह कोई साम्यवादी या कोई समाजवादी सरकार नहीं थी। उसमें एक भी साम्यवादी या समाजवादी नहीं था। इस सरकार ने व्यापक सुधारों का एक कार्यक्रम तैयार किया, जिससे स्पेन को सामंतवादी और प्रतिगामी बाढ़ में से बाहर निकाला जा सके, जिसमें वह लंबे अरसे से पड़ा हुआ था। इस सरकार ने अच्छी प्रगति की, लेकिन तभी फौज के कमांडरों और दूसरे प्रतिगामी व्यक्तियों के नेतृत्व में सैनिक विद्रोह हो गया। यह विद्रोह स्पेन में शुरू न होकर गैर स्पेनी फौजों की मदद से सबसे पहले मोरक्को में हुआ। यह विद्रोह कानून और व्यवस्था के खिलाफ था—ये शब्द ब्रिटिश सरकार को बहुत प्रिय हैं—मुल्क की जमी हुई सरकार के खिलाफ, एक उदार शासन के खिलाफ था।

फौज के इन कमांडरों ने विद्रोह का झंडा फहराने की हिम्मत कैसे की? अब यह बात काफी साफ हो गयी है। उन्होंने जर्मनी और इटली जैसे फासिस्ट मुल्कों के साज-सामान की मदद से यह विद्रोह किया और मजेदार बात ध्यान देने की यह है कि उन्हें लंदन शहर के बड़े बड़े साहूकारों से आर्थिक मदद मिली थी।

स्पेन की सरकार और जनता भौंचक्की रह गयी। साधारण जनता के लिए, जो संगठित थी और जिसके पास हथियार नहीं थे, संगठित और हथियारों से पूरी तरह लैस विद्रोही फौजों का सामना करना बेहद मुश्किल था। यही वजह थी जिससे व्रिदोहियों को आसानी से अपने जीतने की पूरी उम्मीद थी, लेकिन स्पेन की जनता अपनी लोकप्रिय सरकार की पुकार पर उठ खड़ी हुई और बिना किसी तैयारी या वाजिब हथियारों के उन्होंने बहादुरी से विद्रोहियों की उस फौज का मुकाबला किया, जिसमें ज्यादातर सैनिक मोरक्को के थे।

इलाहबाद में फिलिस्तीनी दिवस पर 27 सितंबर, 1936 को दिये गये भाषण से, *दि लीडर* में प्रकाशित, *सेलेक्टेड वर्क्स,* वाल्यूम 7, पृ. 582-84 से उद्धृत

वहां फौज में भर्ती के लिए लोगों की भीड़ इकट्ठी हो गयी, यहां तक कि लड़के-लड़कियां भी अपनी आजादी को बचाने के लिए दौड़ पड़े, जो बड़ी मशक्कत के बाद हासिल हुई थी। हम लोगों ने एक अजीब-सा नजारा देखा—यह जनसमूह नियमित सेना से लड़ रहा था और उसे अक्सर आगे बढ़ने से रोके भी रखता था।

दूसरे मुल्कों में प्रतिक्रियाएं ध्यान देने लायक थीं। नाजी जर्मनी और फासिस्ट इटली पूरी तरह विद्रोहियों के साथ थे और उन्हें हर तरह की मदद दे रहे थे। फ्रांस की हमदर्दी स्पेन की सरकार के साथ थी, लेकिन वह उसकी मदद करने की हिम्मत नहीं कर रहा था। इंग्लैंड के 'दि टाइम्स' जैसे बड़े बड़े अखबार खुलकर व्रिदोहियों की हमदर्दी कर रहे थे और इस तरह साफ साफ ब्रिटिश सरकार और ब्रिटिश शासक वर्ग का रुख जाहिर कर रहे थे। विद्रोहियों की जीत पर ब्रिटेन के साहूकार खुशियां मना रहे थे। यूरोप के बाकी मुल्कों की सरकारों ने हस्तक्षेप न करने की पालिसी बना रखी थी, जिसका दरअसल मतलब यह था कि स्पेन की सरकार को मदद नहीं दी जा सकती थी, लेकिन विद्रोही बाहर से मदद ले सकते थे।

और इस तरह स्पेन में यह जबरदस्त रस्साकशी चल रही है और हर चीज का पलड़ा विद्रोहियों की ओर झुका हुआ है। मगर फिर भी साधारण जनता, मर्द और औरतें, लड़के और लड़कियां अपना काम किये जा रहे हैं और अपने मुल्क को एक खूंखार और जबरदस्त प्रतिक्रियावादी सरकार का शिकार न बनने देने के लिए लाखों की तादाद में जानें दे रहे हैं।

आज स्पेन में हम प्रगति की ताकतों और प्रतिक्रियावादी ताकतों के बीच जबरदस्त संघर्ष होते साफ साफ देख रहे हैं। यह संघर्ष सारी दुनिया में व्याप्त है। यह संघर्ष इस मुद्दे पर निर्भर है कि यूरोप और सारी दुनिया पर फासिस्टवाद का प्रभुत्व होगा या नहीं। इसी मुद्दे पर सारी दुनिया में बड़े पैमाने पर खूनी लड़ाई का होना निर्भर है। व्रिदोहियों की जीत का मतलब है फ्रांस का गला घोंट दिया जाना, जो चारों ओर तीन फासिस्ट मुल्कों से घिरा हुआ है। इसका मतलब है कि फासिस्टवाद जापान के फासिस्टवाद के साथ मिलकर सारी दुनिया पर कामयाबी के साथ कब्जा करने की कोशिश करेगा।

इस जबरदस्त मुद्दे पर हम ब्रिटेन के शासक वर्ग और वहां की सरकार को फासिस्टवाद की तरफदारी करते देख रहे हैं। हम देखते हैं कि लोकतंत्र की डींग मारने वाला साम्राज्यवादी ब्रिटेन ऐसी ताकतों के साथ हमदर्द है, जो स्पेन में लोकतंत्र की हत्या करने की कोशिश में लगे हुए हैं। यह याद रखना चाहिए कि स्पेन में साम्यवाद या समाजवाद और फासिज्म के बीच संघर्ष नहीं हो रहा है, बल्कि यह संघर्ष लोकतंत्र और क्रूर फौजी फासिज्म के बीच हो रहा है। दरअसल इसमें अचरज की कोई बात नहीं है, क्योंकि साम्राज्यवाद और फासिस्टवाद एक ही खानदान के हैं और जब मुसीबत आती है, तब ये एक हो जाते हैं।

आज सारी दुनिया में वे प्रगति की ताकतों का विरोध कर रहे हैं—यूरोप में सामाजिक प्रगति का और हिंदुस्तान और दूसरे गुलाम मुल्कों में राजनीतिक प्रगति तक का। साम्राज्यवादी और फासिस्टवादी ताक़तों के बीच भी एक स्वाभाविक संघर्ष है, क्योंकि उनमें से कितने ही शोषण से होने वाले फायदे में से ज्यादा से ज्यादा हिस्सा लूटना चाहते हैं। लेकिन इस आपसी संघर्ष के बावजूद वह आजादी की सामाजिक चाहत और राजनैतिक स्वतंत्रता के लिए राष्ट्रीय संग्राम के खिलाफ एक-दूसरे के बारे में हमदर्दी रखते हैं। और इस तरह हिंदुस्तान अपनी आजादी के लिए जो लड़ाई लड़ रहा है, वह साम्राज्यवाद और फासिज्म के खिलाफ दुनिया के संघर्ष का एक हिस्सा है। यही बात उस लड़ाई पर भी लागू होती है, जो फिलिस्तीन में ब्रिटिश साम्राज्यवाद के खिलाफ लड़ी जा रही है।

कगार पर

इस जमाने की तकलीफों का चाहे जो भी नतीजा निकले, एक बात तो जाहिर है कि अगला जमाना प्रगति और प्रतिक्रिया की विरोधी ताकतों के बीच लगातार संघर्ष का जमाना होगा। ब्रिटिश सरकार ने मिस्टर चेम्बरलेन की रहनुमाई में अपनी पूरी ताकत फासिस्टों की तरफ लगा दी है, लेकिन ब्रिटेन की जनता अभी भी सोच-विचार में है और पिछले चार दिनों की घटनाओं ने उसकी आंखें खोल दी हैं। वह वैसा ही सोच रही है, जैसा कि फ्रांस की जनता सोच रही है कि उनकी सरकारों ने विश्वासघास और धोखेबाजी की है, दुनिया में उन्हें शर्मिंदगी और बेइज्जती देखनी पड़ रही है और इस सबके बावजूद शांति हासिल करना अभी बहुत दूर है।

हिंदुस्तान में यहां की जनता को आगे आने वाले दिनों में महत्वपूर्ण निर्णय करने होंगे और उसके लिए यह जरूरी है कि वह इस संकट की अंदरूनी सच्चाई को समझे। पिछले बरस या कुछ ज्यादा अरसा हुआ, हमने यह देखा कि ब्रिटेन ने चोरी-छिपे किस तरह स्पेन में विद्रोहियों की मदद की। अब हम यह देख रहे हैं कि ब्रिटेन यूरोप में और सारी दुनिया में अपनी स्थिति को कमजोर होते हुए देखकर भी खुलकर और जाहिर तौर पर नाजी सरकार की मदद करने में लगा हुआ है। ऐसा क्यों है?

यह तो स्पष्ट है कि अगर यूरोप में लड़ाई छिड़ती है, तब यह नाजी जर्मनी का हमला होने पर ही छिड़ेगा। किसी दूसरी तरफ से लड़ाई नहीं शुरू हो सकती।

यह भी स्पष्ट हो गया है कि अगर नाजी या फासिस्ट सरकार के खिलाफ कोई शांति मोर्चा बनाया गया होता, तब इस लड़ाई को रोका जा सकता था और शांति सुनिश्चित की जा सकती थी। इस शांति मोर्चे में सोवियत यूनियन, फ्रांस, इंग्लैंड और चेकोस्लोवाकिया होते और इसे संयुक्त राज्य अमेरिका का समर्थन प्राप्त होता। यह शांति मोर्चा लाजिमी

पेरिस में 22 सितंबर, 1938 को लिखा गया लेख, *नेशनल हेराल्ड* में 5 अक्तूबर, 1938 को सर्वप्रथम प्रकाशित, *सेलेक्टेड वर्क्स,* वाल्यूम 9, पृ. 155-58 से उद्धृत। जवाहरलाल नेहरू 1938 में यूरोप गये थे। वह स्पेन में कासीलोना में पांच दिन रहे। उन्होंने वहां रात में आसमान से गिरते बम देखे थे। वह चेकोस्लोवाकिया गये। उन्होंने वहां रहकर दोस्त को धोखा देने का मुश्किल और दांवपेंच का खेल देखा। उन्होंने यही खेल लंदन, पेरिस और जिनेवा में होता देखा। यह लेख इस खेल के म्यूनिख में 29-30 सितंबर, 1938 को पूरा होने के एक सप्ताह पहले लिखा गया था

तौर पर पोलैंड, रूमानिया और कुछ और छोटी-मोटी ताकतों को अपनी ओर मिला लेता। अगर ऐसा होता, तब यह मोर्चा जर्मनी और इटली के खिलाफ एक जबरदस्त मोर्चा होता (अगर इटली जर्मनी से मिल जाता, जो किसी भी तरह तय नहीं था।) अगर ऐसा हुआ होता तब नाजी सरकार के लिए हमलावर बनना पागलपन की बात होती और शांति पक्की हो जाती।

यह सीधी और स्पष्ट नीति, जो लाजिमी तौर पर शांति का मार्ग थी, ब्रिटिश सरकार को पसंद नहीं आयी क्योंकि इसका मतलब सोवियत यूनियन के साथ सहयोग करना था। इसका मतलब सोवियत यूनियन को मजबूत बनाना था और सारी दुनिया में जनता की ताकत को खुली छूट देना था। चूंकि ब्रिटिश सरकार को अपने वर्ग से हमदर्दी थी, इसलिए उसे सोवियत यूनियन से खतरा महसूस हुआ और वह नाजिज्म और फासिज्म की तरफ झुक गयी। इस तरह हालांकि वह लोकतंत्र और शांति की बातें करती रहीं, उसने फासिज्म को खुश करने की नीति अख्तियार की और इस तरह वह सीधे युद्ध की तरफ बढ़ गयी है।

चेम्बरलेन बर्टेसगार्डेन में हैं। आगे और कितनी चालबाजी और कितनी ज्यादा धोखेबाजी होने वाली है? अब तक ऐसी ऐसी बातें हो चुकी हैं, जिन पर यकीन नहीं होता। अब यह सब जैसे रोजमर्रा की बातें हो गयी हैं। ब्रिटेन का प्रधानमंत्री हिटलर और फासिज्म के दूत का काम करता है और इस तरह यूरोप पर फासिज्म का प्रभुत्व स्थापित करना चाहता है। फ्रांस का एक विदेशमंत्री एम. बौनेट एक कदम और आगे बढ़कर अपने मित्रराष्ट्र चेकोस्लोवाकिया को तबाह करने के लिए और हिटलर को और भी महान बनाने के लिए सक्रिय रूप से काम कर रहा है। ये सभी भले लोग देशभक्ति, राष्ट्रवाद, शांति की बातें तो करते हैं, लेकिन इनके सामने मकसद तो हिटलर की जीत है। अचानक जैसे बिजली चमकती है, वैसे ही इन राजनेताओं के असली इरादे उभर कर सामने आ जाते हैं।

शासक वर्ग के लिए या जो लोग चोटी पर बैठे हैं, उन्हें आजादी और लोकतंत्र से कोई फायदा नहीं है। वे दोनों से डरते हैं और हिटलर को प्रतिक्रिया में उसका अग्रदूत मानते हैं। वे यह मानते हैं कि हालांकि हिटलर को बर्दाश्त करना दुष्कर और मुश्किल है, तो भी वह सच्चे लोकतंत्र से कहीं ज्यादा अच्छा है। उन्हें यह भूलने में कोई दिक्कत नहीं होती कि हिटलर का मकसद फ्रांस को बरबाद कर देना और यूरोप को पूरी तरह से अपने कब्जे में कर लेना है। वे यह भूल जाते हैं कि यूरोप में सिर्फ चेकोस्लोवाकिया लोकतंत्र की ढाल है। अगर यह खत्म हो गयी, तब फ्रांस भी खत्म हो जायेगा। अगर एम. बौनेट और मिस्टर चेम्बरलेन के वर्ग वालों के हित सुरक्षित बने रहते हैं, तो इससे क्या फर्क पड़ता है? इस तरह हम देखते हैं कि संकट का सामना करते वक्त फैसला करने के लिए वर्ग की भावनाएं किस तरह कसौटी बन जाती हैं।

फ्रांस और ब्रिटेन की जनता शर्म से अपना सिर झुका लेती है। घटनाओं की तेज रफ्तार से जड़ होकर चेम्बरलेन और बौनेट अपने अपने मुल्कों की बदनामी और आखिर में तबाह होने की फिक्र से चेकोस्लोवाकिया को चेतावनी दे देते हैं। हिटलर की मांगें मंजूर करो, नहीं तो हम भी तुम्हारे खिलाफ मोर्चे मे शामिल हो जायेंगे। नोट कीजिए कि यह एक मित्रराष्ट्र और दोस्त को त्यागना ही नहीं था, बल्कि यह दुश्मन की फौजों को मदद देने की धमकी भी थी। चेकोस्लोवाकिया का मंत्रिमंडल परेशान और दुखी होकर लगभग अड़तालीस घंटे तक लगातार इस धमकी पर विचार-विमर्श करता रहा। चेम्बरलेन जवाब मिलने में देर होती देखकर नाराज हो गये और उनका और फ्रांस का मंत्री पूरी रात चेकोस्लोवाकिया को टेलीफोन कर एक पर एक धमती देते रहे। चेकोस्लोवाकिया की सरकार ने अपने घुटने टेक दिये।

हम इसे क्या कहेंगे? किसी ने इसको ठीक ही कहा कि यह जर्मनी द्वारा चेकोस्लोवाकिया का बलात्कार था, जब इंग्लैंड और फ्रांस उसे जबरदस्ती दबोचे हुए थे।

पार्लियामेंट से सलाह नहीं ली गयी। उसकी बैठक भी नहीं बुलायी गयी। चेम्बरलेन का कहना है कि जब संगीन मामलों पर बातचीत चल रही होती है, तब पार्लियामेंट की बैठक करना सुविधाजनक होगा। फ्रांस की मीटिंगों और प्रदर्शनों पर पाबंदी लगी हुई है। हम यह देख रहे हैं कि इंग्लैंड और फ्रांस में फासिस्ट तरीके किस तरह पनप रहे हैं।

अंग्रेज कहते हैं कि उन्हें अपने को अंग्रेज बताते शर्म आती है। फ्रांस में इस एक कारनामे की खबर बिजली की तरह फैल जाती है और लोग भ्रम से मुक्त होकर गर्व महसूस करते हैं। एक फ्रांसीसी जनरल ने, जो प्राह में फ्रेंच मिलिटरी मिशन में काम करते हैं, यह घोषणा की है कि उनके मुल्क द्वारा चेकोस्लोवाकिया के साथ विश्वासघात किये जाने पर उन्हें इतनी ज्यादा नफरत हो रही है कि उन्होंने अपनी फ्रेंच नागरिकता छोड़ दी है और यह कसम खाते हैं कि वह अब कभी भी फ्रांस नहीं लौटेंगे। अब से वह अपने को चेकोस्लोवाकिया का नागरिक मानते हैं। अजीब-सी बात है कि फ्रांस की नागरिकता को, जिसे उसने अपमान समझा, छोड़ने की घटना को सुन बहुत-से फ्रांसीसी अभिमान से फूले नहीं समाये। उन्हें इस बात का गर्व था कि एक बहादुर फ्रांसीसी ने जो कुछ समझा, उसे निडर होकर कहा और उसने उसका फल भी चखा।

चेम्बरलेन हिटलर से मिल रहे हैं। इस बीच फ्रांस और ब्रिटेन के लोगों में आंदोलन शुरू हो गया है और अजीब-सी गड़बड़ाहट सुनाई पड़ रही है। उन्हें उनके इन मंत्रियों ने और उनकी सरकार ने बहुत दिनों तक बेवकूफ बनाया है। उन्हें अब भी शक है। वह युद्ध नहीं चाहते। लड़ाई में वह, उनके बेटे, भाई और पति मारे जायेंगे, उनके बच्चों, पत्नियों, माताओं और बहनों पर बम बरसाये जायेंगे। वह क्या करें?

अगर शांति के लिए इंग्लैंड, फ्रांस और रूस एक साथ उठ खड़े होते, तब इस सबको

आसानी से रोका जा सकता था। लेकिन चेम्बरलेन और बौनेट को तो हिटलर पसंद है।

बर्टेसगाडेन से खबर मिली है। चेम्बरलेन इस शाम हिटलर से नहीं मिल रहे हैं, जो कि पहले तय था। क्या दोनों टूट गये? क्या लड़ाई छिड़ रही है? यह तनाव बढ़ता जाता है और लोगों की मुख मुद्राएं गंभीर और कठोर हो गयी हैं, कैफे में लोग अखबारों के नये संस्करणों पर टूटे पड़ते हैं।

आगे खबर आती है। चेम्बरलेन और हिटलर एक-दूसरे को खत लिखते हैं। वे फिर मिलेंगे। लेकिन इस सबके पीछे संशय का संत्रास है। क्या फिर से विश्वासघात होगा? राइन के किनारे कौन-सी शैतान योजना बन रही है?

जनता में खलबली है। बहुत विश्वासघात हुआ। फासिज्म की बहुत खुशामद कर ली। सरकारी रोक के बावजूद हर कारखानों के फाटक पर मजदूर प्रदर्शन कर रहे हैं और इसके बाद यह भीड़ अपनी हमदर्दी जाहिर करने चेकोस्लोवाकिया के दूतावास पर जाती है। हर जगह फौज और उसकी पुलिस के जवान दिखाई दे रहे हैं, क्यों? दुश्मन के खिलाफ नहीं, बल्कि फ्रांस के बाकी लोगों को अपनी ताकत का प्रदर्शन करने के लिए। छोटी-मोटी झड़पें हो जाती हैं।

मेरी चीन यात्रा

कुछ महीने हुए मेरे एक दोस्त ने मुझसे कहा कि मैं हमेशा अपने को ऐसे कामों से जोड़ता रहता हूं, जिनका कोई नतीजा नहीं निकलता। वह अंतर्राष्ट्रीय मसलों पर बहस कर रहे थे और उन्हें वे बातें पसंद नहीं, जो मुझे पसंद थीं। मंचूरिया, अबीसीनिया, चेकोस्लोवाकिया, स्पेन--यह बदनसीबी और तबाही की दुखभरी कहानी थी और मुझे ऐसा लगता है कि मैं बराबर गलती पर रहा हूं। वह यथार्थवादी नीति की पैरवी कर रहे थे। इसलिए उनका यह सुझाव था कि हमें ऐसे मुल्कों के साथ दोस्ती करनी चाहिए, जो अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में ऊंचे दर्जे के हों और हमें चाहिए कि हम ऐसे मुल्कों को बिल्कुल भी नाराज न करें। मैंने उनकी यह आलोचना मंजूर तो कर ली, लेकिन मैं यह स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं हूं कि मैं यथार्थवादी नहीं हूं। इसलिए यहां निश्चय ही सोचने की बात यह है कि यथार्थवाद या यथार्थ क्या है? क्या इसे जानने के लिए अस्थाई लाभ को कसौटी माना जाये या हमें एक व्यापक परिप्रेक्ष्य अपनाना चाहिए? क्या सिद्धांतों और आदर्शों की कुछ और कसौटियां भी हैं या हमें व्यापारिक ढंग से सोचना चाहिए। हमारी इस दुनिया में, जहां कोई भी मुल्क अब अलग-थलग होकर नहीं रह सकता और अगर किसी भी राष्ट्र में कोई संकट पैदा होता है, तब उसका दूर दूर के मुल्कों पर असर पड़ता है, तब हम सिर्फ अपने मुल्क की ही बात सोच सकते हैं?...

आज और इससे पहले भी मुझे जिन मुल्कों से हमदर्दी रही है, उस बारे में मुझे कोई भी अफसोस नहीं है। मुझे इस बात का गर्व है कि हिंदुस्तान ने स्पेन की उसके संकट के दिनों में मदद की, चाहे स्पेन आज कितना ही क्यों न गिर जाये। मुझे आज भी उम्मीद है कि गणतंत्री स्पेन फिर ऊपर उठेगा और इसी तरह गणतंत्री चेकोस्लोवाकिया भी। इन दोनों को उनके दोस्तों ने बड़ी बेरहमी से कुचला है। अगर यह मेरा भ्रम भी हो तो भी मैं इनकी ही तरफदारी करूंगा। इसकी वजह यह है कि ये मुल्क मेरी जिंदगी के बेशकीमती मानदंडों के प्रतीक हैं। अगर मैं इनको छोड़ दूं, तब मैं हिंदुस्तान में किस आदर्श को स्थापित कर सकूंगा और हम किस तरह की आजादी के लिए यहां लड़ाई लड़ रहे होंगे?।

---

20 अगस्त, 1939 को *नेशनल हेराल्ड* में प्रकाशित लेख। *सेलेक्टेड वर्क्स,* वाल्यूम 10, पृ. 81-83 से संकलित। जवाहरलाल नेहरू 20 अगस्त, 1939 को चीन गये थे, लेकिन द्वितीय विश्वयुद्ध के छिड़ने पर वह 9 सितंबर, 1939 को ही हिंदुस्तान वापस आ गये।

मैं चीन इसलिए जा रहा हूं क्योंकि यह महान देश मुझे सैकड़ों वजहों से आकृष्ट कर रहा है। इस वक्त जब कि हम संकट में हैं, हिंदुस्तान छोड़ते मुझे बड़ी ही हिचकिचाहट हो रही है। लेकिन हिंदुस्तान में और सारी दुनिया में हमेशा कुछ न कुछ संकट पड़ता है और अब हम इसके आदी हो गये हैं। हम तलवार की धार पर किसी तरह अपना संतुलन बना कर बैठे हैं। यह स्थिति बहुत ही खतरनाक है। हम एक के बाद एक होने वाली घटनाओं का इंतजार कर रहे हैं। युद्ध होगा या नहीं होगा? हिटलर क्या कहते हैं, सिन्योर मुसोलिनी कहां हैं? डैननिग में या निएनत्सिन में या हांगकांग में क्या हो रहा है? क्या मिस्टर चेम्बरलेन मछली मारने गये हुए हैं? लेकिन यह असंतुलित साम्यावस्था कुछ समय तक रहेगी। जब तक यह स्थिति रहती है, उसी बीच हमें अपने काम पर जुट जाना है।

काफी हिचकिचाहट के बाद मैंने चीन जाने का फैसला किया। मैंने यह फैसला इसलिए किया है कि हालांकि वह बहुत दूर है, लेकिन हवाई जहाज के सफर से वह हमारे बहुत ही पास हो गया है और अब दो या तीन दिनों में वहां पहुंचा जा सकता है। जरूरत पड़ने पर वहां जाना और वहां से आना आसान था। हालांकि मैं हिचकिचा रहा था, लेकिन मैंने वहां जाने का फैसला इसलिए किया कि चीन के मेरे दोस्तों का मुझे निमंत्रण था। और मुझे सदियों पुरानी याद आ रही थी। मेरी आंखों के सामने जैसे कोई इतिहास का एक विशाल वितान तान रहा था, हिंदुस्तान और चीन द्वारा सभी क्षणों की भोगी दुख-सुख की घड़ियां याद आ रही थीं, मौजूदा संघर्ष के सभी क्षण काफूर होने लगे थे, जैसे रेगिस्तान में अरबवासी अपने तंबू समेट कर चल देते हैं। हमारा यह वर्तमान भी बीत जायेगा और भविष्य में समा जायेगा; हिंदुस्तान रहेगा और चीन भी रहेगा। दोनों आपस में मिलकर अपने कल्याण के लिए और दुनिया के कल्याण के लिए काम करेंगे।

मैं चीन इस वजह से जा रहा हूं क्योंकि वह आज हम दोनों के दुश्मनों के खिलाफ आजादी की लड़ाई में हिम्मत और हौसले, पक्के इरादे और एकता की एक शानदार मिसाल बन गया है, वह न जाने कितनी मुसीबतें और तबाही झेलकर आज भी सिर उठा कर खड़ा हुआ है। मैं वहां अपनी श्रद्धा और अपनी शुभकामनाएं अर्पित करने जा रहा हूं।

मेरे दोस्तों ने मुझे चेतावनी दी है और इसे खतरनाक और संकटापन्न कहा है। उन्होंने यह सफर न करने के लिए मुझसे बार बार कहा है। अगर हमारे चीनी साथी इन खतरों और संकटों को झेल रहे हैं, तब एक हिंदुस्तानी का वहां जाकर उनका साथ देना कोई गैर मुनासिब बात नहीं है। हम इतने डरपोक नहीं हैं कि इन खतरों और संकटों से भाग खड़े हों। मैं कुछ बूढ़ा जरूर हो रहा हूं, लेकिन जोखिम उठाने की तमन्ना मुझमें अब भी है। क्या मेरे दोस्त यह चाहते हैं कि मैं इस ताकत देने वाली चीज से महरूम रहूं।

मैं दिल पर एक बोझ लेकर चीन जा रहा हूं। बरसों से हम जिस चीज के निर्माण के लिए कोशिश कर रहे हैं, लगता है कि वह बिखर रही है। जो भी बुराइयां दराजों में

छिपी पड़ी थीं, वह अब बाहर आ रही हैं। हम जिस रास्ते पर सिर उठाकर विश्वासपूर्वक चलते थे, वह अजनबी लगने लगा है और जंगली लोगों की भीड़ बढ़ती आ रही है। साहस, त्याग और विश्वास की जगह हमारे दिलों में संकीर्णता, कलह और घिनौने संदेह के बीज उग आये हैं। हम अपने को भूल चुके हैं।

लेकिन जल्दी ही हम फिर अपने आप को पा लेंगे और अपने सभी अवगुणों को समझेंगे, उन्हें ढूंढ़ ढूंढ़ कर खत्म कर देंगे। हम अपने प्यारे हिंदुस्तान की छवि अपने अपने दिलों में लिये मैदान में फिर उतरेंगे, हमारे दिलों में अपने मुल्क को आजाद कराने की लौ जल रही होगी।

मैं चीन जा रहा हूं। लेकिन मेरा दिल हिंदुस्तान में होगा और जहां जहां जाऊंगा, वहां मेरी आंखों में हमेशा हिंदुस्तान की तस्वीर होगी। मैंने इस तस्वीर को अपने इस मुल्क में हजारों बदलती हुई आकृतियों, रूपों और रंगों में देखा है। मुझे जाने-पहचाने लाखों लोगों के चेहरे याद आयेंगे, मैंने इन चेहरों में, उनकी उत्सुक आंखों में झांक कर देखा है और उनमें छिपे भावों को पढ़ने की कोशिश की है। मेरे दिमाग में हिंदुस्तान और चीन का संगम हो जायेगा। मुझे उम्मीद है कि मैं लौटकर वापस आऊंगा और लाऊंगा अपने साथ चीन की एकजुट जनता का हौसला, आशा की दुर्दम्य किरणें और अपार क्षमता।

युद्ध और शांति के उद्देश्य

कांग्रेस की वर्किंग कमेटी ने (14 सितंबर, 1939) यह बयान जारी कर लोगों का ध्यान लड़ाई के कुछ ऐसे पहलुओं की ओर खींचा है, जो बदकिस्मती से उपेक्षित थे। एक तरफ, यह कहा जाता था कि हिंदुस्तान बिना कुछ सोचे-समझे, बिना किसी मकसद या मतलब लड़ाई में कूद रहा है तो दूसरी तरफ बिना किसी ठोस वजह लड़ाई से दूर रहने की आलोचना होती थी। ये दोनों ही दृष्टिकोण नकारात्मक थे क्योंकि इनमें मौजूदा हालत की असलियत और उन तमाम घटनाओं को मद्देनजर नहीं रखा गया है, जो दुनिया में और हिंदुस्तान में हुई हैं। मुल्क को रचनात्मक नेतृत्व देकर वर्किंग कमेटी ने बहुत बड़ी सेवा की है। यह सेवा सिर्फ हिंदुस्तान की नहीं है, बल्कि यह उन सबकी सेवा है, जो आजादी और लोकतंत्र और एक नयी व्यवस्था के आधार पर सोचते हैं और दुनिया में इस तरह के लोग आज बहुत हैं। इस तरह दरअसल में वर्किंग कमेटी ने सारी दुनिया में प्रगतिशील ताकतों का पथप्रदर्शन किया है। हम नहीं जानते कि लड़ाई के इन दिनों में और संचार की मुश्किलों में यह आवाज कहां कहां तक पहुंचेगी और हिंदुस्तान के बाहर कितने लोग इसे सुन सकेंगे। लेकिन हमें पूरा यकीन है कि जिन लोगों तक यह आवाज पहुंचेगी, वे इसका स्वागत करेंगे और युद्ध और शांति के अहम लक्ष्यों के खुलासा किये जाने का समर्थन करेंगे...।

पश्चिमी मित्रराष्ट्रों के युद्ध के घोषित उद्देश्य क्या हैं? हमें बताया गया है कि वे लोकतंत्र और आजादी के लिए नात्सी शासन और हिटलरवाद को खत्म करने, पोलैंड की आजादी के लिए लड़ रहे हैं। मिस्टर चेम्बरलेन ने यह भी कहा है कि चेकोस्लोवाकिया को भी स्वतंत्र किया जाना चाहिए। हम इससे सहमत हैं। लेकिन इतना ही काफी नहीं है, और इसीलिए वर्किंग कमेटी ने ब्रिटिश सरकार को युद्ध और शांति के अपने लक्ष्यों को पूरी तरह और साफ साफ जाहिर करने का यह जो न्यौता दिया है, वह काफो अहम है।

हम इसी दलील को आगे बढ़ाते हैं। अगर हिटलरवाद को खत्म होना है तो लाजिमी तौर पर इसका मतलब यह है कि किसी भी फासिस्ट मुल्क के साथ कोई भी समझौता नहीं होना चाहिए। इसका मतलब यह है कि जापानी और इतालवी आक्रमण का मुकाबला

नेशनल हेराल्ड में 22-24 सितंबर, 1939 को प्रकाशित संपादकीय से। *सेलेक्टेड वर्क्स,* वाल्यूम 10, पृ. 148-49, 154-58 से उद्धृत

किया जाना चाहिए और जहां तक मुमकिन है चीन को उसकी आजादी की लड़ाई में मदद देना हमारी नीति होनी चाहिए। इसका यह भी मतलब है कि फासिज्म के बारे में जो पालिसी अपनायी जाये, वही साम्राज्यवाद के बारे में अपनायी जानी चाहिए और दोनों का खात्मा होना चाहिए। हर हालत में और अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में चाहे जो भी घटनाएं हो, हमारा हिंदुस्तान आजाद और मुक्त होना चाहिए। लेकिन फिलहाल हम साम्राज्यवाद के विश्व संदर्भ में हिंदुस्तान की आजादी के बारे में विचार कर रहे हैं। फासिज्म को बुरा-भला कहना और साम्राज्यवाद की रक्षा या उसे बनाये रखने की कोशिश करना एक नामुनासिब और बेतुकी बात है। जो दुनिया फासिज्म को काफी देख चुकी है, वह साम्राज्यवाद को बरदाश्त नहीं कर सकती। इस तरह फासिज्म के खिलाफ संघर्ष का लाजिमी तौर पर नतीजा यह है कि साम्राज्यवाद को भी खत्म किया जाना चाहिए, नहीं तो उस संघर्ष का सारा उद्देश्य ही विफल हो जायेगा और यह संघर्ष दो विरोधी साम्राज्यों के बीच ताकत हासिल करने की लड़ाई बन कर रह जायेगा।

इस युद्ध के उद्देश्यों के बारे में जो घोषणा की जाये, उसमें ये बातें शामिल होनी चाहिए: हिटलर ने जिन मुल्कों पर कब्जा कर लिया है, उनकी मुक्ति, नात्सी शासन का अंत, किसी भी फासिस्ट ताकत के साथ युद्ध विराम या कोई दूसरा समझौता न करना और साम्राज्यवादी ढांचे को खत्म कर लोकतंत्र और आजादी की स्थापना और खुद निर्णय करने का सिद्धांत लागू करना। निश्चय ही कोई भी गुप्त संधि, विजय, क्षतिपूर्ति और औपनिवेशिक क्षेत्रों के बारे में सौदेबाजी नहीं होनी चाहिए। उपनिवेशों में भी खुद निर्णय का सिद्धांत लागू किया जाना चाहिए और उन्हें लोकतांत्रिक बनाने के लिए कदम उठाये जाने चाहिए। मानव प्राणी की विभिन्न जातियों के आधार पर सभी तरह के भेदभाव खत्म होने चाहिए। हम उपनिवेशों में रहने वाले लोगों की लाशों पर शांति के लिए कोई भी समझौता नहीं मंजूर कर सकते।

हम यह सुझाव किसी सौदेबाजी की भावना से नहीं दे रहे हैं, न हमारी इच्छा किसी को मुश्किल में देखकर फायदा उठाने की है। इस मुश्किल में हम सहानुभूति प्रकट करते हैं, लेकिन इस सहानुभूति का यह मतलब नहीं कि हम अपनी मुश्किलों और कमजोरियों को भूल जायें। अगर हम पोलैंड और चेकोस्लोवाकिया की आजादी चाहते हैं तो उससे कहीं ज्यादा हम चीन की आजादी चाहते हैं। इसी प्रसंग में अगर हम हिंदुस्तान को पहले आजाद होना देखना चाहते हैं तो यह कोई संकीर्ण स्वार्थ नहीं है। अगर हम खुद आजाद नहीं हैं तो हमारे लिए आजादी के कोई माने नहीं रह जाते। अगर हम किसी दूर के मुल्क की आजादी के लिए शोर मचायें और खुद गुलामी के आगे घुटने टेक दें, तब यह खाली मजाक के सिवा और कुछ नहीं होगा। युद्ध के नजरिये से देखने पर भी यह आजादी जरूरी जान पड़ती है, जिससे इसे जनता की लड़ाई में तब्दील कर दिया जाये जो लोगों को एक

ऐसे मकसद को हासिल करने के लिए, साहस और त्याग करने के लिए प्रेरित करती है, जिसे वह अपना मकसद समझते हैं। चूंकि यह लड़ाई महीनों और सालों चलेगी और जब सारे मुल्क के लोग थक जायेंगे, तब बड़ी मुश्किल से मिली अपनी आजादी की रक्षा करने की भावना ही काम आयेगी। भाड़े की फौजें चाहे जितनी भी दक्ष हों, उनसे और स्वार्थपूर्ण उद्देश्यों से युद्ध नहीं जीता जा सकता।

हिंदुस्तान के बारे में ब्रिटिश सरकार को पहला कदम यह उठाना चाहिए कि वह सार्वजनिक रूप से घोषणा कर यह कहे कि वह हिंदुस्तान को एक ऐसे आजाद मुल्क के तौर पर मान्यता देती है, जो अपना संविधान खुद बना सकता है। हमें यह स्वीकार करने में कोई हिचक नहीं है कि यह घोषणा पूरी तरह तुरंत लागू नहीं की जा सकती, लेकिन जैसा कि वर्किंग कमेटी ने कहा है, जरूरी है कि जितना भी मुमकिन हो, इसे अभी लागू किया जाये। क्योंकि इसे लागू करने से लोगों के दिल और दिमाग पर असर पड़ेगा और दुनिया भी प्रभावित होगी। इसे लागू करने में युद्ध का संचालन ठीक तरीके से होगा और इससे इसे ताकत मिलेगी। यह ताकत तभी आ सकती है, जब जनता अपनी मर्जी से इसे एक बड़ा काम समझ कर इसमें जुट जाये। हम जो कुछ भी करेंगे, वह हम अपनी इच्छा और रुचि के अनुसार करेंगे। हमारी यह कोशिश मिल-जुल कर की गयी कोशिश होगी, क्योंकि तब हमारी कोशिश समान ध्येय को पूरा करने के लिए स्वैच्छिक सहयोग पर आधारित होगी।

बदकिस्मती से ब्रिटिश सरकार ने जैसा कि उसका तरीका रहा है, पहले ही ऐसा काम कर दिया कि जिससे इस सवाल पर मुनासिब तरीके से हमारा सहयोग देना मुश्किल हो गया है। उसने गवर्नमेंट आफ इंडिया एक्ट एकेडिम बिल को हाउस आफ कामन्स के जरिये सभी मंजिलों को पार करते हुए सिर्फ ग्यारह मिनटों में ही पास कर दिया, जब कि उसे यह भलीभांति मालूम था कि हम इसके बिल्कुल ही खिलाफ थे। इसी तरह हिंदुस्तान में कानून और आर्डिनेंसों को लागू करने में जल्दबाजी की गयी। इंडिया आफिस और हिंदुस्तान की सरकार अब भी उसी जमाने में रह रही है, जो बहुत पहले कभी का गुजर चुका है, वह न तो तरक्की करते हैं, न कुछ सीखते हैं और न ही खुद याद रखते हैं। यहां तक कि युद्ध के आघात से भी उनके सोचने के तरीके या उनके पुराने तरीकों पर कोई भी असर नहीं पड़ा है। वह हिंदुस्तान की बिल्कुल भी परवाह नहीं करते, वह यह नहीं समझते कि क्रांति के इस जमाने में किसी की भी अनदेखी नहीं की जा सकती, हिंदुस्तान की तो और भी नहीं क्योंकि यह ऊपर से तो शांत दिखता है, लेकिन हर तरह की ताकतें और भावनाएं इसे भीतर ही भीतर झकझोर रही हैं।

फिर भी दृष्टिकोण की इस कठिनाई के बावजूद वर्किंग कमेटी ने सच्ची राजनीति की भावना से ब्रिटिश जनता और दूसरे मुल्कों की जनता की ओर अपना हाथ बढ़ाया और

सहयोग की पेशकश की है, जो आजादी के मकसद से लड़ाई लड़ रही है। हिंदुस्तान सिर्फ इज्जत और आजादी के आधार पर सहयोग कर सकता है, नहीं तो वह सहयोग देने की स्थिति में नहीं है। इसके अलावा जो भी दूसरा तरीका होगा, वह सिर्फ थोपने की बात होगी और अब हम इसे और ज्यादा बरदाश्त नहीं कर सकते...।

यह साफ जाहिर है कि युद्ध के बारे में अगर हिंदुस्तान की नीति को जनता का समर्थन चाहिए तो यह नीति जनता के ऐसे प्रतिनिधियों द्वारा लागू की जानी चाहिए, जिन पर उसका विश्वास हो। जो पूर्वाग्रह पीढ़ियों से चले आ रहे हैं, उन्हें दूर करना और जनता को इसे अपना काम समझने के लिए तैयार करना आसान नहीं है। यह तभी हो सकता है, जब हम उसके सामने अपनी नीतियों को स्पष्ट करें और यह यकीन दिला कर उसका विश्वास हासिल कर लें कि यह उनके और सारी दुनिया के हित में है। लोकतंत्र इसी तरह काम करता है। हमें उन मोटी मोटी नीतियों को भी समझना होगा, जिनको ध्यान में रखकर युद्ध का संचालन किया जा रहा है, जिससे हम उनको जनता और विश्व के सामने रखकर उचित साबित कर सकें।

हर मुल्क की युद्ध नीति में लाजिमी तौर पर सबसे पहले उस मुल्क की सुरक्षा का ध्यान रखा जाना चाहिए। हिंदुस्तान के लोगों को यह महसूस करना चाहिए कि जब वह अपने मुल्क की सुरक्षा में, अपनी आजादी को बनाये रखने के कामों में हिस्सा ले रहे होते हैं, तब वह दूसरी जगहों की आजादी की लड़ाई में भी हिस्सा ले रहे होते हैं। यहां की फौज भाड़े की फौज न होकर, जिसकी निष्ठा किसी दूसरे मुल्क के साथ होती है, एक राष्ट्रीय फौज होगी। फौज में भर्ती इसी राष्ट्रीय आधार पर होनी चाहिए, जिससे हमारे सिपाही सिर्फ तोपों की खुराक न बनकर रहें, बल्कि अपने मुल्क के लिए और आजादी के लिए लड़ने वाले सिपाही हों। इसके साथ ही नागरिक सुरक्षा के लिए नागरिक सेना के रूप में बड़े पैमाने पर एक विशाल संगठन भी होना चाहिए। ये सारी बातें वही सरकार कर सकती है, जो लोकपिय्र हो।

इससे भी ज्यादा जरूरी है उद्योगों का विकास, जिससे कि युद्ध की बाकी दूसरी जरूरतों के मुताबिक माल की सप्लाई होती रहे। लड़ाई के दौरान, हिंदुस्तान में बड़े पैमाने पर उद्योगों का विकास होना चाहिए। उन्हें ऊलजुलूल तरीके से नहीं बढ़ने देना चाहिए, बल्कि यह विकास राष्ट्रीय हित में और कर्मचारियों की सुरक्षा का मुनासिब इंतजाम करते हुए सुनियोजित और नियंत्रित ढंग से होना चाहिए। इस काम में नेशनल प्लानिंग कमेटी बहुत सहायक हो सकती है...।

आखिरी बात यह है कि शांति सम्मेलन में हिंदुस्तान को एक आजाद मुल्क की तरह से हिस्सा लेना चाहिए।

हमने यह बताने की कोशिश की है कि जो लोग लोकतंत्र की बातें करते हैं, युद्ध

और शांति के बारे में उनके उद्देश्य को हिंदुस्तान में किस तरह लागू किया जाना चाहिए। यह ब्यौरा पूरा तो नहीं है, लेकिन आगे काम करने के लिए यह एक ठोस आधार है और इसके लिए जितनी बड़ी कोशिश की जरूरत है, उसे प्रेरणा देनेवाला है। हमने लड़ाई खत्म हो जाने के बाद दुनिया के पुनर्गठन की समस्या पर कोई गौर नहीं किया है, हालांकि हम समझते हैं कि यह पुनर्गठन जरूरी है और यह होना लाजिमी भी है।

क्या दुनिया के राजनेता और आम लोग, खासतौर से वे जो लड़ाई लड़ रहे हैं, इतने बुद्धिमान और दूरदर्शी हैं कि उस रास्ते पर चलें जो हमने सुझाया है। हम नहीं जानते। लेकिन यहां हिंदुस्तान में, हम लोगों को अपने मतभेद भुला देने चाहिए, वामपंथी या दक्षिणपंथी होने का ख्याल छोड़ देना चाहिए और इन महत्वपूर्ण समस्याओं के बारे में सोचना चाहिए, जो हमारे सामने हैं और जो बार बार अपना समाधान मांग रही हैं। संसार संभावनाओं से भरा हुआ है। यहां कमजोर या अक्षम या असंगठित लोगों पर कोई रहम नहीं करता। आज बहुत-से मुल्क अपना अस्तित्व बनाये रखने के लिए आखिरी लड़ाई लड़ रहे हैं। जो इतिहास बन रहा है, उसमें वे लोग ही कोई भूमिका अदा कर सकेंगे, जो दूरदर्शी हैं, जो अनुशासनबद्ध हैं और जो एकजुट हो काम करेंगे।

जंग खत्म हुई

आज पांच साल आठ महीने के बाद बमुश्किल यूरोप की जंग खत्म हुई, ऐसा लगता था कि यह खत्म ही नहीं होगी। हालांकि सरकारी तौर पर अभी ऐलान नहीं किया गया है, लेकिन मेरा ख्याल है कि यह अब खत्म है। यह अचानक और बहुत ही झटपट हुआ, हालांकि इसके खत्म होने के आसार काफी पहले दिखाई दे रहे थे।

इन सालों में यूरोप और खासतौर से पोलैंड, रूस और जर्मनी ने बेहद मुसीबतें झेलीं। आज अखबार की सुर्खी थी--राख का ढेर बर्लिन। दुनिया को चुनौती देने वाले हिटलरवाद और नात्सीवाद की राख भी इसी ढेरी में है।

हिटलर के उदय के बाद यूरोप में पिछले बारह सालों में क्या हुआ--लगातार जीतते हुए फौजों का बढ़ना, जंगलियों जैसा बर्ताव, घमंड के साथ दुनिया की अपील की अनदेखी, बेइंतिहा ताकत, विरोधी खेमों और खासतौर से यहूदियों, सार, सूडेटेनलैंड, म्यूनिख, प्राह और चेकोस्लोवाकिया--पोलैंड लाइन के मुल्कों के सुझाव को ठुकराना और उसके बाद जंग। और यह जंग भी कैसी? कुछ दिनों तक हमेशा जीतना और उसके बाद बुरी तरह हारना और तबाही और बरबादी।

मेरा दिमाग इन बीते हुए सालों की ओर जाता है और एक एक कर कई तस्वीरें सामने आती हैं। मेरा दिमाग आखिरी सीन पर टिक जाता है--आज जर्मनी का काफी बड़ा हिस्सा खंडहर और बियाबान है। शान-शौकत और घमंड का यह नतीजा है। लेकिन नाजी जर्मनी मुश्किल से, बड़ी मुश्किल से खत्म हुआ। यहां बहादुरों की कमी नहीं थी। कौन ऐसा मुल्क है, जो पिछले कई महीनों तक चारों ओर से घिर जाने और त्रस्त होने के बावजूद जिंदा बना रहा है? मेरे ख्याल में यह रूस है।

यूरोप की जंग खत्म हुई या हो जायेगी। इसकी बहुत दिनों से उम्मीद थी, लेकिन यह अचानक और तुरत-फुरत खत्म हो गयी। पर यह जंग अभी पूरी तरह नहीं खत्म हुई है और दुनिया के कई और हिस्सों में होती रहेगी। जहां तक शांति का ताल्लुक है, यह

---

7 मई, 1945 को जब दूसरा विश्वयुद्ध यूरोप में खत्म हुआ, तब जवाहरलाल नेहरू जेल में थे। पहला अंश 30 अप्रैल, 1945 को लिखी एक टिप्पणी में से है। यह *सेलेक्टेड वर्क्स,* भाग 13 में पृष्ठ 615 पर 'जेल डायरी' के रूप में संकलित है। दूसरा अंश इन्दिरा गांधी को 1 मई, 1945 को लिखे जवाहरलाल नेहरू के एक पत्र में से है। *सेलेक्टेड वर्क्स,* भाग 13 में पृष्ठ 616-17 पर संकलित

यूरोप में भी बहुत दिनों के बाद आयेगी। खैर, खून-खराबे और दिल को दहलाने वाला दौर खत्म हुआ। ज्यों ज्यों दिन बीतते जायेंगे, इसे हम धीरे धीरे भूल जायेंगे और कहेंगे कि कभी ऐसा भी हुआ था और हमारा गुस्सा काफी कम हो जायेगा। अच्छा हुआ कि यह पूरी या कुछ खत्म हो गयी। जंग के दौरान लूटपाट हुई, खून-खराबा हुआ, दया नाम की कोई चीज नहीं रह गयी और लोगों ने तरह तरह की मुसीबतें उठायीं, जो बयान से बाहर हैं। हमारे दिमाग ने काम करना बंद कर दिया और हम बुत बन गये, कहने-सुनने की ताकत जैसे जाती रही। हम अभी भी डरे हुए हैं और सुन्न-से हैं। चीन को छोड़कर जितना खून-खराबा और जितनी तबाही यूरोप के बहुत से हिस्सों में हुई, उतनी दुनिया के किसी भी हिस्से में नहीं हुई। पूर्वी और मध्य यूरोप में खंडहर और राख के सिवा कुछ नहीं दिखता। इस आग की लपटें और मौत का साया स्टालिनग्राड और पूरब में काकेशस से लेकर जर्मनी को पार करता हालैंड और बेल्जियम तक फैल गया है। यूरोप महाद्वीप के न जाने कितने बड़े बड़े नगर खंडहर बन गये हैं। पेरिस, रोम और प्राह अब भी हैं। इन शहरों में ज्यादा तोड़-फोड़ नहीं हुई दिखती, लेकिन इन शहरों में वह चहल-पहल कहां जो पहले होती थी। पुरानी चहल-पहल तो वापस आने से रही, लेकिन यहां शायद सब ठीक-ठाक हो जाये। लेकिन वारसा, कीव, स्टालिनग्राड, बुडापेस्ट, ड्रेसडेन, लेनिनग्राड, बर्लिन अब वैसे नहीं रह गये, जैसे वे पहले थे और इन शहरों को फिर से बसने में काफी वक्त लगेगा।

पांच साल और आठ महीने। मैं उस दिन को सोचता हूं, जब मैंने चुड किड में पोलैंड पर जर्मनी के हमले और यूरोप में जंग के छिड़ने की खबरें सुनी थीं। जंग शुरू होने के बाद इस दौर में अचानक कितनी उठक-पटक हुई, इंसानियत जैसे नहीं रही और फिर तकदीर ने पलटा खाया। इससे भी पीछे के दिनों यानी जब से हिटलर ताकतवर हुआ, तब से बारह साल, कैसी कैसी रद्दोबदल, क्या शानदार जीत और हार की वारदात हुई कि यकीन नहीं होता। इससे भी पीछे के दिनों पर गौर किया जाये—पिछली जंग और उसके खत्म होने के बाद मुसीबतों का पहाड़। इस तरह हमने दो जंग देखीं और यह कहानी चलती रहती है। लगता है कि यूरोप में असलियत में यह जंग खत्म नहीं हुई है, लेकिन इसे तुरंत खत्म होना चाहिए। यह आगे नहीं चल सकती। लेकिन पूरब की जंग। यह अभी कुछ और चल सकती है, लेकिन यह भी खत्म होगी। और उसके बाद। बहुत-से और झगड़े, झंझट और मुश्किलें, सच्चाई और कल्पना, असली अमन-चैन की तलाश, जो हाथ नहीं लगती और जिसे हासिल करना कितना मुश्किल है...।

विनाश की ओर

अब मुझसे एटमी बमों के परीक्षणों के बारे में मेरी राय पूछी गयी। उस समय मैं कुछ नहीं बोला, लेकिन मेरा ध्यान अपनी सभ्यता की हाल की इस तरक्की की ओर बराबर खिंचता गया, और आगे क्या होगा, इसकी अनगिनत तस्वीरें खिंचने लगीं।

सबसे पहली बात मुझे तो यह अजीब लगी कि यह परीक्षण कितनी ताम-झाम और शोहरत के साथ हुआ, जिसके लिए अमेरिका मशहूर है। आमतौर पर जंगी दफ्तर अपने हाल के हथियारों के बारे में कोई चिल्लपों नहीं करते और खासतौर से उसे पूरी तरह छिपा कर रखते हैं। यह सही है कि इस तरह के परीक्षण को बिल्कुल छिपाया नहीं जा सकता। लेकिन फिर भी, जब तक कोई खास मकसद नहीं हो, तब तक जानबूझ कर इसका प्रचार करने की भी कोई जरूरत नहीं थी।

इसकी वजह क्या हो सकती है? यही न कि दुनिया को और सभी लोगों को अमेरिका की यह ताकत बता दी जाये और यह बता दिया जाये कि अमेरिका किसी भी कौम या मुल्क को, जो उसकी पालिसी से मेल नहीं रखते हों, कभी भी खत्म कर सकता है। यह एक चुनौती थी, धमकी थी। दुनिया के विदेशमंत्री आपस में जो बातें किया करते हैं और यू.एन.ओ. में जो बहस-मुबाहिसे होते हैं, उसकी यह तस्वीर थी। यह अगली जंग माने तीसरी जंग की ओर इशारा था।

अमन-चैन लाने या लोगों के दिलों में उस खौफ को दूर भगाने का यह तरीका नहीं है, तो अक्सर जंग का सबब क्या है। जाहिर है कि यह डर बढ़ेगा, सारे मुल्क और सारी कौम इसकी गिरफ्त में आ जायेगी और हर कोई इस हथियार को हासिल करना चाहेगा और इससे अपने बचाव के लिए तदबीर सोचेगा।

अमन-चैन हमसे बहुत दूर है, इसके सारे सपने धुंधले पड़ चुके हैं और मनुष्य जाति अपनी तबाही की ओर बढ़ रही है। हमें एटम बम मिल गया, जो सारी दुनिया को उड़ा सकता है। लेकिन कोई भी बम हमारे नेताओं और हुक्मरानों के दिमाग को नहीं झकझोर सका है, जो अपने दकियानूसीपने से निकल नहीं सकते और जो अब भी अपने पुराने ख्यालों

---

1 जुलाई, 1946 को बिकनी द्वीप समूह पर संयुक्त राज्य अमेरिका द्वारा अणुबम का परीक्षण करने पर 2 जुलाई, 1946 के *नेशनल हेराल्ड* में प्रकाशित संपादकीय से। *सेलेक्टेड वर्क्स*, भाग 15 में पृ. 543-44 पर संकलित

को बनाये रखना चाहते हैं। हम चार तरह की आजादी और उस बहादुर नयी दुनिया के बारे में भी काफी सुन चुके हैं, लेकिन जो आजादी इंसान को अब मिलने वाली है, वह मरने और अपने जिस्म को बोटी बोटी कर उड़ा देने की आजादी होगी; साथ ही लोकतंत्र, आजाद रहने और चार और तरह की आजादी भी होगी।

क्या लफ्जों के मायने अब कुछ नहीं रह गये हैं? क्या लोगों को कोई भरोसा नहीं रह गया? यह जरूर पागलपन की निशानी है और हमारे महान नेता, जो हमारी तकदीर का फैसला करते हैं, खतरनाक हो रहे हैं। वह सिर्फ अपने बारे में सोचते हैं, वे पागल रोगी हैं, उन्हें घमंड हो गया है, वे अपनी ताकत के नशे में हैं। वे छोटी छोटी बातों पर अड़े हुए हैं। वे सही तरीके से सोचने और सही काम करने के बजाय सारी दुनिया पर कहर बरसाने और उसे तबाह करने पर तुल गये हैं।

यह बड़े ही ताज्जुब और शर्म की बात है कि ये लोग ऐसे मौके पर पागल हो गये हैं, जब कि दुनिया अपने उस लक्ष्य को पाने के काफी नजदीक थी, सदियों से जिसे चाहा जा रहा था और जिसका सपना देखा जा रहा था। दुनिया के हर मुल्क में रहने वाले लोगों के लिए शांति, सहयोग और खुशहाली उनकी पहुंच में है। लेकिन शायद ईश्वर को इंसान की तकदीर से डाह होने लगी थी और उसने उसे पागल कर दिया है।

कोई नहीं कह सकता कि इंसान की तकदीर में सिर्फ यही पागलपन या मौत लिखी है या कुछ अच्छा भी लिखा है। लेकिन यह तय है कि एटम बम का यह रास्ता शांति या आजादी की ओर नहीं जाता। यह सिर्फ एक ही मकसद पूरा कर सकता है कि वह उन लोगों को खत्म कर दे, जो हुकूमत में ताकत के नशे में हैं, जो दूसरों पर हावी होना चाहते हैं, जिन्हें सिर्फ अपनी कौम प्यारी है और जो दूसरों को बराबरी का दर्जा नहीं देना चाहते, जो दूसरों की मेहनत और जिल्लत पर जिंदा हैं, जो तब खुशहाल रह सकते हैं जब कि बाकी लोग भूखे रहें और मरते रहें।

एशिया जाग उठा

दोस्तो और एशियावासी साथियो! आप सबको, एशिया के नर-नारियों को यहां कौन-सी चीज लायी है? एशिया के मादरी महाद्वीप में मुख्तलिफ मुल्कों से आप सब क्योंकर आये और इस दिल्ली में, जो एक बहुत पुराना शहर है, क्योंकर इकट्ठा हुए हैं? हमारे कुछ साथियों ने बड़ी जुर्रत की और उन्होंने इस कांफ्रेंस में आने के लिए आपको न्योता भेजा, आपने इस न्यौते को बड़ी गर्मजोशी के साथ कुबूल किया। लेकिन आपके आने की वजह सिर्फ यह न्यौता नहीं है, बल्कि कोई गहरी बात है जो आप सबको यहां लायी है।

हम ऐसे वक्त में यहां इकट्ठे हुए हैं, जब इतिहास में एक युग खत्म होने को है और नया युग शुरू हो रहा है। हम इस दहलीज पर, जो इंसान के इतिहास और उसकी तरक्की के एक युग को दूसरे युग से अलग करती है, खड़े होकर अपने लंबे बीते जमाने की ओर देख सकते हैं और साथ साथ इस आने वाले जमाने को भी देख सकते हैं, जो हमारे सामने एक शक्ल ले रहा है। बहुत दिनों तक कोने में चुपचाप रहने के बाद दुनिया के मामलों में एशिया को फिर से अहमियत हासिल हो रही है। अगर हम एक हजार बरस का इतिहास देखें, तब हमें पता लगेगा कि एशिया महाद्वीप और मिस्र ने, जिसका इसके साथ गहरा सांस्कृतिक ताल्लुक रहा है, मानवता के विकास में बहुत बड़ा योगदान दिया है। यह वह महाद्वीप है, जहां से सभ्यता शुरू हुई और इंसान ने तरक्की के लिए जिंदगी का एक न खत्म होने वाला सफर शुरू किया था। इस महाद्वीप में ही इंसान के दिमाग ने सच्चाई की लगातार खोज की और इसी महाद्वीप में इंसान की प्रतिभा का सूरज उगा था, जिसकी रोशनी ने सारी दुनिया को रोशन किया था।

यह एशिया, जो कभी प्रगति का मरकज था, जहां से चारों ओर संस्कृति की धाराएं फूटती थीं, धीरे धीरे बाद में जड़ हो गया, यहां तरक्की होनी बंद हो गयी। और तब दूसरे मुल्क और महाद्वीप आगे आये और जानदार होने की वजह से फैल गये। उन्होंने दुनिया के कई हिस्सों पर अपना कब्जा जमा लिया। हमारा यह विशाल महाद्वीप यूरोप की साम्राज्यवादी ताकतों के एक मैदान के रूप में बदल गया और मानवीय सभ्यता की तरक्की और इतिहास का केंद्र यूरोप हो गया।

---

23 मार्च, 1947 को नयी दिल्ली में 'एशियन रिलेशंस कांफ्रेंस' का उदघाटन भाषण, *जवाहरलाल नेहरू'ज स्पीचेज,* वाल्यूम एक, पृष्ठ 297-304

अब फिर कुछ सुगबुगाहट नजर आने लगी है और एशिया फिर जाग रहा है। हम एक बहुत बड़ी क्रांति के युग में रह रहे हैं। जब एशिया को दूसरे महाद्वीपों के बराबर सही दर्जा मिलेगा, तब तक हमारा महाद्वीप एक नयी शक्ल ले चुका होगा।

हम इसी अहम मौके पर यहां इकट्ठे हुए हैं। हिंदुस्तान की जनता को इस बात का फख्र है कि उसे अपने एशिया के जुदा जुदा मुल्कों से आये लोगों का स्वागत करने, उनके साथ मौजूदा हालात पर और भविष्य के बारे में बातचीत करने और आपस में तरक्की, खुशहाली और दोस्ती करने का मौका हासिल हो रहा है।

एशियाई कांफ्रेंस करने का यह सुझाव कोई नया सुझाव नहीं है। इस बारे में बहुत लोग सोचा करते थे। बेशक ताज्जुब की बात यह है कि बहुत बरसों पहले यह क्यों नहीं हुई, शायद उस वक्त इसके लिए ठीक मौका न रहा हो, अगर कोई कोशिश होती भी तो शायद वह नाकाम रहती और दुनिया के हालात के साथ मेल नहीं खाती। यह तो संयोग की बात है कि हिंदुस्तान में हमने यह कांफ्रेंस बुलायी, लेकिन इस तरह की कांफ्रेंस करने का ख्याल एक साथ कई लोगों के दिलों में आया और कई मुल्कों ने एक साथ इस बारे में सुझाव दिये। इस तरह सभी ने इसकी जरूरत को समझा और यह भी समझा कि यह वक्त सही वक्त है, जब एशिया के लोग आपस में मिलें, बातचीत करें और एक साथ तरक्की करें। यह महज खामख्याली नहीं थी, बल्कि हालात ऐसे हो रहे थे, जिन्होंने हमें इस नजरिये से सोचने के लिए मजबूर किया। इसी वजह से हिंदुस्तान ने जो बुलावा भेजा, उसका लोगों ने स्वागत किया और एशिया के हर मुल्क ने हमें खुशी खुशी इस कांफ्रेंस में शामिल होने के लिए अपनी अपनी मंजूरी भेजी।

हम आप सब–चीन से, जिसके लिए एशिया शुक्रगुजार है और जहां से बहुत कुछ उम्मीदें हैं; मिस्र और पश्चिमी एशिया के अरब मुल्कों से, जो उस महान संस्कृति के दावेदार हैं, जो दूर दूर तक फैली और जिसने हिंदुस्तान पर गहरा असर डाला है; ईरान से, जिसके साथ हिंदुस्तान के ताल्लुकात इतिहास की शुरुआत से ही हैं; इंडोनेशिया और इंडोचीन से, जिनका इतिहास हिंदुस्तान के इतिहास के साथ आपस में गुंथा हुआ है, जहां आजादी की लड़ाई अभी तक जारी थी, जो यह याद दिलाते हैं कि आजादी जीतने के बाद हासिल होती है, खैरात में नहीं मिलती; तुर्की से जिसे एक महान नेता ने नयी शक्ल दी है; कोरिया और मंगोलिया, स्याम, मलाया और फिलीपींस तथा एशिया के सोवियत गणराज्य से, जिन्होंने हमारी पीढ़ी में ही तेजी से तरक्की की है और जिनसे अभी बहुत कुछ सीखना है; अपने पड़ोसी मुल्क अफगानिस्तान, तिब्बत, नेपाल, भूटान, बरमा, और सीलोन से जिनसे हम खासतौर से सहयोग, घनिष्ठ दोस्ताना संबंध की उम्मीद करते हैं–डेलीगेटों और प्रतिनिधियों का स्वागत करते हैं। इस कांफ्रेंस में एशिया के सभी मुल्कों से काफी तादाद में प्रतिनिधि आये हुए हैं। अगर दो एक मुल्क अपने प्रतिनिधि नहीं भेज सके हैं, तो इसकी वजह यह

नहीं है कि उन्हें इस कांफ्रेंस में कोई दिलचस्पी नहीं है, बल्कि उनके रास्ते में कुछ ऐसे हालात आड़े आ गये जिन पर उनका कोई बस नहीं था। हम आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंड से आये प्रेक्षकों का भी स्वागत करते हैं क्योंकि हमारे बीच खासतौर से प्रशांत महासागर और एशिया के दक्षिण-पूर्वी क्षेत्र में बहुत-सी समस्याएं एक जैसी हैं और हमें इन समस्याओं का हल ढूंढ़ने के लिए एक-दूसरे के साथ सहयोग करना है।

हम जब यहां मिल रहे हैं, तब एशिया का पुराना रूप हमारी आंखों के सामने आ जाता है, हजारों यादें ताजा हो जाती हैं और हाल के बरसों की मुसीबतें पीछे चली जाती हैं। लेकिन मैं आपके सामने पुराने जमाने के गौरवपूर्ण इतिहास, विजय और पराजय की बातें नहीं कहूंगा और हाल की उन परेशानियों के बारे में भी कुछ नहीं कहूंगा, जिन्होंने हमें काफी तंग किया है और जो अब भी कुछ हद तक थोड़ा-बहुत तंग किये हुए हैं। पिछले दो सौ बरसों के दौरान हमने पश्चिम के साम्राज्यवाद को पनपते और एशिया के बहुत-से हिस्सों को उपनिवेशों या अर्ध-उपनिवेशों में बदलते देखा है। इन बरसों में बहुत कुछ हुआ, लेकिन एशिया में यूरोपियनों की हुकूमत का सबसे ज्यादा अहम नतीजा यह हुआ कि एशिया के मुल्क एक-दूसरे से बिल्कुल अलग-थलग हो गये। हिंदुस्तान का हमेशा उत्तर-पश्चिम, उत्तर-पूर्व, पूरब और दक्षिण-पूरब में पड़ोसी मुल्कों के साथ संबंध और आना--जाना रहा था। हिंदुस्तान में अंग्रेजी हुकूमत के आने के बाद यह ताल्लुकात खत्म हो गये और वह एशिया के बाकी मुल्कों से आमतौर पर बिल्कुल अलग-थलग हो गया। आने-जाने के लिए थल के रास्ते लगभग खत्म हो गये। बाहरी मुल्कों के साथ संबंध के लिए समुद्र का रास्ता शुरू हो गया, जो इंग्लैंड जाता था। इसी तरह की बात एशिया के दूसरे मुल्कों में भी हुई। उनकी अर्थव्यवस्था यूरोप के कुछ साम्राज्यवादी या दूसरे मुल्कों पर निर्भर हो गयी। यहां तक कि संस्कृति के विकास के लिए भी वह अपने दोस्तों और पड़ोसियों की ओर, जिनसे उन्होंने गुजरे जमाने में काफी कुछ सीखा था, देखने के बजाय यूरोप की ओर मुखातिब रहने लगे।

आज यही अलग-थलग रहने की स्थिति सियासी और दूसरे कई कारणों से खत्म हो रही है। पुराने साम्राज्यवादी मुल्क अब हल्के पड़ रहे हैं। थल के रास्ते फिर शुरू हो रहे हैं और हवाई जहाज से सफर शुरू होने से अचानक हम एक-दूसरे के नजदीक आ गये हैं। यह कांफ्रेंस हम सबके दिलों में एशिया की भावना और आपस में मिलने-जुलने की चाह का सबूत होने की वजह से बहुत अहमियत रखती है। यह चाह यूरोपीय हुकूमत के दौरान अलग-थलग रहने की भावना के पैदा होने के बावजूद हमारे दिलों में बनी रही। हमारे चारों ओर जो दीवारें बन गयी हैं, इस यूरोपीय हुकूमत के जाते ही वे ढह जायेंगी और हम बरसों से बिछुड़े हुए दोस्तों की तरह आपस में मिलेंगे और एक होंगे।

इस कांफ्रेंस में और इस काम में कोई नेता नहीं है और कोई किसी के पीछे चलने

वाला नहीं है। एशिया के सभी मुल्कों को एक आम मकसद और एक आम कौम के लिए बराबरी के दर्जे पर आपस में मिलना है। एशियाई विकास के इस नये दौर में हिंदुस्तान को अपना सहयोग देना ही चाहिए, जो उसके लायक है। हिंदुस्तान इस हकीकत के बावजूद कि वह जल्दी ही आजाद होने वाला है, एशिया में बहुत-सी ताकतों का, जो फिलहाल काम कर रही हैं, केंद्र बिंदु है और एक स्वाभाविक केंद्र है। भूगोल एक अहम कसौटी होता है। भौगोलिक नजरिये से देखा जाये तो इसकी स्थिति ही ऐसी है कि यह एशिया के पश्चिमी, उत्तरी, पूर्वी और दक्षिण के हिस्सों का मिलन बिंदु है। इस वजह से हिंदुस्तान का इतिहास एशिया के दूसरे मुल्कों के साथ उसके संबंधों का इतिहास है। हिंदुस्तान में पश्चिम और पूरब से संस्कृति की कई धाराएं आयीं और यहां खप गयीं, इन्होंने एक भरी-पूरी और बहुत-से पहलुओं वाली संस्कृति को जन्म दिया, यही आज का हिंदुस्तान है। इसके साथ ही साथ हिंदुस्तान से संस्कृति की अनेक धाराएं एशिया में दूर दूर तक गयीं। अगर आप हिंदुस्तान को जानना चाहते हैं, तब आपको अफगानिस्तान और पश्चिमी एशिया, मध्य एशिया, चीन और जापान और दक्षिण-पूर्व एशिया जाना होगा। इन मुल्कों में आपको हिंदुस्तान की संस्कृति के जानदार होने के शानदार सबूत मिलेंगे, जो बेशुमार लोगों में फैली और जिसने उन पर असर डाला था। सदियों पहले ईरान से हिंदुस्तान तक संस्कृति की एक विशाल धारा का आना हुआ था। इसके बाद हिंदुस्तान और सुदूर पूर्व, खासतौर से चीन के बीच, लगातार आना-जाना होता रहा। हाल में दक्षिण-पूर्व एशिया में हिंदुस्तान की कला और संस्कृति के जीते-जागते सबूत मिले हैं। संस्कृति की जो धारा अरब से शुरू हुई थी और जो मिली-जुली ईरानी अरबी संस्कृति की शक्ल में पनपी, वह हिंदुस्तान में भी आयी। ये सब धाराएं हमारे यहां आयीं और इन्होंने हम पर असर डाला, लेकिन हिंदुस्तान की अपनी प्रतिभा और संस्कृति इतनी ताकतवर थी कि वह इस धारा में बह नहीं गयी, बल्कि उसने इसे भी अपने में मिला लिया। इस प्रक्रिया में हममें जो भी परिवर्तन आया है और हिंदुस्तान में हम आज जो कुछ हैं, वह सब इन्हीं का एक मिला-जुला रूप है। हिंदुस्तान के लोग एशिया में जहां कहीं भी जाते हैं, वहां जाने पर और वहां के लोगों के साथ मिलने पर एक तरह का भाईचारा महसूस करते हैं।

मैं आपके सामने गुजरे जमाने के बारे में नहीं, बल्कि आज के बारे में कुछ कहना चाहता हूं। हम यहां अपने इतिहास की चर्चा करने के लिए नहीं, बल्कि भविष्य के लिए संपर्क बनाने के लिए इकट्ठा हुए हैं। इस कांफ्रेंस का और इस कांफ्रेंस के पीछे बुनियादी विचारधारा किसी भी महाद्वीप या मुल्क के बारे में हमलावर या खिलाफत का नजरिया नहीं है। जब से इस कांफ्रेंस की खबर विदेशों में फैली, तब से यूरोप और अमेरिका में कुछ लोगों ने यह शक करना शुरू कर दिया कि यह कोई एशियाई आंदोलन है, जो यूरोप या अमेरिका के खिलाफ शुरू किया जा रहा है। हमारे दिलों में किसी के खिलाफ कोई

ख्याल नहीं है। हमारा एक बड़ा मकसद है, यह मकसद सारी दुनिया में शांति और तरक्की को बढ़ावा देना है। हम हाल के बरसों तक पश्चिम के मुल्कों और उनके दूतावासों में नालिश दाखिल करते रहे हैं, लेकिन वह सब अब गुजरे जमाने की बातें हैं। हम अपने पैरों पर खड़े होना चाहते हैं, हम उन सभी के साथ सहयोग करना चाहते हैं, जो हमारे साथ सहयोग करने के लिए तैयार हैं। हम लोगों के मोहरे नहीं बनना चाहते।

दुनिया के इतिहास में इस संकट के वक्त में एशिया को लाजिमी तौर पर एक अहम पार्ट अदा करना है। एशिया के मुल्क अब दूसरे मुल्कों द्वारा मोहरे की तरह इस्तेमाल नहीं किये जा सकते। उन्हें दुनिया के मामलों में लाजिमी तौर पर अपनी पालिसी बनानी होगी। यूरोप और अमेरिका ने इंसान की तरक्की में बहुत बड़ा योगदान दिया है। इसके लिए हमें इनकी तारीफ और इनकी इज्जत करनी चाहिए। हमें इनसे बहुत कुछ सीखना चाहिए। लेकिन पश्चिम के मुल्कों ने हमें अनगिनत लड़ाइयों और झगड़ों में घसीटा है। और एक बड़ी जबरदस्त लड़ाई के बाद भी; इस आणविक युग में जो हमारे सिर पर है, और भी लड़ाईयों की बात करते हैं। इस आणविक युग में शांति की स्थापना के लिए एशिया को कारगर तरीके से काम करना होगा। इसमें कोई शक नहीं कि जब तक एशिया अपनी भूमिका को पूरा नहीं करता, तब तक शांति नहीं आ सकती। आज बहुत-से मुल्कों में झगड़े हो रहे हैं, एशिया में हम भी अपनी मुसीबतों में हैं। फिर भी कुल मिलाकर एशिया में अमन-चैन है, उसका नजरिया भी शांति का नजरिया है। दुनिया के मंच पर विश्व शांति के लिए एशिया के आने से काफी असर पड़ेगा।

शांति तभी आ सकती है, जब मुल्क आजाद हों और जब हर मुल्क में इंसान आजाद हो, वह सुरक्षित हो और उसे तरक्की के मौके हासिल हों। हमें यह याद रखना चाहिए कि एशिया के मुल्क बहुत ही पिछड़े हुए हैं और यहां लोगों के रहन-सहन का दर्जा बेहद नीचा है। इन आर्थिक समस्याओं को तुरंत हल किया जाना चाहिए, नहीं तो हम संकटों और तबाही से घिर जायेंगे। इसलिए हमें आम आदमी के नजरिये से सोचना है और अपने सियासी, सामाजिक और आर्थिक ढांचे को इस तरह बनाना है, जिससे वह बोझ दूर हो जाये, जिसने आदमी को कुचल कर रख दिया है और उसे तरक्की के लिए पूरे साधन मिल सकें।

हम इंसान की जिंदगी में एक ऐसे मोड़ पर आकर खड़े हो गये हैं, जहां एक दुनिया और विश्वसंघ जैसी कोई चीज बहुत ही लाजिमी लगने लगी है, हालांकि इसके रास्ते में बहुत-से खतरे और रुकावटें हैं। हमें इसी मकसद के लिए काम करना है। हमें गुटबंदी के लिए काम नहीं करना है, जो इस विशाल विश्वसंघ के रास्ते में आड़े आती है। इसलिए हम संयुक्त राष्ट्र संघ के ढांचे की ताइद करते हैं, जो बहुत-सी तकलीफें सह कर भी आगे बढ़ रहा है। लेकिन एक विश्व की स्थापना के लिए, हमें एशिया में यह भी सोचना है कि

एशिया के मुल्क इस बड़े मकसद को पूरा करने के लिए आपस में सहयोग करें।

एशिया के मुल्कों को एक-दूसरे के नजदीक लाने की दिशा में यह कांफ्रेंस एक छोटा-सा कदम है। इस कांफ्रेंस का जो भी नतीजा हो, लेकिन इस कांफ्रेंस का होना खुद में बड़ी अहम बात है। बेशक यह मौका इतिहास में अनोखा है क्योंकि इससे पहले कहीं भी इस तरह लोग आपस में नहीं मिले थे। इसलिए इस तरह मिलकर भी हमने काफी कुछ हासिल किया। मुझे कोई शक नहीं कि इस कांफ्रेंस से और भी बड़ी चीजें हासिल होंगी। जब हमारे जमाने का इतिहास लिखा जायेगा, तब उसमें इस कांफ्रेंस का जिक्र एक युग प्रवर्तक घटना के रूप में किया जायेगा, जिसके बाद एशिया का भविष्य लिखना शुरू होता है और उसके अतीत का अध्याय समाप्त होता है। चूंकि हम लोग इतिहास के निर्माण में हिस्सा ले रहे हैं, इसलिए हम बड़ी बड़ी घटनाएं होते देखेंगे...।

हम किसी भी तरह का संकीर्ण राष्ट्रवाद नहीं चाहते। राष्ट्रवाद हर मुल्क के लिए है और इसे बढ़ावा दिया जाना चाहिए। लेकिन हमें इसे किसी भी हालत में आक्रामक और अंतर्राष्ट्रीय विकास में रुकावट नहीं बनने देना चाहिए। एशिया के लोग यूरोप और अमेरिका से दोस्ती के साथ साथ, सताये जा रहे लोगों से भी दोस्ती करना चाहते हैं। अफ्रीका की जनता के प्रति हम एशिया के लोगों की खास जिम्मेदारी है। हमें उनकी मदद करनी चाहिए, जिससे उन्हें मानव परिवार में उचित स्थान हासिल हो सके। हम जिस आजादी की बात करते हैं, वह इस मुल्क या किसी और मुल्क या कुछ खास लोगों तक सीमित नहीं रहेगी, लेकिन यह दुनिया में सारी मानव जाति के लिए होगी। दुनिया में मानव की आजादी का मकसद भी किसी खास वर्ग के अहम होने से नहीं है। इसका मकसद हर जगह आवाम के आजाद होने और उसे तरक्की के लिए हर तरह की सहूलियतें मुहैया होने से है।

इस मौके पर आज एशिया में आजादी के लिए काम करने वाले महान नेताओं, जैसे सून यात सेन, जगलुल पाशा, अतातुर्क कमाल पाशा और दूसरे कई लोगों की याद आती है, जिनको अपने कामों में कामयाबी हासिल हुई। हमें उस महान हस्ती का भी ख्याल आता है, जिसकी मेहनत और प्रेरणा से हिंदुस्तान अपनी आजादी की दहलीज तक आ पहुंचा है, वह है महात्मा गांधी। हमें इस कांफ्रेंस में उनकी नामौजूदगी खटकती है। मुझे फिर भी उम्मीद है कि हमारी इस कांफ्रेंस के खत्म होने के पहले वह हमारे बीच जरूर आयेंगे। वह हिंदुस्तान के आवाम की सेवा में लगे हैं और यह कांफ्रेंस भी उन्हें उनके काम से अलग नहीं कर सकी।

एशिया में हर जगह हम तकलीफों और मुसीबतों के दौर से गुजर रहे हैं। हिंदुस्तान में भी आप संघर्ष और झगड़े पायेंगे। हमें इससे हताश नहीं होना चाहिए। जब कोई बड़ा फेर-बदल होता है, तब ऐसा होना लाजिमी है। एशिया के लोगों में निर्माण करने का हौसला और ताकत है। जनता जाग उठी है और वह अपनी विरासत चाहती है। सारे एशिया में

परिवर्तन की आंधी उठ रही है। हमें इससे डरना नहीं चाहिए, बल्कि हमें इसका स्वागत करना चाहिए क्योंकि हम इनकी मदद से ही अपने सपनों के मुताबिक एशिया का निर्माण कर सकते हैं। हमें इन नयी ताकतों और उस सपने पर भरोसा रखना चाहिए, जो अब शक्ल ले रहा है। आइए, हम इस सबसे बढ़कर उन मानवीय मूल्यों में विश्वास रखें, जिनका सदियों से एशिया प्रतीक रहा है।

6

नागरिक स्वतंत्रता

नागरिक स्वतंत्रता के बारे में

यह पत्र मैं आपको हिंदुस्तान में नागरिक अधिकारों का दमन किये जाने के बारे में लिख रहा हूं। यह दमन धीरे धीरे ज्यादा व्यापक और कठोर होता जा रहा है। यह सब तो हुकूमत के लिए एक आम बात हो गयी है। जैसा कि कहा जा चुका है, 1857 के विद्रोह के बाद नागरिक अधिकारों का इतना दमन कभी नहीं हुआ, जितना कि अब होने लगा है। इस दमन से यह साफ साफ जाहिर है कि इससे न सिर्फ हमारे राजनैतिक जीवन, बल्कि हमारे सामाजिक जीवन और घरेलू जीवन में बहुत ज्यादा हस्तक्षेप हो रहा है। इस बारे में विभिन्न राजनैतिक और दूसरी अन्य संस्थाओं ने भी समय समय पर अपनी खिलाफत जाहिर की है। भले ही बाकी मुद्दों पर हमारी इन संस्थाओं में आपस में सहमति नहीं हो, लेकिन यही वाजिब होगा कि ये संस्थाएं इस बारे में एक-दूसरे का साथ दें, जिससे इस गंभीर सवाल पर मिलकर लड़ाई लड़ी जा सके।

नागरिक अधिकारों का होना हर तरह राष्ट्रीय प्रगति के लिए आमतौर पर जरूरी समझा जाता है, चाहे वह राजनैतिक क्षेत्र में हो, सांस्कृतिक क्षेत्र में, सामाजिक क्षेत्र में और आर्थिक क्षेत्र में ही हो। जिन मुल्कों की बुनियाद लोकतांत्रिक रही है, वहां नागरिक अधिकारों को बहुत ही अहमियत दी जाती है और सभी लोग अपनी स्वतंत्रता और विकास की इस बुनियाद की हिफाजत करने के लिए एक जुट हो जाते हैं और चाहे उनमें आपस में कितनी ही विभिन्नता या खिलाफत क्यों न हो, जाती तौर पर वे जिन विचारों, कामों के खिलाफ होते हैं, उनको व्यक्त करने पर दमन की जब कोई कर्रवाई होती है, तब उसकी मुखालफत करना भी वह अपना फर्ज समझते हैं। इसकी वजह यह समझी जाती है कि जब एक बार इस दमन को स्वीकार कर लिया गया, तब ऐसा ही बाकी मामलों पर भी हो सकता है और यह अक्सर हुआ भी है। अमेरिका, इंग्लैंड और फ्रांस में इस तरह की दखलदांजी का विरोध करने के लिए बड़ी ही ताकतवर सिविल लिबर्टीज यूनियन बनी हुई हैं, जो गैर राजनैतिक हैं और जिनकी कार्रवाइयों के अहम नतीजे हुए हैं। नागरिक अधिकारों की स्वतंत्रता में यकीन रखने वाले सभी वर्ग के लोगों और व्यक्तियों को मिल-जुलकर काम करने की जरूरत अन्य मुल्कों की बनिस्बत हिंदुस्तान में कहीं ज्यादा है।

---

22 अप्रैल, 1936 को प्रमुख व्यक्तियों और समाचार पत्रों को 'इंडियन सिविल लिबर्टीज यूनियन' की स्थापना का प्रस्ताव करते हुए भेजी गयी गश्ती चिट्ठी

इसलिए इंडियन सिविल लिबर्टीज यूनियन बनाने का प्रस्ताव है। इसका काम ही राष्ट्रीय कार्यों के हर क्षेत्र में नागरिक अधिकारों की स्वतंत्रता की रक्षा करना होगा। जो लोग इस बुनियादी बात में यकीन करते हैं, उनके लिए इसका दरवाजा हमेशा खुला रहना चाहिए। इस यूनियन को चाहिए कि वह बाकी राजनैतिक या आर्थिक मसलों में उलझने से बच कर अपना काम करे—। इस यूनियन का पहला काम आंकड़े इकट्ठा करना और इसका प्रचार करना है। नागरिक स्वतंत्रता में इस तरह की दखलंदाजी की मुखालफत करने के लिए जनमत तैयार करने जैसे काम उसके बाद किये जायेंगे।

मैं यह पत्र कुछ ऐसे दोस्तों को भी भेज रहा हूं, जो कांग्रेस से ताल्लुक नहीं रखते। मुझे विश्वास है कि उनकी मदद और उनके सहयोग से दल निरपेक्ष और संप्रदाय निरपेक्ष ऐसी यूनियन बनायी जा सकेगी, जिसका खाका मैंने ऊपर दिया है। इस यूनियन की ठीक ठीक क्या शक्ल होगी और आगे चलकर उसकी क्या कार्रवाईयां होंगी, कुदरती तौर पर यह उन लोगों पर निर्भर करता है, जो इसमें दिलचस्पी रखते हैं और उसमें शरीक होते हैं।

मुझे उम्मीद है कि इस काम में आपका सहयोग मिलेगा, जो राष्ट्रीय महत्व का काम है। कुदरतन इस काम में राजनीतिज्ञों और उन लोगों की दिलचस्पी होगी, जो सार्वजनिक कामों में हाथ-पैर चलाया करते हैं। इसी तरह शिक्षाशास्त्रियों, वकीलों, व्यापारियों, लेखकों और पत्रकारों, मुद्रकों और प्रकाशकों, समाज सुधारकों और उन लोगों की दिलचस्पी होगी, जो किसानों और कारखानों में काम करने वालों की खुशहाली के लिए काम किया करते हैं।

अनुरोध है कि आप इस बारे में अपनी टिप्पणी भेजने की कृपा करें।

बंबई में सिविल लिबर्टीज यूनियन का उद्घाटन

करीब तीन महीने पहले इंडियन सिविल लिबर्टीज यूनियन शुरू करने का विचार हुआ था। तब से इस बारे में मुल्क में सियासी और दूसरे लीडरों में आपस में और साथ साथ अखबारों में विचार-विमर्श हुआ। हिंदुस्तान एक विशाल देश है। यहां जुदा जुदा सवालों पर लोगों की मुख्तलिफ रायें होती हैं। इसलिए सिविल लिबर्टीज यूनियन शुरू करना यकीनन कोई आसान काम नहीं था। लेकिन इसमें कोई शक नहीं था कि इस तरह का एक संगठन शुरू करना निहायत जरूरी है। यह सोचा गया कि किसी चीज को जल्दी में शुरू करने के पहले, इसे धीरे धीरे शुरू करना चाहिए, जिससे संस्था को व्यापक आधार पर शुरू किया जाये और इसका संगठन व्यवस्थित और ठोस होना चाहिए।

इंडियन सिविल लिबर्टीज यूनियन का संविधान अमेरिका की सिविल लिबर्टीज यूनियन और ग्रेट ब्रिटेन की नेशनल सिविल लिबर्टीज यूनियन के आधार पर इस तरह तैयार किया गया है कि यह संगठन आगे भी विकसित हो सके–। मैं नागरिक अधिकारों के दमन के खिलाफ की लड़ाई को आजादी की लड़ाई का एक हिस्सा मानता हूं। यह जरूरी है कि जुदा जुदा सियासी विचारों वाले लोग एकमत हों और एक समान उद्देश्य के लिए काम करें। इस मुल्क में कांग्रेस सबसे बड़ी जमात है। यह कांग्रेस हिंदुस्तान के लोगों की नागरिक स्वतंत्रता के लिए लड़ती रही है। लेकिन बहुत-से ऐसे लोग भी हैं, जो कांग्रेस की नीति और प्रोग्राम से सहमत नहीं हैं, लेकिन नागरिक स्वतंत्रता के छीने जाने के सवाल पर वे भी काफी नाराज हैं। ये दोनों ही तरह के लोग एक-दूसरे के साथ मिल सकते और इस समान उद्देश्य के लिए काम कर सकते हैं........।

कुछ लोग सिविल लिबर्टीज यूनियन में इसलिए शामिल नहीं होना चाहते कि वह गैर सियासी लोग हैं। मेरी समझ में यह नहीं आता कि एक गुलाम मुल्क में कोई अपने को गैर सियासी कैसे कह सकता है। मुमकिन है कि किसी को राजनीति में कोई दिलचस्पी नहीं हो, कोई कलाकार हो, लेखक हो या फिर चित्रकार हो, लेकिन जब तक उसका मुल्क विदेशी हुकूमत का गुलाम है, तब तक वह राजनीति से अलग नहीं रह सकता। मैं उन लोगों की दोस्ती की कद्र करता हूं, जो राजनीति के क्षेत्र में नहीं हैं। इसकी वजह यह है कि इससे मुझे बड़ा संतोष मिलता है और कुछ वक्त के लिए राजनीति वाले लोगों के दायरे

---

24 अगस्त, 1936 को दिये गये एक भाषण से। *दि बाम्बे क्रानिकल* में 25 अगस्त, 1936 को प्रकाशित। *सेलेक्टेड वर्क्स,* वाल्यूम 7, पृष्ठ 425-27 से संकलित

से छुट्टी पा जाता हूं। मान लीजिए कि सविनय अवज्ञा आंदोलन शुरू हो जाता है और इसमें भाग लेने वाले लोग जेल में डाल दिये जाते हैं, तब नागरिक अधिकारों के दमन के खिलाफ लड़ने की जिम्मेदारी उन लोगों की होगी, जो जेलों से बाहर रहेंगे।

इंडियन सिविल लिबर्टीज यूनियन की नेशनल कौंसिल की एक्जीक्यूटिव एक आम नीति तय करेगी, जिस पर यूनियन को आगे काम करना है। काम का ब्यौरा बनाने की जिम्मेदारी स्थानीय कमेटियों की होगी। यह यूनियन कोई ऐसी संस्था नहीं होगी, जिसके सभी लोग सदस्य हों, लेकिन किसी को भी इसका सदस्य बनने की मुमानियत नहीं होगी। यह मुख्तलिफ प्रांतों में नागरिक स्वतंत्रता के दमन की घटना होने पर संपर्क स्थापित करेगी, उसके बारे में सारी सूचना रखेगी और उसे प्रकाशित करेगी, विदेशों में काम करने वाली यूनियनों से संपर्क रखेगी और उनसे सहायता व उनकी सहानुभूति प्राप्त करेगी। यह उन संगठनों से भी संपर्क रखेगी और इन संस्थाओं के माध्यम से विश्व में जनमत तैयार करेगी। ब्रिटिश सरकार को विश्व के जनमत की बड़ी चिंता रहती है। डा. रवीन्द्रनाथ ठाकुर इंडियन यूनियन के अवैतनिक अध्यक्ष हैं। इस पद के लिए इनसे अच्छा व्यक्ति मिलना मुश्किल है। दुनिया भर में उनका बड़ा सम्मान है और उनका अंतर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व है। श्रीमती सरोजिनी नायडू इसकी वास्तविक अध्यक्ष हैं। यह बेहद अच्छा चुनाव है...।

कुछ लोग इस यूनियन में कुछ और वजहों से शामिल नहीं होना चाहते। जब कोई ऐसे व्यक्तियों पर, जो इस यूनियन को शुरू करना चाहते हैं, शक करता है तब मेरा ख्याल है कि उसके बारे में कुछ न कहना ही ठीक होगा। लोग राजनीतिक या दूसरे कई मामलों में चाहे जितना भी आपस में असहमत हों, लेकिन यह लोग अपने नागरिक अधिकारों के लिए लड़ाई लड़ने के लिए आसानी से सहमत हो सकते हैं। किसी ने कहा कि सिविल लिबर्टीज यूनियन शुरू करने से कांग्रेस को और भी ज्यादा ताकत मिल जायेगी। मैंने उसे बताया कि कांग्रेस वैसे ही एक ताकतवर संस्था है, इसकी कई शाखाएं-प्रशाखाएं हैं तथा इसमें कुछ और भी जुड़ेंगी। हमारे मकसद के बारे में शक करना अनुचित है। शिक्षा के बिना नागरिक स्वतंत्रता का कोई मूल्य नहीं। बहुत से लोग सिविल लिबर्टीज यूनियन को कई चीजों के साथ मिला देते हैं और मकसद को उलझा कर रख देते हैं। एक बड़े नेता ने सिविल लिबर्टीज यूनियन में शामिल होने से इसलिए इनकार कर दिया कि मैंने अपनी पुस्तक 'एन आटोबायोग्राफी' में उनकी आलोचना की है। मैं सभी की आलोचना का स्वागत करता हूं। अगर कोई मुझसे सहमत नहीं है तो उसकी स्पष्ट और कठोर से कठोर आलोचना सुनने का हामी रहा हूं। लेकिन यह आलोचना द्वेषपूर्ण नहीं होनी चाहिए और न इसे व्यक्तिगत होना चाहिए। लेकिन अगर कोई कटु आलोचना करे तो उसे व्यक्तिगत आलोचना नहीं समझना चाहिए। हर कोई किसी भी व्यक्ति की कठोर आलोचना कर सकता है और उसका सबसे अच्छा दोस्त भी रह सकता है। सार्वजनिक जीवन के स्वस्थ और लोकतांत्रिक विकास के लिए कठोर और खुलकर आलोचना करना बहुत जरूरी होता है।

अखबारों की आजादी

बी.पी.सी.सी. की एक्जीक्यूटिव कमेटी ने 'युगांतर' अखबार का बायकाट करने के लिए रिजोल्यूशन पास कर यकीनन कोई अच्छा काम नहीं किया। यह तो सरासर एक नासमझी है। 'युगांतर' में किस तरह के लेख और दूसरी चीजें छपती हैं, यह मैं ख़ुद तो नहीं जानता और इसलिए इस बारे में मैं कुछ नहीं कह सकता। लेकिन मैं अखबारों की आजादी का कट्टर समर्थक हूं और यही कहता हूं कि उन्हें अपनी राय जाहिर करने और नीतियों की नुक्ताचीनी करने की पूरी छूट दी जानी चाहिए, जिसका यह मतलब नहीं कि कोई अखबार अनापशनाप की अखबारनवीसी करे, जो हमारे फिरकापरस्त अखबारों की खासियत रही है। मैं तो इस बात पर यकीन करता हूं कि अखबारों की आजादी ही हमारे सार्वजनिक जीवन की बुनियाद होनी चाहिए। इसलिए 'युगांतर' को बायकाट करने की जो यह कार्यवाही हुई है, उसके लिए मुझे बेहद अफसोस है।

मैं भी कहना चाहता हूं कि बंगाल सरकार ने हिंदुस्तान स्टैंडर्ड अखबार वालों को जो यह हुक्म दिया है कि वह छापने से पहले सारा संपादकीय मैटर सेंसर के लिए भेजें, सरकारी ताकत का अजीबोगरीब बेजा इस्तेमाल है। अगर इस तरह की बातों को मान लिया जाय तो अखबारों को आजादी के साथ सपादकीय लिखना बिल्कुल भी मुमकिन नहीं रह जायेगा। तब उनके अग्रलेख उनके अपने न होकर संसरवालों के लिखे हुए होगें। सभी जानते हैं कि जो कुछ सेंसरवाले किसी खास मामले के बारे में लिखते हैं, उसे कोई नहीं पढ़ता। हर एक सरकार को सीधे ही अपनी राय जाहिर करने और उसे जनता के सामने खुले तौर पर रखने का पूरा अधिकार होता है, लेकिन सरकार का अखबारों के संपादकीय कालमों के मार्फत अपनी राय को अप्रत्यक्ष तरीके से प्रचारित करना या अपने कामों की आलोचना को दबाना एक ऐसी बात है, जो किसी भी अखबार क़ो निकालने के काम के लिए बुनियादी तौर पर एक गलत बात मानी गयी है। इस तौहीन के आगे सिर झुका देने या अपनी आत्मा को बेचने के बजाय यह कहीं अच्छा है कि वह कोई संपादकीय छापे ही नहीं। मुझे खुशी है कि हिंदुस्तान स्टैंडर्ड ने यही रास्ता मुनासिब समझा और संपादकीय छापना बंद कर दिया...।

---

4 मार्च, 1940 को 'जर्नलिस्ट एसोसिएशन आफ इंडिया' के प्रेसीडेंट और 'अमृत बाजर पत्रिका' के संपादक तुषार कान्ति घोष को लिखे एक पत्र से। *सेलेक्टेड वर्क्स,* वाल्यूम 11, पृष्ठ 365-68 से संकलित

मशहूर राष्ट्रीय अखबार, जिन्होंने अपनी स्थिति मजबूत कर ली है, काफी हद तक अपनी हिफाजत खुद ही कर सकते हैं। उन्हें कुछ भी होता है तो उस पर जनता का ध्यान जाता है और उन्हें जनता का सहारा मिलता है। छोटे छोटे और ऐसे अखबारों को जिन्हें लोग कम जानते हैं, सरकार की दखलंदाजी अक्सर बरदाश्त करनी पड़ती है, क्योंकि वे मशहूर नहीं होते। जो भी हो, अगर हम अपने छोटे से छोटे और कमजोर से कमजोर अखबारों को सरकार की दखलंदाजी और दमन का शिकार बनने देंगे तो यह खतरनाक बात होगी। इसका इस्तेमाल होने से आदत पड़ जायेगी और धीरे धीरे लोग सरकार से अपने अधिकारों का दुरुपयोग होते देखने के आदी हो जायेंगे। इसलिए जर्नलिस्टों के एसोसिएशन और सभी अखबारों को चाहिए कि वह कम मशहूर अखबारों के साथ भी ऐसा कोई भी सलूक न होने दें। अगर हम यह चाहते हैं कि अखबारों की आजादी बनी रहे, तब हमें चाहिए कि हम इस आजादी की चौकस होकर हिफाजत करें और हर तरह की दखलंदाजी की मुखालफत करें, चाहे कोई भी हो। यह राजनैतिक विचारों या मत-मतांतरों का मामला नहीं है। जब हम किसी भी अखबार के काम में ऐसे दखल के मामले में चुप रह जाते हैं, जिससे हम सहमत नहीं होते हैं, तब हम उसी वक्त सिद्धांत रूप में आत्मसमर्पण कर रहे होते हैं, इसका नतीजा होता है, कि यही हमला जब हम पर होता है, तब हममें मुकाबला करने की ताकत नहीं रह जाती।

अखबारों की आजादी का मतलब यह नहीं है कि हम जिन चीजों को चाहते हैं, उन्हें छपने देते रहें। इस तरह की आजादी तो हर तानाशाही सरकार को मंजूर होगी। नागरिक स्वतंत्रता और अखबारों की आजादी तो इस बात में है कि हम उसे भी छपने दें, जिसे हम नहीं चाहते। अपनी नीतियों के बारे में लोगों की आलोचनाओं को बरदाश्त करें और जनता को अपनी अपनी राय बताने का मौका दें, जो हमारे मकसद के पूरा होने में आड़े ही क्यों न आती हो। इसकी वजह यह है कि जब हम व्यापक हित या अंतिम ध्येय को नजरंदाज कर अस्थायी लाभ चाहने लगते हैं, तब वह हमेशा खतरनाक साबित होता है। अगर हम यह सोचकर भी कोई गलत आदर्श रखें या गलत साधन अपनायें कि इससे हमें अपने मकसद को पूरा होने में मदद मिलेगी तो खुद उन्हीं आदर्शों और साधनों से हमारे मकसद पर असर पड़ता है और पूरा नहीं हो पाता...।

अगर हम जम्हूरियत और आजादी चाहते हैं, तब हमें अपने काम और तौर-तरीकों में इस लक्ष्य का बराबर ध्यान रखना चाहिए। अगर हम अपना काम इस तरह करते हैं कि वह जम्हूरियत और आजादी की भावना के अनुरूप न हो, तब हमारे काम का नतीजा जम्हूरियत और आजादी न होकर कुछ और ही होगा।

ऊंचे ऊंचे आदर्श बनाना सचमुच एक आसान काम है, जो तर्कसंगत हों और जो सुनने में भी अच्छे लगते हों, लेकिन उनको अमल में लाना बहुत मुश्किल होता है, क्योंकि जिंदगी

बहुत तर्कसंगत नहीं होती और इंसान के आचरण का स्तर भी उतना ऊंचा नहीं होता, जितना कि हम चाहते हैं। हम जैसे एक जंगल में रहते हैं, जहां अक्सर अधिकतर लुटेरे व्यक्ति और मुल्क अपनी अपनी मर्जी के मुताबिक कहीं भी घूमते रहते हैं और समाज को नुकसान पहुंचाने की कोशिश में रहते हैं। अनेक तरह के संकट पैदा हों जैसे मुल्क की आजादी के लिए बड़ी व छोटी लड़ाईयां होती हैं, वर्ग संघर्ष होते हैं, तो घटनाओं के सामान्य प्रवाह को उलट-पुलट देते हैं। ऐसी हालत में उन्हीं ऊंचे ऊंचे आदर्शों को अमल में लाना मुश्किल हो जाता है, जो हमारे बनाये होते हैं और जिनमें इंसान के आचरण का एक स्तर निर्धारित किया होता है। संकट के इस वक्त में या क्रांति की अवधि में किसी व्यक्ति या किसी वर्ग की आजादी के बारे में, जो उसे आमतौर पर मिली होती हैं, कुछ हद तक दुबारा विचार करना जरूरी हो जाता हैं।फिर भी ऐसा करना एक खराब बात है। अगर ज्यादा से ज्यादा सावधान नहीं रहा जाये तो इसके बुरे नतीजे हो सकते हैं, वरना हम उसी बुराई के शिकार हो जाते हैं, जिससे हम लड़ रहे होते हैं।

हम जम्हूरियत और आजादी की और साथ ही नागरिक स्वतंत्रता की बात करते हैं, तब हमें बराबर यह याद रखना चाहिए कि इसके साथ जिम्मेदारी और अनुशासन भी जुड़ा हुआ है। सच्ची आजादी तब तक नहीं आ सकती, जब तक व्यक्ति या वर्ग में अनुशासन और जिम्मेदारी की भावना न हो। गुलामी और बंदिशों के बाद जब आजाद होने की स्थिति आती है, तब बदलाव के उस दौर में लोगों का थोड़ा-बहुत झुकाव अधिक से अधिक छूट हासिल करने की ओर होना शायद एक लाजिमी बात है। यह अफसोस की बात तो है, लेकिन इसकी वजह भी बड़ी आसान है क्योंकि यह लंबे अरसे से चले आ रहे दमन की प्रतिक्रिया है...।

हिंदुस्तान में लोगों में बरदाश्त करने की अद्‌भुत ताकत होती है। उसका इतिहास इस बात का जीता-जागता सबूत है। दुनिया में चीन को छोड़कर कोई दूसरा मुल्क नहीं है, जिसका ऐसा रिकार्ड रहा हो। यूरोप और दूसरे मुल्कों में मजहब के नाम पर लड़ाइयां हुई हैं, खून-खराबा हुआ है, लोगों के विचारों को कुचलने की कोशिशें होती रही हैं, लेकिन हिंदुस्तान और चीन ने, जिनके पास लाखों बरसों पुरानी संस्कृति की परंपरा रही है, दूसरे मुल्कों के विचारों और धर्मों के लिए हमेशा से अपने दरवाजे खोल रखे हैं। सहनशीलता और संस्कृति का यह इतिहास हमारे लिए अब एक अमूल्य विरासत है।

आज हमारी भावनाओं को तरह तरह की बातों को लेकर भड़काने की कोशिश की जाती है, जिनका हम पर जबरदस्त असर पड़ता है। हमें उन बातों पर गंभीरतापूर्वक विचार करना चाहिए और क्योंकि इसके नतीजों पर हमारे मुल्क का और दुनिया का भविष्य निर्भर करता है। यह बहुत ठीक बात है कि जो मकसद हमें प्यारा है, उसको पूरा करने के लिए हम अपनी पूरी ताकत लगा दें। लेकिन कोई बात नहीं है कि अपने उन आदर्शों को छोड़

दें या भूल जायें, जो गुजरे जमाने में भारतीय सभ्यता के गौरव रहे हैं और जो कमोबेश कई अर्थों में हमारी जम्हूरियत और आजादी की बुनियाद रहे हैं। सबसे बड़ी बात तो हमें यह करनी चाहिए कि हम आजादी और नागरिक स्वतंत्रता की बात करते वक्त अनुशासन और जिम्मेदारी को हमेशा ध्यान में रखें।

हो सकता है कि मेरे इस पत्र को पढ़ने में अखबारों और जनता की दिलचस्पी हो, इसलिए मेरा सुझाव है कि आप इसे अखबारों में छपने के लिए दे दें।

आपका,
जवाहरलाल नेहरू

कांग्रेस की सरकारें और नागरिक स्वतंत्रता

कांग्रेस ने नागरिक स्वतंत्रता और अपनी अपनी राय बेरोक-टोक जाहिर करने, सबके साथ-मिलने जुलने और स्वतंत्र अखबारों की, किसी भी धर्म या मत को मानने की आजादी पर बार बार जोर दिया है। हमने संकटकालीन विशेषाधिकारों और अध्यादेशों तथा विशेष कानूनों द्वारा हिंदुस्तान की जनता का दमन करने की बार बार निंदा की है। और अपने प्रोग्राम में यह घोषणा की है कि इन अधिकारों और कानूनों को खत्म करने की हम हर संभव कोशिश करेंगे। प्रांतो में हमारी सरकारें बनने से उस नीति में कोई फर्क नहीं पड़ता, बल्कि इसे अमल करने के लिए बहुत कुछ किया भी जा चुका है। सियासी कैदियों को रिहा कर दिया गया है। बहुत-सी संस्थाओं पर जो रोक लगी हुई थी, वह हटाई जा चुकी है और अखबारों को उनकी जमानतें वापस कर दी गयी हैं। इसमें कोई शक नहीं कि अभी कुछ करना बाकी है, लेकिन इसकी वजह यह नहीं है कि कांग्रेस की सरकारें आगे कुछ करना नहीं चाहती हैं, बल्कि कुछ बाहरी अड़चनें हैं। मुझे विश्वास है कि यह काम हम प्रांतों में लागू सभी दमनकारी और असाधारण कानूनों को रद्द कर जल्दी ही पूरा कर लेंगे और अपने वायदे को मुकम्मिल तौर से पूरा कर देंगे। हमें चाहिए कि उन दिक्कतों पर भी पूरा ध्यान दें, जिनके रहते कांग्रेस की सरकारें अपना काम कर रही हैं और उन खराबियों के लिए कांग्रेस के मंत्रियों को दोषी न कहें. जिनके लिए वे जिम्मेदार नहीं हैं।

हमारे लिए नागरिक स्वतंत्रता सिर्फ कोरा सिद्धांत या कल्पना की चीज नहीं है, बल्कि यह एक ऐसी बात है, जिसे हम राष्ट्र के व्यवस्थित विकास और उसको प्रगति के लिए लाजिमी समझते हैं। जिस मसले पर लोगों की रायें अलग अलग होती हैं, उसे हल करने का यह सभ्य या एक अहिंसक तरीका है। जुदा विचारों का जोर-जबरदस्ती कर दमन करना और उनके बोले जाने की इजाजत इसलिए नहीं देना कि वे विचार हमें पसंद नहीं हैं, ठीक वैसी ही बात है जैसे हम अपने विरोधी का सिर यह कह कर मरोड़ दें कि वह हमारी पसंद का नहीं था। इससे लेशमात्र भी सफलता नहीं मिलती।

सिर फूटने पर आदमी तुरंत मर भी सकता है, लेकिन जिस राय या विचार का दमन किया गया है, वह इतनी जल्दी नहीं मरता, यह तब भी बच जाता है और इसे कुचलने

दि लीडर अखबार में 4-6 सितंबर, 1937 को प्रकाशित 'दि राइट पर्सपेक्टिव' शीर्षक लेख से, *सेलेक्टेड वर्क्स,* वाल्यूम 8 में पृ. 311-315 पर पुनः प्रकाशित

की जितनी कोशिश की जाती है, उतना ही इसका प्रचार होता है। इतिहास में ऐसी सैकड़ों घटनाएं मिलती हैं। दीर्घ अनुभव ने हमें यह सिखाया है कि किसी विचार या मत को प्रकट करने से रोकना सत्य की दृष्टि से बड़ा खतरनाक होता है। यह हमें यह भी सिखाता है कि यह सोचना भी बेवकूफी है कि हम ऐसा कर सकते हैं। अगर कोई बात बुरी है तो उसका खुलेआम सामना कर लोगों के दिमाग से दूर करना कहीं ज्यादा अच्छा होगा, बजाय इसके कि उसे भीतर ही भीतर पनपने दिया जाये। बुरी बातें दिन की रोशनी के बजाय रात के अंधेरे में और ज्यादा फैलती हैं।

लेकिन क्या अच्छा है और क्या बुरा, यह भी एक विवाद का विषय है। इसका निर्णय कौन करेगा? ऐसा कभी सुनने में नहीं आया कि दुनिया भर की सरकारें कहीं भी इसका फैसला करने में सक्षम रही हों और सरकारी सेंसर पर किसी का भरोसा नहीं है। मगर सरकारों को बड़ी भारी जिम्मेदारी निबाहनी पड़ती है। जब कोई कार्रवाई करने की बात उठती है, तब वह इस सवाल पर विचार-विमर्श नहीं कर सकतीं। इसलिए इस अधूरी दुनिया में हमें बड़ी बुराई से छोटी बुराई को तरजीह देनी पड़ती है।

हमारे लिए यह सिर्फ उस प्रोग्राम को अमल में लाने का सवाल नहीं है; जिसे हमने मंजूर किया है। इस सवाल के बारे में हमारा सारा नजरिया ही मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मुख्तलिफ होना चाहिए। यह नजरिया पुलिस के सिपाही का नजरिया तो नहीं हो सकता, जो हिंदुस्तान की अंग्रेज सरकार की सबसे बड़ी खासियत रही है। अर्थात जोर-जबरदस्ती, मारपीट और जुल्म-ज्यादती कांग्रेस की सरकारों को जहां तक हो सके, ऐसे तौर तरीकों से बच कर काम करना चाहिए। उन्हें चाहिए कि वह अपने विरोधियों को अपने कामों से और जहां मुमकिन हो व्यक्तिगत स्तर पर विचार-विमर्श कर जीतें। अगर वह अपने उसी आलोचक या अपने विरोधी के विचारों को बदलने में कामयाब न रहे, तब भी उससे उनका विरोध तो हल्का ही पड़ जायेगा और किसी के खिलाफ सरकार की कार्रवाई होने पर उसके बारे में अक्सर जनता की जो हमदर्दी हो जाती है, वह नहीं होने पायेगी। सरकार जनता की हमदर्दी हासिल कर लेगी और एक ऐसा माहौल बन जायेगा कि जो गलत काम करने वालों के खिलाफ होगा।

लेकिन हम इस रवैये और दमनकारी कार्रवाई न करने की इच्छा होने के भी बावजूद ऐसे मौके आ सकते हैं कि कांग्रेस की सरकारें ऐसी कार्रवाई करने से न बच सकें। कोई भी सरकार हिंसा और सांप्रदायिक झगड़े करने के लिए लोगों को उकसाया जाना बरदाश्त नहीं कर सकती। दुर्भाग्यवश अगर ऐसा होता है, तब साधारण कानून की दंडात्मक प्रक्रिया से ऐसी घटनाओं को रोकना ही पड़ेगा। हम तो यह चाहते हैं कि पुलिस की सेंसरशिप या किताबों और अखबारों का जब्त किया जाना बंद किया जाना चाहिए और लोगों को अपने विचार और भावनाओं को प्रकट करने की पूरी छूट दी जानी चाहिए और विदेशों

के प्रगतिशील साहित्य से हमें जो वंचित रखा गया है, वह एक सार्वजनिक कलंक है। हमें इस तरह रोक लगाने व सेंसर की कार्रवाई को हमेशा के लिए बंद कर देना चाहिए और एक ऐसा खुला माहौल बनाना चाहिए कि जिसमें हमारी प्रतिभा का विकास और रचनात्मक शक्ति का उदय हो सके। लेकिन हमें यह याद रखना चाहिए कि कुछ ऐसी किताबें और अखबार भी हो सकते हैं, जो अश्लील हों और जो सांप्रदायिक घृणा और मनमुटाव को बढ़ावा देते हों, तब ऐसी हालत में उनको रोकने के लिए कुछ कार्रवाई करनी जरूरी हो जाती है।

क्या हिंदुस्तान की सुरक्षा इस तरह होगी?

हमारे यहां एक अनोखा कानून है डिफेंस आफ इंडिया एक्ट। यह कानून धीरे धीरे अपने शिकंजे फैलाता जा रहा है। इसलिए हमें यह जानना जरूरी हो जाता है कि यह कानून किस तरह अमल में लाया जाता है और हमारी सरकार का दिमाग हिंदुस्तान की सुरक्षा के बारे में किस तरह काम करता है।

कुछ दिन हुए यू.पी. की पुलिस की स्पेशल ब्रांच ने इलाहाबाद में मैसर्स किताबिस्तान नाम की किताबों की एक दुकान पर छापा मारा था। उसने जुदा जुदा किताबों की 1779 प्रतियां जब्त कर लीं और वह उन्हें अपने साथ ले गयी। इनमें से कई किताबें किताबिस्तान में ही छपी थीं। ये किताबें सोशलिज्म या रूस के बारे में थीं। इनमें से तीन किताबें मशहूर लेखक राल्फ फाक्स की लिखी थीं, जो स्पेन की एक लड़ाई में वालंटियर के तौर पर काम करते मारे गये थे।

जब इसके बारे में पूछताछ की गयी, तब इलाहाबाद के डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट ने बताया कि इनमें से कुछ किताबें जो लंदन से आयी थीं, निषिद्ध साहित्य होने की वजह से जब्त की गयीं, जिसका आयात करने पर हिंदुस्तान की सरकार के तारीख 10 सितंबर, 1932 के नोटीफिकेशन के तहत रोक लगी हुई थी। यह जो वजह बतायी गयी है, बड़ी ही दिलचस्प है। ये किताबें 1932 की लिखी नहीं थी, इसलिए यकीनन इन पर इस नोटीफिकेशन के तहत रोक नहीं लगायी जा सकती थी। उस वक्त जिस चीज पर रोक लगी हुई थी, वह एक खास किस्म का साहित्य था, जिसे निषिद्ध साहित्य कहा गया था। मैं नहीं जानता कि यह निषिद्ध साहित्य क्या होता है, न मैंने उसका कोई सरकारी ब्यौरा ही पढ़ा है। लेकिन जिस तरह की किताबें हाल में जब्त हुई हैं, उनसे पता चलता है कि जो भी किताबें सोशलिज्म और रूस के बारे में हैं, वह सब निषिद्ध साहित्य माना जाता है।

किताबों की अच्छाई-बुराई का ख्याल किये बिना साहित्य की किसी शाखा को पूरा का पूरा निषिद्ध करार कर देना एक अजीब-सी बात है और वह कि उसके विषय अधिकारियों को पसंद नहीं हैं। और भी ज्यादा अजीब बातें सामने आती हैं। जो लागू कानून के अंग हैं, जिन्हें कानून की व्याख्या करनी और सरकार के हुकुम को तामील करना होता है, आमतौर पर उन्हें साहित्य की सभी शाखा की बिल्कुल भी जानकारी नहीं होती और किताबों की

---

26 अप्रैल, 1940 को *नेशनल हेराल्ड* में प्रकाशित लेख, *सेलेक्टेड वर्क्स,* वाल्यूम 11, पृ. 369-70 से संकलित

दुनिया में वह थोड़ा-बहुत कुछ रोमांचकारी और जासूसी किताबें ही पढ़े होते हैं। सेंसरशिप चाहे जैसी भी हो, एक बुरी चीज है। नासमझ पुलिस वालों और दूसरे गैर-जानकार लोगों से यह तय कराना कि कोई क्या पढ़े और क्या न पढ़े, अत्याचार करने का एक सभ्य तरीका है और इसे साधारण से साधारण लोगों पर अपनाया जाता है, जो खुलकर सामने आने की जुर्रत नहीं करते।

एक दूसरी दिलचस्प बात ध्यान देने की यह है कि यह इस नोटीफिकेशन पर 1932 की तारीख पड़ी हुई है, जिन दिनों आखिरी सविनय अवज्ञा आंदोलन पूरे जोर पर था। ऐसा लगता है कि हम लोग उन दिनों की दुनिया में वापस लौट आये हैं, जब जोर-शोर से सरकारी दमन हो रहा था और नागरिक स्वतंत्रता छीनी जा रही थी। लेकिन यह निषिद्ध किताबें हिंदुस्तान में किस तरह लायी और बेची गयीं? ये किताबें खुल्लमखुल्ला डाक के जरिये या पार्सलों में आयीं और सरकार के नोटीफिकेशन के बावजूद कस्टम के अधिकारियों के हाथों गुजरीं। उन्हें बिक्री के लिए दिया गया और वह दरअसल खुले आम सैकड़ों दुकानों पर बेची भी गयीं। क्या यह नोटीफिकेशन इतने दिनों मुल्तवी रखा गया और इसे अब लागू किया जा रहा है। या किसी नये निहायत जहीन शख्स को हाल ही में इस तरह के काम का इंचार्ज बनाया गया है और इस बारे में उसका सोचना उसके अपने से पुराने लोगों की बनिस्बत ज्यादा व्यापक और दूरंदाज नजरिये से है?

इलाहाबाद के डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट आगे फरमाते हैं कि कुछ किताबों में, जो किताबिस्तान ने छापी हैं जिन पर यू.पी. गवर्नमेंट ने 19 जनवरी, 1940 के नोटीफिकेशन के तहत रोक लगा रखी है। यह नोटीफिकेशन डिफेंस आफ इंडिया रूल्स को लागू करता है और ऐसी चीजों को छापने या प्रकाशित करने पर रोक लगाता है, जो किसी ऐसे दस्तावेज से हों जिसे फिलहाल 'सी कस्टम्स एक्ट, 1878' की धारा 19 के तहत ब्रिटिश इंडिया में लाने की मनाही हो।

मैं नहीं जानता कि 'सी कस्टम्स एक्ट' की धारा 19 के तहत क्या मना किया गया है। इस एक्ट के बनाने वालों को सोवियत रूस के बारे में कुछ भी तो नहीं मालूम था और उन्होंने सोशलिज्म या कम्युनिज्म पर शायद ही कभी ध्यान दिया होगा। फिर भी हम यह जानते हैं कि मुल्क में बाहर से किताबों या अखबारों के आने पर रोक लगाने में सरकार ने इस एक्ट का किस तरह से बेजा इस्तेमाल किया है। ऐसा करना तो वैसे ही बुरा था। लेकिन अब इसके क्षेत्र को इतना व्यापक बना दिया गया है कि इसमें हर तरह की छपाई, प्रकाशन, पुनर्मुद्रण और हर किताब या अखबार का बेचना भी शामिल कर दिया गया है। ध्यान देने की बात यह है कि यह किसी निषिद्ध या निर्दिष्ट किताब के बारे में नहीं है, बल्कि किसी भी तरह की किताब के बारे में है, जिसे सरकार पसंद नहीं करती या जिसे स्थानीय पुलिस का अधिकारी ठीक नहीं समझता।

ये कुछ अनोखी बातें हैं। हालांकि मुल्क के सामने और भी अनेक गंभीर मसले हैं। मैं इन बातों की ओर जनता का ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूं। हालांकि यह नागरिक स्वतंत्रता के उल्लंघन का एक बहुत ही गंभीर मामला ही नहीं, बल्कि इंसानों की निहायत ही बेशकीमती विरासत और अधिकारों की जड़ों पर कुठाराघात है। सियासी आदमी होने के नाते मैं इस तरह की कार्रवाई पर एतराज करता हूं, लोकतांत्रिक होने के नाते मैं इसका विरोध करता हूं और एक लेखक होने के नाते मेरी आत्मा पढ़ने-लिखने वालों की दुनिया पर जाहिलों और जालिमों के हमले होते देख बगावत कर उठती है, जिनके हाथ में आज हुकूमत की बागडोर है।

अगर सोशलिज्म और रूस निषिद्ध विषय हैं तो मैं भी निषिद्ध हूं क्योंकि मैं इनके बारे में ही लिखता हूं। किताबिस्तान की बहुत-सी किताबें पुलिस ने जब्त की हैं। इससे उसे भारी नुकसान हुआ है। वह मेरे प्रकाशक हैं। उन्हें मेरी किताबें छापने के पहले सावधान हो जाना चाहिए क्योंकि मैं सोशलिज्म के बारे में आगे भी लिखना चाहता हूं और मेरी पूरी कोशिश होगी कि हिंदुस्तान में समाजवाद की स्थापना हो। मैं चाहता हूं कि सरकार में और आर्थिक मामलों में कुछ बुद्धि, समझदारी और सामाजिक न्याय से काम लिया जाये और मेरे तथा मेरे देशवासियों के लिए आजादी हो।

'आखिरी चिट्ठी'

9 अगस्त, 1933

मेरी दो साल की कैद की मियाद पूरी होने वाली है, इसलिए मैंने इन्हें ठीक वक्त पर खत्म किया। आज से तैंतीस दिनों के बाद मुझे रिहा कर दिया जाना चाहिए। बशर्ते मुझे जल्दी न छोड़ दिया जाये क्योंकि जेलर कभी कभी मुझे जल्दी छोड़ देने की धमकी दे जाता है। मेरी कैद के दो साल अभी पूरे नहीं हुए हैं, लेकिन जिस तरह नेक चाल-चलन वाले कैदियों को सजा में कुछ छूट मिल जाती है, उसी तरह मुझे भी अपनी सजा में साढ़े तीन महीने की छूट मिल गयी है। यह इसलिए कि मैं नेक चाल-चलन वाला कैदी समझा गया हूं, हालांकि इस नेकनामी के लिए मैंने बेशक कुछ नहीं किया है। इस तरह मेरी पूरी सजा भी खत्म होती है और मैं फिर लंबी-चौड़ी और खुली दुनिया में आ जाऊंगा। लेकिन इससे क्या होगा? क्या मकसद पूरा हो जायेगा? मेरे बहुत-से दोस्त, साथी-संगी जेलों में बंद हैं और यह सारा मुल्क एक लंबी-चौड़ी जेल बना दिया गया है।

मैंने कितनी सारी चिट्ठियां लिख डालीं। और मैंने ढेर सारा स्वदेशी कागज ढेर सारी स्वदेशी स्याही से रंग डाला। मैं सोचता हूं कि यह सब क्या ठीक था? क्या यह सब कागज और स्याही तुम्हें कोई ऐसी बात बता सकी, जो तुम्हें पसंद हो? तुम कहोगी, हां, बेशक क्योंकि तुम सोचोगी कि अगर कोई दूसरी बात कही गयी तो उससे मुझे सदमा पहुंचेगा। तुम मेरा बहुत ख्याल रखती हो, इसलिए तुम ऐसा कुछ नहीं कर सकती। इन चिट्ठियों का तुम जैसा चाहो, इस्तेमाल करो। खैर, शायद तुम यह न सोच सको कि इन दो बरसों में मुझे रोजाना इन चिट्ठियों के लिखने में कितनी खुशी होती थी। मैं यहां आया, तब जाड़ा था। जाड़े के बाद थोड़े दिनों के लिए बसंत आया। लेकिन गर्मियां शुरू होने से यह जल्दी ही खत्म हो गया और तब, जब धरती तपने लगी, सूख गयी, आदमी और जानवर हांफने लगे, बरसात की ताजगी और ठंडा पानी लिए मानसून आ गया। इसके बाद शरद

ग्लिम्पसेज आफ वर्ल्ड हिस्ट्री पृष्ठ 984-89 से। जवाहरलाल नेहरू ने 19 अक्तूबर, 1930 से 5 जनवरी, 1931 और उसके बाद 26 दिसंबर, 1931 से 29 अगस्त, 1933 के दौरान जब वह जेल में थे, इन्दिरा नेहरू को निरंतर पत्र लिखे। ये पत्र *ग्लिम्पसेज आफ वर्ल्ड हिस्ट्री* में संकलित हैं, जो 1934 में प्रकाशित हुई।

शुरू हुआ, आसमान बेहद साफ और नीला हो गया। दोपहरी अच्छी लगने लगी। एक बरस का चक्कर पूरा हुआ और फिर शुरू हुआ जाड़ा, बसंत, गरमी और बरसात। मैं यहां बैठा हूं, तुम्हें चिट्ठियां लिखीं और तुम्हारी याद आती रही। एक एक कर मौसम बीतते देखा और बैरक की छत पर बरसात की टप टप की आवाज सुनी।

उन्नीसवीं सदी के एक अंग्रेज राजनेता बेंजामिन डिजराइली ने लिखा है : 'जिन लोगों को जलावतन या जेल की सजा मिलती है, वे अगर बच जाते हैं तो थका थका-सा महसूस करते हैं; लेकिन जो साहित्यकार होते हैं, वे इन दिनों को अपनी जिंदगी की सबसे मीठी घड़ियां समझते हैं।' यह बात उन्होंने सत्रहवीं सदी में हालैंड में हुए एक मशहूर जूरिस्ट और दार्शनिक ह्यूगो ग्रोशियस के बारे में कही है, जिनको जिंदगी भर कैद की सजा मिली थी। लेकिन जो दो बरस बाद ही जेल से भाग गये। ग्रोशियस ने जेल में दो बरस दर्शन और साहित्य की किताबें लिखने में बिताये। ऐसे बहुत-से साहित्यकार हो चुके हैं, जिन्हें लंबी लंबी जेल हुई और जिन्होंने अपना बहुत-सा साहित्य जेल में लिखा है। इनमें दो जो मशहूर हैं, इनमें एक स्पेन के निवासी सर्वान्तेज जिन्होंने 'डान क्वग्जोट' लिखी है और दूसरे हैं 'दि पिल्ग्रिम्स प्रोग्रेस' के अंग्रेज लेखक वान बनियन।

मैं कोई साहित्यकार नहीं हूं और न मैं यह कहने के लिए तैयार हूं कि मैंने जो बहुत साल जेलों में बिताये हैं, वे मेरी जिंदगी के सबसे ज्यादा सुहावने दिन थे। लेकिन मैं यह जरूर कहूंगा कि पढ़ने-लिखने से मुझे दो बरस काटने में बहुत मदद मिली। मैं कोई साहित्यकार नहीं हूं और मैं इतिहासकार भी नहीं हूं, तब सचमुच मैं क्या हूं? इस सवाल का जवाब देना मेरे लिए मुश्किल है। मैंने हर तरफ हाथ-पैर फेंके हैं। मैंने कालेज में साइंस लेकर पढ़ना शुरू किया, इसके बाद कानून में आ गया और इसके बाद जिंदगी में और बहुत-सी बातों की ओर मुड़ा। आखिर में मैंने जेल जाने का पेशा अपना लिया, जो हिंदुस्तान में लोगों को आमतौर पर पसंद था और जो बहुत लोग करते भी थे।

मैंने इन चिट्ठियों में जो कुछ लिखा है, उसे तुम्हें किसी भी विषय पर आखिरी बात नहीं समझनी चाहिए। एक राजनीतिज्ञ हर विषय पर अपनी बात कहना चाहता है और वह हमेशा यही दिखाता है कि उसे उससे कहीं ज्यादा मालूम है, जितना कि वह हकीकत में जानता है। इसलिए उसकी कही बात को मानने से पहले खूब सोच-समझ लेना चाहिए। मेरी इन चिट्ठियों में तुम्हें चंद कुछ ऊपरी बातें भर मिलेंगी, जिन्हें हमेशा महीन धागे से मैंने आपस में जोड़ने की कोशिश की है। मैंने यूं कुछ बातें लिखी हैं, सदियों की और बहुत-सी खास खास घटनाओं को छोड़ता गया हूं और जो बातें मुझे अच्छी लगीं, उन पर कुछ ज्यादा तफसील से लिखा है। जैसा कि तुम देखोगी, इन चिट्ठियों में मेरी पसंदगी और नापसंदगी की काफी झलक मिल जाती है और इसी तरह इस बात की भी कहीं कहीं झलक मिल जाती है कि जेल में मेरा मन कैसे का कैसा हो जाता था। मैं नहीं चाहता कि तुम

इन चिट्ठियों को वैसा का वैसा ही मान लो, मेरे लिखे में बेशक बहुत-सी गलतियां हो सकती हैं। इतिहास की बातों के बारे में लिखने के लिए जेल कोई बहुत मौजूं जगह नहीं होती क्योंकि यहां न तो कोई लाइब्रेरी होती है और न संदर्भ देखने के लिए किताबें ही मुहैया होती हैं। मुझे बहुत कुछ ढेर सारी नोट बुकों का सहारा लेना पड़ा, जो मैंने तब से इकट्ठी कर रखी थीं, जब बारह बरसों से पहले मैंने जेल जाना शुरू किया था। बहुत-सी किताबें मुझे यहां भी मिलीं। वह आयीं और चली गयीं क्योंकि मैं यहां एक लाइब्रेरी नहीं इकट्ठी कर सकता था। मैंने इन किताबों से बिना झिझक तरह तरह के आंकड़े और लोगों की रायें नोट कीं। मैंने जो कुछ लिखा है, उसमें कुछ भी मेरा अपना नहीं है। शायद कहीं कहीं तुम्हें मेरी चिट्ठियां मुश्किल लगें और तुम्हें समझने में मुश्किलाहट हो, इन जगहों को तुम छोड़ देना और इनकी परवाह मत करना। कहीं कहीं उम्र की वजह से मैं कुछ ऐसे ढंग से लिख गया जैसा कि मुझे नहीं करना चाहिए था।

मैंने तुम्हें सिर्फ खाका दिया है। यह कोई इतिहास नहीं है। यह हमारे इतिहास की सिर्फ कुछ झलक है। अगर इतिहास की बातें तुम्हें पसंद हैं, तब तुम खुद ऐसी कई किताबें ढूंढ़ लोगी जो पुराने जमाने की गुत्थियों को सुलझाने में तुम्हारी मदद कर सकें। लेकिन किताबों को पढ़ने भर से बात नहीं बनेगी। अगर तुम बीते जमाने को जान जाओ, तब तुम्हें उन पर गौर से और समझ-बूझ से विचार करना चाहिए। जो इंसान बरसों पहले हुआ हो, उसे समझने के लिए तुम्हें उसके वातावरण को समझना होगा, उन हालात को भी समझना होगा, जिनमें वह रहा और उन ख्यालों को भी समझना होगा, जो उसके दिमाग में पैदा होते थे। पुराने जमाने के लोगों को उस तरह आंकना हमारी बेवकूफी होगी, जैसे वह आज रह रहे हों या वह वैसे ही सोचते थे, जैसे हम आज सोचते हैं। आज कोई भी गुलामी की तरफदारी नहीं करता, लेकिन महान विचारक प्लेटो ने इसे बहुत जरूरी कहा था। गुलामी को बरकरार रखने के लिए अभी हाल में यूनाइटेड स्टेट्स में हजारों लोगों ने अपनी जानें गंवा दीं। हम आज की कसौटी के आधार पर पुराने जमाने को नहीं परख सकते। इस बात को हर कोई खुशी से मंजूर करेगा। लेकिन बेवकूफी की इस आदत को मंजूर नहीं करेगा कि हम पुराने जमाने की कसौटी पर आज के जमाने को परखते रहें। मुख्तलिफ धर्मों ने पुराने विश्वासों, आस्थाओं और रीति-रिवाजों को पत्थर की लकीर बनाने में काफी मदद की है, जो गये गुजरे जमाने में और उन जगहों पर हो सकता है कि कुछ फायदेमंद रहे हों, जहां वह पनपे लेकिन जो हमारे मौजूदा जमाने में बिल्कुल बेमेल बैठते हैं।

इसलिए अगर तुम पुराने इतिहास को सहृदय होकर देखो, तब तुम्हें वह जानदार लगने लगेगा और तुम्हें अपने सामने हर जमाने और ठंडे व गरम इलाकों के नर-नारियों और बच्चों की लंबी-चौड़ी भीड़ दिखाई देगी, जो हालांकि हमसे मुख्तलिफ हैं तो भी हमारे जैसे ही हैं, उनमें वैसी ही खूबियां और कमजोरियां भी हैं। इतिहास कोई जादुई तमाशा नहीं

है, लेकिन जिनके आंखें हैं, उनके लिए इसमें काफी जादू है।

इतिहास हमारे लिए बहुत से तोहफे लेकर आता है, हकीकत तो यह है कि संस्कृति, सभ्यता, विज्ञान या सच्चाई के कुछ पहलुओं की जानकारी की शक्ल में जो कुछ आज हमारे पास है, वह सब काफी पहले के या हाल में बीते जमाने की ही देन है। इसलिए यह ठीक ही तो है कि हम गुजरे जमाने का एहसान मानते हैं। लेकिन इतिहास हमारा फर्ज या जिम्मेदारी पूरी नहीं करता। भविष्य के प्रति हमारा क्या फर्ज है और यह जिम्मेदारी उससे कहीं बड़ी है, जो अपने इतिहास के प्रति हमारी होती है। क्योंकि गुजरा जमाना तो गुजर चुका और खत्म हो गया, हम उसे बदल नहीं सकते। पर आगे का जमाना तो अभी आने वाला है और शायद हम उसे कुछ ढाल सकें। अगर गुजरे जमाने ने हमें सत्य का कुछ हिस्सा दिया है, तब भविष्य भी सत्य के बहुत से पहलुओं को अपने भीतर छिपाये हुए है, वह हमें इन्हें ढूंढ़ने के लिए बुला रहा है, लेकिन गुजरे जमाने को आने वाले वक्त से अक्सर डाह-सी होती है और वह हमें बहुत ही मजबूत शिकंजे में जकड़े रहता है, हमें आने वाले वक्त का सामना करने और उसकी तरफ बढ़ने के लिए गुजरे जमाने से जूझना पड़ता है।

कहा जाता है कि इतिहास हमें बहुत-से सबक सिखाता है। एक और भी कहावत है कि इतिहास अपने आपको कभी नहीं दुहराता। ये दोनों ही बातें सच हैं क्योंकि अगर हम गुलामों की तरह इसकी नकल करने की कोशिश करें या इस उम्मीद पर बैठे रहें कि यह अपने आप दुहरायेगा या इसमें कोई बदल नहीं होगी, तब हम इससे कुछ भी नहीं सीख सकते; लेकिन अगर हम कुछ सीखने के मकसद से इतिहास पर नजर डालें और उनमें उन शक्तियों को खोजने की कोशिश करें जो उसे प्रेरणा देती हैं, तब हम उससे कुछ सीख सकते हैं। लेकिन इतना सब कुछ करने पर भी शायद ही कोई सीधा-सादा जवाब मिले। कार्ल मार्क्स का कहना है : ''इतिहास के पास पुराने सवालों के जवाब देने का बस एक ही तरीका है कि वह हमेशा नये नये सवाल उठाता रहता है।''

पुराना जमाना श्रद्धा, अंधभक्ति और तर्कहीन श्रद्धा का जमाना है। पिछली शताब्दियों में बड़े बड़े और अद्‌भुत मंदिर, मस्जिद और गिरिजाघर बन कर कभी नहीं खड़े हो सकते थे, अगर इनके कारीगरों, मिस्त्रियों और आम लोगों के मन में श्रद्धा नहीं भरी होती। जिन चट्‌टानों को इन्होंने एक के ऊपर एक रख कर भक्तिपूर्वक चुना और बड़ी ही सुंदर बंदिशों में तराशा। वे चट्‌टानें इसी श्रद्धा की सबूत हैं। मंदिरों के ऊंचे ऊंचे शिखर, मस्जिदों की पतली पतली सुर्रियों वाली मीनारें, गाथिक शैली के गिरिजाघर–ये सभी अपूर्व भक्ति के साथ ऊपर की ओर हाथ उठाये कुछ संकेत करते हैं, जैसे ये पत्थर या संगमरमर की कोई चीज आसमान में किसी को पूजा के रूप में भेंट कर रहे हैं। हो सकता है आज हमारे दिलों में वह पुरानी श्रद्धा नहीं हो, जिसके कि ये प्रतीक हैं। उस तरह की श्रद्धा अब नहीं रह

गयी और उसके साथ ही पत्थर में जादुई कशिश भी खत्म हो गयी। आज भी हजारों मंदिर, मस्जिद और गिरिजाघर बनते हैं, लेकिन उनमें वह कशिश नहीं, जिसने मध्य युग में इनमें जान डाल दी थी।

हमारा जमाना एक दूसरी ही किस्म का है। यह तो मोहभंग का, हर बात में शक करने का, अविश्वास का और जमाना बहस का है। अब हम बहुत-से पुराने आचार-विचारों, पुराने रीति-रिवाजों को बदस्तूर नहीं कबूल करते। क्या एशिया, क्या यूरोप और क्या अमेरिका—सभी जगह लोगों का उन पर से यकीन उठ गया है। इसलिए अब हम नये तरीकों, सत्य के लिए पहलुओं की खोज में हैं, जो हमारे चौगिर्द के वातावरण से मेल खाते हों। और इसीलिए हम आपस में एक-दूसरे से सवाल करते हैं, बहस करते और झगड़ते हैं और अनगिनत वाद और फिलासफियां ईजाद करते रहते हैं। सुकरात के जमाने की तरह आज भी हम सवालों के युग में जी रहे हैं, लेकिन सवाल करने की यह आदत एथेन्स जैसे शहर तक महदूद न रह कर सारी दुनिया में फैली हुई है।

दुनिया में बेइंसाफी, गम और हैवानियत देखकर कभी कभी हमें बेहद अफसोस होता है और हमारा मन भर जाता है, कोई रास्ता नहीं नजर आता। मैथ्यू अर्नाल्ड की तरह हम महसूस करने लगते हैं कि इस दुनिया में अब कोई आशा नहीं रह गयी है और हमारे लिए बस एक रास्ता है कि हम एक-दूसरे के साथ सच्चे होकर रहें :

आह,
कल्पना लोक जैसे फैले सुंदर, विविध और नूतन इस संसार में
अब उल्लास, प्रेम और प्रकाश का नाम नहीं
न कहीं निश्चिंतता, न शांति और न कहीं दुखों का अंत
हम बसे हैं मानों किसी तमाच्छादित भूमि पर
जिसमें है कोलाहल और भगदड़
रात रात लड़ती हैं अनजान सेनाएं।

लेकिन अगर हम इस तरह निराश हो जायें, तब हमने जिंदगी का या इतिहास का सही सही सबक नहीं सीखा। क्योंकि इतिहास हमें विकास और तरक्की और इंसान को अनंत प्रगति करने की संभावना की शिक्षा देता है। हालांकि जिंदगी के दौर में हमें कभी कभी सड़ते हुए पानी के तालाब, नरकुलों के झुंड और दलदल मिलती है, लेकिन वहां बड़े बड़े सागर, पहाड़, बर्फ, ग्लेशियर और बेशुमार तारों भरी रातें (खास कर जेल में), परिवार और दोस्तों की मोहब्बत भी है, एक ही मकसद के लिए काम करने वाले साथी हैं, संगीत है, किताबें हैं और ख्यालों की हुकूमत है। इसलिए हम सभी को यह कहना चाहिए—

मैं भूमि पर पला प्रभु मैं भूमि से जन्मा हूं
तो भी पाला है तारों भरे आकाश ने मुझे।

सृष्टि के सौंदर्य की तारीफ करना और विचारों व ख्यालों की दुनिया में रहना आसान है। लेकिन इस तरह दूसरों के रंजो-गम से कतराने की कोशिश करना और इस बात की फिक्र न करना कि दूसरों पर क्या बीतती है, न तो हमारे साहस की निशानी है और न आपसी हमदर्दी की। किसी भाव या विचार के तभी कोई मानी हो सकते हैं, जब उसे अमल में लाया जाये। हमारे एक दोस्त रोम्यां रोलां ने कहा है : "कर्म विचारों का प्रतिफल होता है। जो विचार कर्म में रूपांतरित नहीं होता, वह भ्रूण हत्या है, विश्वासघात है। अगर हम विचारों के दास हैं तो हमें कर्म का भी दास होना चाहिए।"

लोग कर्म करने से कतराते हैं क्योंकि उन्हें उसके अंजामों से डर लगता है, क्योंकि कर्म के मानी हैं जोखिम और खतरा। यह खतरा दूर से बहुत भयंकर लगता है, लेकिन अगर तुम इसे नजदीक से देखो, तब यह उतना बुरा नहीं होता। और कई मरतबा तो यह एक बढ़िया साथी होता है, जो जिंदगी को लज्जत और खुशियां देता है। जिंदगी आमतौर पर कभी कभी नीरस हो जाती है क्योंकि हम यह सोचते हैं कि बहुत-सी बातें अपने आप होती हैं, हमें उनमें कोई मजा नहीं आता। लेकिन अगर हमें जिंदगी की इन्हीं मामूली चीजों के बगैर कुछ दिन रहना पड़े, तब हम उनकी कितनी कद्र करने लगते हैं। बहुत-से लोग ऊंचे ऊंचे पहाड़ों पर चढ़ते हैं, जान जोखिम में डालते हैं, पहाड़ों पर चढ़ाई का मजा लेने के लिए तन-बदन में चोटें खाते हैं, उन्हें मुश्किलों पर विजय हासिल करने और खतरा डाल लेने पर बेहद खुशी होती है। उनके चारों ओर जो खतरा मंडराता रहता है, उसकी वजह से उनकी ज्ञानेन्द्रियां पैनी हो जाती हैं और उस जिंदगी का मजा और गहरा हो जाता है, जो एक धागे के सहारे आसमान में लटकी नजर आती है।

हमें अपनी जिंदगी के बारे में चुनाव करना है। क्या हम नीचे वादियों में रहें, जहां दम घोंटने वाली धुंध और कोहरा छाया हुआ है? लेकिन हमारा तन कुछ सुरक्षित है या ऊपर खुली हवा में सांस लेने के लिए दूर दूर के नजारों का मजा लेने के लिए और अगले सूरज की अगवानी करने के लिए ऊंचे ऊंचे पहाड़ों पर चढ़े, जहां जोखिम और खतरा है।

इस चिट्ठी में तुम्हारे लिए मैंने कवियों और दूसरे बहुत-से लोगों की कई उक्तियां और उद्धरण लिखे हैं। चिट्ठी पूरी करने के पहले मैं तुम्हें एक और उद्धरण देना चाहता हूं। यह रवीन्द्रनाथ की गीतांजलि से है। यह एक कविता है या यूं कहो कि प्रार्थना है :

चित्त जेथा भयशून्य, उच्च जेथा शीर्ष
गैन जेथा मुक्त, जेथा गृहेर प्राचीर
आपोन प्रांगण तले, दिवस शर्वरी

वसुधारे राखे नाहीं, खंड खुद्र करि
जेथा वाक्को हृदयेर उत्स मुख होते
उच्छ शिया उठे, जेथा निर्वारित स्रोते
देशे देशे दिशे दिशे करमो धारा धाम
अजस्त्र सहस्त्र विध चरितार्थ ताये

जेथा तुच्छ आचारेर मरु बालू राशी
विचारेर स्त्रोतः पाथ हेलेनाई ग्रासी
पौरुषेर कारेनी शतधाः नित्त जेथा
तुमि सर्व कर्म चिंता आनंदेर नेता
निज हस्ते निर्दय आघात करि पितः
भारतेरे सेई शर्गे करि जागरित

बेटी, हमारा काम पूरा हो गया और यह आखिरी चिट्ठी पूरी होती है। आखिरी चिट्ठी। नहीं, कभी नहीं। मैं तो तुम्हें न जाने कितनी और चिट्ठियां लिखूंगा, लेकिन यह सिलसिला तो यहीं खत्म होता है, इसलिए तमाम शुद।

यह मूल पाठ *नेवैद्य* नामक संकलन से उद्धृत है। इसका अंग्रेजी रूपांतर *गीतांजलि* में संकलित है

अनुक्रमणिका

मॉडर्न प्रिंटर्स, दिल्ली-110032 द्वारा मुद्रित।